प्रकाशक—

श्रीशालिग्राम "आर्त" साहित्यरत्न श्रीविश्वनाथप्रसाद "शास्त्री"

कोठीवाल देवप्रयाग-गढ़वाल, उत्तर प्रदेश।

प्राप्तिस्थान—

१—चौखम्बा संस्कृत-सीरिज आफिस पो० बा० नं० ८ वाराणसी १।

२—चौखम्बा विद्याभवन पो० बा० नं० ६९ वाराणसी।

३—मोतीलाल बनारसीदास पुस्तक-विक्रेता नैपाली-खपरा वाराणसी।

४—मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स, संस्कृत-बुकडिपो, कचौड़ीगली वाराणसी।

५—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी।

"स्वर्गीय-पूज्यपाद-पिताजी
तथा माताजी की
पुण्यस्मृति में"

परमश्रद्धेय-प्राच्य-पाश्चात्योभय-विद्यापारावार-पारङ्गत-
विद्वद्वर-श्रीयुत-प्रस्तोतामहोदय, वाराणसेय-
संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी का—

शुभाशंसन

"प्राचीन-भारतीय-साहित्य एवं संस्कृति की एक-झलक" नामक इस पुस्तक में श्रीनारायणप्रसाद वलूनी ने प्राचीन-भारतीय-वाङ्मय तथा संस्कृति से सम्बद्ध प्रायः समस्त ज्ञातव्य तथ्यों का संक्षेप में सङ्कलन किया है। इस विषय में इन्होंने उन लोगों के लिए आकर्षक सामग्री उपस्थित की है जो भारतीय-पुरातन-साहित्य, भाषा, लिपि, धर्म, समाज, आचार, व्यवहार इत्यादि के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार लेखक ने भारतीय-साहित्य तथा संस्कृति से सम्बद्ध अधिकाधिक सामग्री को संक्षेप में प्रस्तुत करने में पर्याप्त परिश्रम किया है।

मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक उपर्युक्त विषय के पाठकों को मनोरञ्जक तथा उपादेय सिद्ध होगी और प्रेरणा प्रदान करेगी।

कुबेरनाथ शुक्ल
एम० ए०, व्याकरणाचार्य,
प्रस्तोता-वाराणसेय-संस्कृत-
विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दिनाङ्क ८।११।५८

परमश्रद्धेयानां कविकुलगुरु-साहित्याचार्य-साहित्यवाचस्पति-महा-
महोपाध्यायाद्यनेकोपाधिविभूषितानां भूतपूर्व-वाराणसेय-राज-
कीय-संस्कृत-महाविद्यालयप्रधानाचार्याणां श्रीमतां-
नारायणशास्त्रिखिस्तेमहाभागानां—

शुभाशंसनम्

श्रीमता एम० ए०, साहित्याचार्योपाधिभाजा नारायणप्रसादबलूनी-शर्म्मणा सङ्कलितं सुलिखितञ्च "प्राचीन-भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की एक-झलक"—नामकं पुस्तकमवलोक्य परमं सन्तोषमन्वभवम्।

संस्कृत-एम० ए०, शास्त्रि-प्रभृतिपरीक्षां दातुकामानां विद्यार्थिनां कृते प्रबन्धोऽयं सर्वाङ्गीणं साहाय्यमाचरिष्यतीति मे विश्वासः। पुस्तकस्यास्याध्ययनेन प्राचीन-भारतीय-साहित्यस्य संस्कृतेश्च सम्यग् ज्ञानं भविष्यति। प्राच्य-पाश्चात्यविदुषां मतोपस्थापनपूर्वकं सुलिखितोऽयं ग्रन्थो विद्यार्थिजनानामतीवोपकारक इति पाठ्य-पुस्तकेषु नूनं स्थानमर्हति।

एवं-विधप्रबन्धप्रणयनेनानेन प्राचीन-भारतीय-साहित्यविषये स्वकीया योग्यता सम्यक् प्रकटितेति नवोदितस्यास्य लेखकस्य साफल्यमुत्तरोत्तरग्रन्थनिर्माणवैदुष्यञ्च वर्धिष्यत इत्याशास्ते।

दि० १७।११।१९५८

नारायणशास्त्री खिस्ते

"नम्र-निवेदन"

प्राचीन-भारतीय-साहित्य एवं संस्कृति अपनी प्राचीनता, गौरव एवं व्यापकता के विषय में केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु विश्व में प्रख्यात हैं। यह कथन अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि भारतीय-साहित्य तथा संस्कृति ने ही अज्ञानान्धकार से आच्छन्न विश्व को अपनी दिव्य-प्रभा से आलोकित किया। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचारक नेताओं ने निखिल-भूमण्डल को अपने उपदेशामृत द्वारा अज्ञान-निद्रा से निर्मुक्त कर ज्ञान के मार्ग में प्रवृत्त किया। इस कथन में पूर्ण सत्यता है कि—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥"

इस अत्यन्त प्राचीन, विशाल एवं गौरवान्वित साहित्य एवं संस्कृति के प्रतीक हमारे—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, रामायण, महाभारत, पुराण, जैनों के अङ्ग, बौद्धों के जातक एवं त्रिपिटक, कल्हण-विल्हण-भास-अश्वघोष-कालिदास-बाणभट्ट आदि कविवरों की अमर रचनाये हैं। इन ग्रन्थों के परिशीलन से प्राचीन-भारतीय-साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति के बारे में हमें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है।

प्राचीन-भारतीय-साहित्य एवं संस्कृति पर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अपने भगीरथ-परिश्रम द्वारा बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों का निर्माण कर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक ग्रन्थों के होते हुए भी मैंने आगरा-विश्वविद्यालय की "संस्कृत-एम०-ए०" परीक्षा में अनिवार्य रूप से निर्धारित "प्राचीन-भारतीय-साहित्य एवं संस्कृति" तथा "वेद" वाले (प्रथम—द्वितीय) पत्रों को दृष्टि में रखकर परीक्षार्थियों की सुविधा के लिए संक्षेप में एकत्र सम्पूर्ण अपेक्षित सामग्री का अभाव देखते हुए उनकी कठिनाइयों का निवारण करने की प्रेरणा से प्रेरित होकर इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक में मैंने "प्राचीन-भारतीय-साहित्य" एवं "प्राचीन-भारतीय-संस्कृति" इन दो खण्डों में संक्षिप्त रूप से वैदिक-काल से लेकर गुप्त-काल तक के साहित्य एवं संस्कृति का परीक्षोपयोगी ढंग से विवेचन किया है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में कुछ प्रमुख एवं परीक्षोपयोगी प्राचीन-भारतीय-स्मारकों का भी संक्षेप में उल्लेख किया गया है। इस पुस्तक के निर्माण में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से मुझे सहायता मिली है तथा जिन महानुभावों की प्रेरणा से मैं इस ओर प्रवृत्त हुआ हूँ, उनका मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। यद्यपि पुस्तक के प्रकाशन में जागरूकता के साथ कार्य किया गया है, तथापि मुद्रण में जो कुछ अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ हुई हों उनके लिए मैं पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ। पुस्तक के अन्तिम भाग में मुद्रण में हुई अशुद्धियों के परिमार्जनार्थ शुद्धिपत्र भी दिया गया है। पुस्तक पढ़ने के पूर्व पाठक उसे अवश्य देख लें।

आज स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने प्राचीन-भारतीय-साहित्य, संस्कृति तथा सभ्यता का अध्ययन कर प्राचीन-भारतीय-आदर्शों का अनुसरण करे। इस दिशा में यदि मेरी इस पुस्तक से भारत के भावी-कर्णधारों का कुछ उपकार हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा। इसके अतिरिक्त मुझे आशा ही नहीं विश्वास भी है कि इस पुस्तक का सूक्ष्म-रूप से अध्ययन करने पर किसी भी विश्वविद्यालय में निर्धारित प्राचीन-भारतीय-साहित्य एवं संस्कृति के प्रश्नपत्र के समाधान में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी। विशेष रूप से संस्कृत के छात्रों को संक्षेप में अपने प्राचीन-भारतीय-साहित्य एवं संस्कृति का परिचय कराने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

विदुषामनुचरः—

नारायणप्रसाद बलूनी

साहित्याचार्य, एम० ए०।

विषय-सूची

प्रथम-खण्ड—

(प्राचीन-भारतीय-साहित्य)

द्वितीय-खण्ड—

(प्राचीन-भारतीय-संस्कृति)

विषय — पृ० सं०

प्रथम-खण्ड

"प्राचीन भारतीय साहित्य" ।

इतिहास जानने के साधन

(Sources of History)

उपक्रम—

मोटे तौर पर इतिहास निर्माण के साधनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—साहित्यिक। *२—पुरातत्त्व सम्बन्धी।*

(१) साहित्यिक साधन तीन प्रकार के हैं--अनैतिहासिक साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य तथा अभारतीय साहित्य।

(क) अनैतिहासिक साहित्य—

भारत का प्राचीन साहित्य सर्वथा धार्मिक होने के कारण उसमें शुद्ध इतिहास बहुत कम मिलता है, किन्तु कुछ ग्रन्थों में ऐतिहासिक उल्लेख बिखरे हुए रूप में पाये जाते हैं। इन ग्रन्थों में ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण, तैतरीयब्राह्मण, बौद्धों के त्रिपिटक, जैनों के कुछ अङ्ग—महा-वस्तु—ललितविस्तार, पाणिनि की अष्टाध्यायी, बाराहमिहिर की बृहत्संहिता आदि हैं।

(ख) ऐतिहासिक साहित्य--

इस कोटि में सर्व प्रथम रामायण तथा महाभारत की गणना होती है। यद्यपि नाराशंसीगाथाओं एवं अन्य आख्यानों में इतिहास के बीज पड़ चुके थे तथापि उनका विकशित रूप हमें रामायण एवं महाभारत में ही देखने को मिलता है। इन महाकाव्यों के अनन्तर अष्टादश पुराणों का स्थान है। पुराणों में वर्णित विषय पाँच हैं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥"

इनमें वंशानुचरित ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। पुराणों के अतिरिक्त बाणभट्ट का हर्षचरित, पद्मगुप्त का नवसाहशाङ्क चरित, विह्लण का विक्रमाङ्कदेव-चरित, कह्लण की राजतरङ्गिणी आदि आते हैं।

(ग) अभारतीयसाहित्य—

विभिन्न कालों में भारत में विदेशी यात्री बराबर आते रहे। इनमें से कई लोगों ने अपने यात्रा विवरण लिखे हैं। ये वर्णन एक प्रत्यक्ष-दर्शी के लिखे हुए होने के कारण अत्यन्त विश्वसनीय हैं। इन यात्रियों मे हेरोडोटेस (यूनानी) मैगस्थनीज (यूनानी) एवं चीनी यात्री-फहियान, हेनस्वांग तथा इत्सिङ्ग आदि के यात्रा विवरण मुख्यतया इतिहास के उपयोगी हैं।

(२) पुरातत्त्वसम्बन्धी साधन—

पुरातत्त्व—सम्बन्धी साधन चार प्रकार के हैं—*खुदाई, मुद्रायें, लेख* तथा *वास्तुकला*। भारतीय इतिहास में कई ऐसी समस्यायें हैं जिनका निराकरण साहित्य से नहीं हो सकता। इन समस्याओं के सामाधानार्थ हमे पुरातत्त्व की शरण लेनी पड़ती है। जिसके अन्तर्गत उक्त चार चीजें विशेष महत्त्व की हैं।

(क) खुदाई—

पुरातत्त्वविभाग के तत्त्वावधान में कई स्थानों में जो खुदाइयां हुई हैं वे इतिहास के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ बटाती हैं। जैसे सिन्धु-घाटी की सभ्यता का सारा इतिहास खुदाई से ही जाना गया है।

(ख) मुद्रायें—

खुदाई से प्राप्त मुद्राओं का भी भारतीय इतिहास की जानकारी के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईशा पूर्व दूसरी शताब्दी में जो उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानी राजा हुए उनका सारा का सारा इतिहास उनकी मुद्राओं से ही निर्मित होता है। ये मुद्रायें सोने-चाँदी तांबे एवं शीशे की भी पाई जाती हैं। इन पर राजाओं के नाम, तिथियाँ तथा कई प्रकार के चित्र बने रहते हैं। ये सभी मुद्रायें हमारे इतिहास के लिए उपयोगी हैं।

(ग) लेख—

उत्खनन में कई वस्तुयें मिली हैं जिनमें लेखों का अपना महत्त्व है। लेख किसी राजा के शासनकाल में ही लिखे होने के कारण उस राजा के इतिहास पर प्रकाश डालने के लिए सबसे प्रबल प्रमाण समझे जाते हैं।

(घ) वास्तुकला—

प्राचीन भग्नावशेष–तत्कालीन सामाजिक सभ्यता एवं संस्कृति को समझने में हमारी सहायता करते हैं। प्राचीन कला के अध्ययन करने के लिए यह एक मात्र साधन है। प्राचीन साहित्य को भी इनकी सहायता से भली प्रकार समझा जा सकता है। इनमें अशोक के स्तम्भ, सांची और भरहुत के स्तूप, अजन्ता तथा इलोरा की गुफायें, अनेक नगरों में बने हुए किले, कई प्राचीन मन्दिर, मठ, विहार आदि मुख्य हैं।

वैदिक साहित्य की विभिन्न संहितायें

उपक्रम—

"वेद्" शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ है उत्तम या धार्मिक ज्ञान। अतः "वेद्" कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक आदि की भाँति

किसी एक साहित्यिक रचना का नाम नहीं है, किन्तु वेद उस समस्त वाङ्मय का नाम है जो सहस्रों वर्षों में जाकर ऋषियों द्वारा उपलब्ध हुआ है तथा जो ज्ञान रूप है और चिरकाल तक मौखिक रूप में ही चलता रहा है। यह वैदिक साहित्य संसार में सबसे अधिक प्राचीन तथा उपयोगी साहित्य है।

आर्यों की सभ्यता और संस्कृति, समाज एवं धर्म आदि के जानने का एकमात्र साधन भी वैदिक साहित्य ही है। पाश्चात्य विद्वान् *विएटरनिज* का कहना है कि—"जो मनुष्य वैदिक साहित्य से अपरचित हैं वह भारतीय संस्कृति को नहीं जान सकता। वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति *बौद्ध साहित्य*, जो कि *वैदिक साहित्य* का ही एक नवीन रूप है, को भी नहीं समझ सकता। इतना ही नहीं बल्कि अपनी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को जानने के लिये भी हमे भारतोय वैदिक साहित्य की शरण लेनी पड़ती है।"

विभाग—

वेदों के मुख्यतया दो भाग हैं—(१) *संहिता* और (२) *ब्राह्मण*। मंत्रों के समुदाय का नाम संहिता है और *ब्राह्मण* ग्रन्थों में संहिताओं के संगृहीत मंत्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है। किन्तु मुख्य रूपसे ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्देश्य यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन करना ही रहा है।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन भाग हैं—(१) *ब्राह्मण* (२) *आरण्यक* तथा (३) *उपनिषद्*। इनमें ब्राह्मणों में संहिताओं के मंत्रों की व्याख्या एवं यज्ञों का विस्तृत विवेचन किया गया है। आरण्यकों में यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का वर्णन किया गया है। जङ्गलों में पढ़े जाने के कारण ही सम्भवतः इन्हें आरण्यक कहा जाता है। ब्राह्मण गृहस्थों के लिये उपादेय हैं तो आरण्यकों का निर्माण वानप्रस्थों के लिये ही सम्भवतः हुआ होगा। ब्राह्मणों का तीसरा भाग उपनिषद् है। उपनिषदों से अभिप्राय ब्रह्मविद्या से है।

वैदिक संहितायें एवं उनके निर्माण का प्रयोजन—

वैदिक संहितायें चार हैं—(१) ऋग्वेद या ऋग्वेदसंहिता, (२) यजुर्वेद या यजुर्वेदसंहिता, (३) सामवेद या सामवेदसंहिता तथा (४) अथर्व वेद या अथर्ववेदसंहिता। इन संहिताओं का सङ्कलन यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही *"वेदव्यास"* ने किया है। प्रत्येक यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—*(१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) उद्गाता तथा (४) ब्रह्मा।*

१—यज्ञ के अवसर पर *होता* देवता विशेष की प्रशंसा में मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ उस देवता का आह्वान करता है। अतः होता के लिये जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती है वे सभी मन्त्र *ऋग्वेद-संहिता* में संगृहीत हैं।

२—*अध्वर्यु* का कार्य विधिवत् यज्ञों का सम्पादन करना है। अतः उसके लिये अपेक्षित मन्त्रों का संग्रह *यजुःसंहिता* में है।

३—*उद्गाता* का कार्य यज्ञों में स्वर सहित मन्त्रों का गान करना है। अतः उसके लिये जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती है उनका सङ्कलन *सामवेदसंहिता* में किया गया है।

४—*ब्रह्मा* का कार्य यज्ञों का निरीक्षण करना है, जिससे यज्ञानुष्ठान में कोई त्रुटि न हो। यदि यज्ञ में मन्त्रादि के उच्चारण में कोई त्रुटि हो जाती है और उससे कोई विघ्न होने की सम्भावना होती है तो ब्रह्मा तुरन्त मङ्गलकारी मन्त्रों का उच्चारण करके उस विघ्न का निवारण करता है। इस कार्य के लिये उसे जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती है वे सभी मन्त्र *अथर्ववेदसंहिता* मे संगृहीत हैं।

इस प्रकार ऋत्विजों द्वारा यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों को चार संहिताओं में संगृहीत किया गया है। इन चारों संहिताओं की अपनी-अपनी शाखायें, अपने २ ब्राह्मण, अपने २ आरण्यक तथा अपने-

अपने उपनिषद् हैं जिनका विवरण यथक्रम आगे दिया जा रहा है। वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र तथा ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त किया जाता है। आपस्तम्ब ने अपनी यज्ञ परिभाषा में वेद का लक्षण कहा है—"मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"। "मननान्मन्त्राः"। जिनके द्वारा यज्ञयागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा उनमें निर्दिष्ट देवताओं का वस्तुविधान किया जाता है उन्हें मन्त्र कहते हैं। ब्राह्मण का अभिप्राय ग्रन्थ विशेष से है। इसके तीन भाग हैं— १—ब्राह्मण, २—आरण्यक, तथा ३—उपनिषद्।

ऋग्वेद-संहिता

सामान्यपरिचय—

यह सबसे प्राचीन है, क्योंकि अन्य संहिताओं में इसके अनेक मन्त्र मिलते हैं। इसमें १० मण्डल, १०२८ (मूल १०१७+११ बाल-खिल्य=२०२८) सूक्त, १०५८०¼ मन्त्र हैं। दूसरे से सातवें मण्डल तक का भाग अपेक्षाकृत प्राचीन है। यह होता के लिए उपयोगी है।

वर्ण्यविषय (Subject-Mattar)—

यद्यपि आर्य जाति की प्रेरणा जितनी अनेक मुखी थी, उतनी ही अनेक मुखी होकर वह प्रवाहित भी हुई, तथापि उसमें सर्वत्र धार्मिकता का ही प्राधान्य रहा। यही कारण है कि ऋग्वेद के वर्ण्यविषय में देवताओं का ही वर्णन प्रमुख रूप से पाया जाता है। किन्तु उस वर्णन में उच्चकोटि के साहित्य के भी दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में धार्मिक स्तोत्रों की एक विपुल राशि है जिसमें नाना देवताओं की भिन्न-भिन्न ऋषियों ने बड़े ही सुन्दर ढंग से स्तुति की है। यहाँ प्रकरणवश वैदिक देवताओं का उल्लेख भी आवश्यक है।

देवता (dieties)—

ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता नितान्त प्रसिद्ध हैं—(१) *अग्नि*, (२) *इन्द्र* तथा (३) *वरुण*। *अग्नि* के लिए सबसे अधिक ऋचायें कही गई हैं। यह जन्म से लेकर मरण तक के अखिल संस्कारों में एक रूप से पूज्य माना गया है। इसके प्रति वैदिक ऋषि तथा वैदिक प्रजा विशेष रूप से ऋणी हैं। *इन्द्र*—विजय प्रदाता होने के कारण वीर-रस पूर्ण मन्त्रों द्वारा संस्तुत है। यह अनुष्ठाताओं के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर युद्ध करता है तथा उनके सकल भौतिक ऐश्वर्यों की रक्षा के प्रति उत्तरदायी है। *वरुण*—प्राणियों की हार्दिक भावनाओं को जानने वाला और तदनुसार उन्हें दण्ड एवं पारितोषिक देनेवाला कर्मफल दाता परमेश्वर के रूप में वर्णित है।

देवियों में उषा का स्थान अग्रगण्य है और सर्वाधिक सौन्दर्याभि-व्यञ्जक ऋचायें उषा देवी के विषय में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त-सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य आदि की भी स्तुतियाँ ऋग्वेद में वर्णित हैं। इस प्रकार ऋग्वेद में मुख्य ३३ देवता हैं जिनको यास्क ने तीन भागों में विभक्त किया है—(१) *स्वर्गस्थानीय*, (२) *अन्तरिक्ष-स्थानीय* तथा (३) *भूस्थानीय*।

(१) *स्वर्गस्थानीय*—इनमें द्यौस, वरुण, मित्र, सूर्य, आश्विन, उषा, रात्रि आदि स्वर्गस्थानीय देवता हैं।

(२) *अन्तरिक्षस्थानीय*—इन्द्र, अयानपात, रुद्र, मरुद्गण, वायु, पर्जन्य, आपस आदि अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं।

(३) *भूस्थानीय*—पृथ्वी, अग्नी, सोम, सिन्धु-विपाशा-शतुद्रि आदि कुछ नदियाँ भूस्थानीय देवताओं की कोटि में आते हैं।

बौद्धिक देवता (Abstrect dieties)—

उपरोक्त देवताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी देवता हैं जिनकी उत्पत्ति भाव या मन से हुई है। जैसे प्रजापति, श्रद्धा, त्वष्टा एवं मन्यु

आदि। इनका वर्णन भी इक्की दुक्की ऋचाओं में ऋग्वेद में मिलता है।

युगल देवता—

मित्रावरुण, द्यावापृथ्वी, इन्द्राग्नि, अश्विनीकुमार आदि युगल-देवताओं के रूप में ऋग्वेद में वर्णित हैं। इनके साथ ऋग्वेद में कुछ निम्न कोटि के देवताओं का भी वर्णन मिलता है जो ऋभु, अप्सर तथा गन्धर्व के नाम से प्रसिद्ध हैं। यही वैदिक देवताओं का संक्षिप्त परिचय है।

देवताओं के वर्णन के अलावा ऋग्वेद में दास या दस्युओं का भी वर्णन मिलता है जो सम्भवतः यहाँ के आदि निवासियों, राक्षसों या पिशाचों से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद में असुर का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में असुर शब्द का प्रयोग देवताओं के लिए किया गया है। वरुण को असुर नाम से सम्बोधित किया गया है।

ऋग्वेद में कुछ दूसरी श्रेणी का भी साहित्य मिलता है। जिसमें आख्यान आदि के सूक्त, वेदान्तसम्बन्धीमन्त्र, द्यूतक्रीड़ासम्बन्धी-सूक्त, दानस्तुतियाँ, पहेलियाँ, सम्बाद (जैसे पुरुरवा-ऊर्वशी का सम्बाद, यम-यमी का सम्बाद जो नाटकों के बीज माने जाते हैं), दार्शनिक विचार—(जैसे नासदीयसूक्त आदि), सृष्टि विचार (जैसे पुरुषसूक्त आदि) एवं आयुर्वेद सम्बन्धी सूक्त आदि सम्मिलित हैं।

ऋग्वेद में जो छन्द मिलते है उनका ही विकसित रूप आगामी वैदिक साहित्य में दिखाई देता है। ऋग्वेद के इन छन्दोंवद्ध मन्त्रों में धार्मिक एवं धर्मेतर कविता का अत्यन्त भव्यरूप विद्यमान है, जिसमें से अधिकांश भाग आज लुप्त हो गया है, किन्तु जितना भी आज उपलब्ध है उसी के आधार पर ऋग्वेद की महत्ता समस्त विश्व में व्याप्त है।

ऋग्वेद का महत्त्व एवं विस्तार :—

चारों वेदों मे ऋग्वेद का महत्त्व सबसे अधिक माना जाता है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में ऋग्वेद भाषा तथा भाव के विचार से अन्य वेदों की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय दृष्टि से भी ऋग्वेद की पूजनीयता सर्वत्र स्वीकार की जाती है। इसके मण्डल, सूक्त एवं ऋचाओं की संख्या का उल्लेख आगे किया जा चुका है। ऋग्वेद के *विस्तार* के विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि "यदि ऋग्वेद को गद्य की तरह रोमन लिपि में छापा जाय तो यह ३३ लाइनों के ६०० पृष्ठ भरेगा। यह हिसाब लगाया जा चुका है कि ऋग्वेद होमर के कविता समूह-(Extent Poem) के बराबर ही विस्तार में है।

ऋग्वेद का विभाजन (Division of Rigveda) :—

ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से किया गया है—

(१)—*अष्टकक्रम* और (२)—*मण्डलक्रम*। इनमें प्रथम विभाजन प्राचीन है और दूसरा उसकी अपेक्षा अर्वाचीन एवं अधिक ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक है। पाश्चात्य विद्वान् इसी विभाजन को महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं।

अष्टकक्रम—

इस प्रकार के विभाजन में समग्र ऋग्वेद को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद में ६४ अध्याय है। प्रत्येक अध्याय का अवान्तर विभाग वर्ग कहलाता है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय की संज्ञा है। प्रत्येक वर्ग मे ५ या ६ मन्त्र हैं। समस्त वर्गों की सख्या २००६ है।

२—मण्डलक्रम—

दूसरा विभाग *मण्डलक्रम* कहलाता है। यह विभाग जैसा कि

आगे भी कहा जा चुका है, अधिक महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक माना जाता है। पूरे ऋग्वेद में १० मण्डल हैं। प्रत्येक मण्डल में अनेक अनुवाक हैं। प्रत्येक अनुवाक के अन्तर्गत कई सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त में एक या अनेक मन्त्र हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद मे १० मण्डल, ८५ अनुवाक, १०१७+११=१०२८ सूक्त एवं १०५८०३/४ ऋचायें हैं।

ऋग्वेद का रचनाक्रम—(Arrangement of the Rigveda)

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि ऋग्वेद के मण्डलों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्त्रों का समुदाय संगृहीत किया गया है। इन मण्डलों का संगठन एक समय में न होकर विभिन्न समयों में हुआ है। १० मण्डलों में से ६ मण्डल याने द्वितीय से लेकर सप्तम तक का सम्पूर्ण भाग ऋग्वेद का केन्द्रीय अतएव अत्यन्त प्राचीन अंश हैं। इन ६ मण्डलों में जितने सूक्त हैं उनका सम्बन्ध किसी विशिष्ट ऋषि या उसके वंशजों के साथ निश्चितरूप से उपलब्ध होता है। वे भारतीय परम्परा के अनुसार उसी परिवार के ऋषि द्वारा बनाये या देखे गए हैं जिसने उन्हें अपनी पिछली पीढ़ियों को अपने संग्रह के रूप मे दिया है। उक्त परम्परा का समर्थन—भीतर प्रमाणों, सूक्तों में लिखे गए ऋषियों के नामों तथा प्रत्येक मण्डल में प्राप्त एक प्रकार की टेक से होता है। वंशविशेष से सम्बन्ध होने के कारण इन मण्डलों को *वंशमण्डल* (Family Books) कहा जाता है। इसके विपरीत १, ९ तथा १० वां मण्डल किसी एक ऋषि परिवार द्वारा नहीं बनाये गए हैं बल्कि वे विभिन्न ऋषियों द्वारा रचित सूक्तों के समूह हैं।

नवम-मण्डल तथा अन्य मण्डलों में एक विशेष अन्तर यह है कि इस पूरे मण्डल में एक ही देवता *पवमान* (सोम) सम्बोधित किया गया है। इसीलिए इसे पवमान (सोम) मण्डल कहा जाता है। *आठवां-मण्डल* भी पारिवारिक संग्रह (वंशमण्डल) की तरह ही है जिसको काण्व तथा अङ्गिरा के वंशजों ने बनाया है, किन्तु इसके सूक्त अन्य वंश-

मण्डलों (२—७तक) के सूक्तों की तरह अग्नि से प्रारम्भ नहीं होते साथ ही इसमें *प्रगाथछन्द* की प्रधानता है। इस आठवें मण्डल में सातवें मण्डल से कम सूक्त होने के कारण यह मण्डल एक पारिवारिक संग्रह की इकाई न हो सका, किन्तु इसकी आंशिक समानता के कारण ही इसे पूरे संग्रह (२–७) के अन्त में जोड़ दिया गया।

इस प्रकार सात (२–८) मण्डलों की एक इकाई बन जाने पर उसमें नवम-मण्डल जोड़ दिया गया। २–७ वें मण्डल तक के समान ९ वें मण्डल के सूक्त भी उन्हीं ऋषियों के वंशजो द्वारा बनाये गए हैं जिन्होंने २—७ वें मण्डल तक की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सोम सम्बन्धी सब सूक्त १–८ वें मण्डल में जितने भी थे सबको अलग निकाल कर नवम-मण्डल का निर्माण किया गया जिससे उद्‌गाता को अपने कार्य के लिए मन्त्र चयन में कष्ट न हो। अनुमान किया जाता है कि द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल तक के तैयार हो जाने पर तत्तद् ऋषियों द्वारा दृष्ट सोम विषयक मन्त्रों का संग्रह अलग करके ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया गया। इसके बाद ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में एक-एक (प्रथम तथा दशम) मण्डल जोड़ दिया गया। अतः *प्रथम* तथा *दशम* मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। इनमे भी दशम मण्डल सबसे अर्वाचीन एव अन्तिम परिवर्द्धन है। इसकी भाषा तथा विषय-(नवीन देवताओं के वर्णन, नवीन दार्शनिकतथ्यों की कल्पना एवं छन्द आदि) प्रकट करते हैं कि यह मूलतः अन्य मण्डलों से पीछे का है। इसके रचयिता पूर्व के ९ मण्डलों से परिचित थे। ऋग्वेद के अन्त में इसकी स्थिति इसकी अर्वाचीनता का प्रमुख प्रमाण है। दूसरे में इसके सूक्तों की संख्या १९१ है जो कि प्रथम मण्डल की सूक्त संख्या के ही बराबर है। इसके सूक्त विभिन्न परिवारों के ऋषियों द्वारा रचे गए हैं जिनमें से कुछ दूसरे मण्डलों में भी मिलते हैं।

जहाँ तक भाषा की बात है जैसा कि आगे भी सङ्केत किया गया है, हम दसवें मण्डल में प्राचीन व्याकरण के नियमों तथा शब्दों का

यहाँ अप्रचलित पाते हैं। विषय के विचार से भी रहस्यवादी एवं भावात्मक विचार, दार्शनिक कल्पनायें, ऐन्द्रजालिक विचारों का बाहुल्य जो कि अथर्ववेद के क्षेत्र से सम्बन्धित है प्रचलित पाये जाते हैं।

२ से ७ वाँ मण्डल ही पारिवारिक संग्रह या वंशमण्डल (Family Books) कहे जाते हैं। यह कहा जा चुका है कि इनका सम्बन्ध किसी विशेष ऋषि या उसके परिवार से होने के कारण इन्हें पारिवारिक संग्रह या वंशमण्डल कहा जाता है। इन ऋषिपरिवारों द्वारा रचित मण्डलों में प्रत्येक मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि को सम्बोधित किया गया है। द्वितीय में इन्द्र को तथा अन्य निम्नकोटि के देवताओं को सम्बोधित किया गया है। इन वंशमण्डलों की तीसरी विशेषता यह है कि इनमें प्रत्येक मण्डल के सूक्तों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। ये पारिवारिक संग्रह ही ऋग्वेद का असली स्वरूप है। इनमें बाद में जो परिवर्धन हुये वे इसके आदि और अन्त में जोड़ दिये गये। इन सबसे ऋग्वेद का वह स्वरूप तैयार हुआ जो आज उपलब्ध है।

पारिवारिक संग्रह के रूप में ऋग्वेद का जो असली रूप है उससे ज्ञात होता है कि सबसे पहले प्रथम तथा दशवें मण्डल में से इसमें प्रथम मण्डल का उत्तरार्ध जोड़ा गया है। इसका क्रम भी उसी प्रकार का है जैसा पारिवारिक संग्रह का।

इस प्रकार संक्षेप में ऋग्वेद का रचना क्रम इसप्रकार है कि २ से ७ तक के मूल संग्रह के अन्त में आठवाँ मण्डल जोड़ा गया है। इसके बाद इन आठों मण्डलों में से सोम सम्बन्धी सूक्त निकालकर नवम मण्डल का निर्माण किया गया और तब बाद में आदि तथा अन्त में क्रमशः प्रथम तथा दशवें मण्डल जोड़ दिये गये।

ऋग्वेद और आयुर्वेद—

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। ऋग्वेद में भी आयु-

वेदीय ज्ञान का उल्लेख है। लेखराज की स्त्री विशल्ला की जांघ टूट गई थी उसे अश्विनी कुमारों ने नकली जांघ बनाकर जोड़ दिया था। कत्तीवात की कन्या घोषाके कुष्टरोग को भी दूर करने का वर्णन ऋग्वेद में पाया जाता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११६-११७ वें सूक्तों में अश्विदय के ऐसे कार्यों की एक तालिका दी गई है।

ऋग्वेद से लेकर उत्तरोत्तर बाद के ग्रन्थों में भी आयुर्वेद का उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ *शतपथ*-ब्राह्मण में शरीर की सारी हड्डियों का वर्णन तथा परिगणन किया गया है। इसके अनन्तर *रामायण* में संजीवनी बूटी का सफल प्रयोग लक्ष्मण शक्ति के अवसर पर किया गया है। *महाभारत* में रक्तश्राव को तत्काल रोकने वाली दवाइयों का प्रयोग किया जाता था। *अर्थशास्त्र* में शत्रु पक्ष को अन्धा बनाने के लिए अनुकूल हवा की तरफ से औषधियों को फेंकने की बात कही गई है। *बौद्धकाल* में तो आयुर्वेद का वैज्ञानिक प्रयोग अधिक हो चुका था। *नालन्दा* विश्वविद्यालय में वैद्य-विषय के प्रधानाचार्य *जीवक* आयुर्वेदीय चिकित्सा के बहुत बड़े विशेषज्ञ थे। भगवान् बुद्ध के टूटे हुये हाथ को जीवक ने ही जोड़ा था। *जातककथा* में कहा गया है कि जीवक के पास एक ऐसी लकड़ी थी जिससे भीतर की हड्डी भी दिखाई पड़ती थी। *अर्थशास्त्र* में विषकन्या का प्रयोग बताया गया है। *मुद्राराक्षस* में तो विषकन्या के द्वारा मलयकेतु नाम के एक पात्र की हत्या का उल्लेख पाया जाता है।

चरकसंहिता तो आयुर्वेदका अपूर्व ग्रन्थ है। जिसमें चिकित्सा स्थानों का वर्णन आया है। पश्चिमी विद्वानोंका विटामिन सम्बन्धी वर्गीकरण चरकोक्त(बीस) पदार्थों के बीस गुणों का अव्यवस्थित तथा अस्तव्यस्त विवेचन ही है। *वागभट* का "अष्टाङ्गहृदय" *सुश्रुत* का "सुश्रुत" *माधव* का "माधवनिदान" नाड़ी विज्ञान के असाधारण ग्रन्थ हैं। *अशोक* के समय स्थान स्थान पर औषधालय बनाये गए थे तथा जड़ी बूटियाँ लगवाई गई थीं जो कि विदेशों में भी भेजी जाती थी। *अश्वघोस* ने एक भिक्षु

के भगन्दर को शल्यचिकित्सा द्वारा अच्छा किया था। *जीवक* तो शल्यचिकित्सा के विशेषज्ञ थे। इस समय चीर फाड़ के अस्त्र लोहे के बने होते थे। राजा तथा सम्पन्नों के लिए स्वर्ण तथा रजत के भी अस्त्र बनाये जाते थे। सुश्रुत में मूत्रदोष, शुक्रदोष, योनिदोष आदि विभिन्न रोगों की चिकित्सा का वर्णन मिलता है। व्रणों पर विभिन्न प्रकार की पट्टियाँ बाँधने का भी वर्णन है। प्राचीन काल में आयुर्वेद-विषयक कितने ही ग्रन्थ चीन, तुर्कस्थान आदि देशों में संस्कृत भाषा में लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। यूनानियों ने नाम बदलकर आयुर्वेदीय औषधियों का ही प्रयोग किया है। जैसे फरीद = बूटी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद का मूल श्रोत भी ऋग्वेद ही है। शनैः शनैः इसका विकास होता गया और कालान्तर में यह भी एक उपवेद के नाम से कहा जाने लगा। विदेशियों को भी चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान भारतीयों की ही देन है।

संस्कृत साहित्य में ऋग्वेद के अनन्तर सर्वप्रथम *अथर्ववेद* की सम्मोहन क्रियाओं एवं उसमें आए हुए कौशिक सूत्रों में चिकित्सा सम्बन्धी जड़ी बूटियों के वर्णन के अन्तर्गत हमे आयुर्वेद के दर्शन होते हैं। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग कहा जाता है। *भारत* में इस आयुर्वेद के आठ भाग प्रसिद्ध है (१) शल्य; (२) शाकल्य, (३) कायचिकित्सा, (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतन्त्र, (७) रसायनतन्त्र तथा (८) बाजीकरण।

पातञ्जलि ने वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण आदि के साथ ही वैद्यक की भी गणना करते हुए यह सिद्ध किया है कि यह वैद्यक विद्या हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित थी।

आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश आदि पुरातन ऋषियों के नाम भी इस विद्या से सम्बद्ध थे। आत्रेय को बहुधा-रसायन विद्या का प्रवर्तक बतलाया गया है। चाणक्य को भी आयुर्वेद का विशेषज्ञ एवं आयुर्वेद-

का विशेषज्ञ एवं आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माता माना गया है। बौद्ध भिक्षु *जीवक* जिसका उल्लेख आगे भी किया जा चुका है शिशु-चिकित्सा का विशेषज्ञ था। बौद्धों के *"विनयपिटक"* में भी चिकित्सा संबन्धी वर्णन मिलता है।

आयुर्वेद संबन्धी संहितायें—

१—चरकसंहिता—(प्रथम शताब्दी) कनिष्क के वैद्य चरक द्वारा बनाई गई है। यह आठ भागों में विभक्त है।

२—सुश्रुतसंहिता—इसका संकलन कर्ता *"सुश्रुत"* माना जाता है। यह भी चरक के समान प्रसिद्ध है। यह संहिता छः भागों में विभक्त है।

३—भेड़संहिता—इस संहिता की भी अत्यन्त दोषपूर्ण तथा अप्रामाणिक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई हैं। इसके भी चरक संहिता के समान विभाग किए गए हैं।

उत्तरकालीन ग्रन्थकार—

इनके बाद आयुर्वेद के ग्रन्थकारों में वाग्भट, माधवकर, चक्रपाणिदत्त, भिल्हण, नागार्जुन,वोपदेव,भावमिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की भी पर्याप्त मात्रा उपलब्ध होती है। भारतवर्ष में आयुर्वेद का विकास अत्यन्त प्राचीनकाल में ही हो गया था। यहाँ पर वेदों के बाद कुछ उपवेद रचे गए। चारों वेदों के चार उपवेद बने, जो आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा शिल्पवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सभी उपवेदों में आयुर्वेद सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट का अष्टाङ्ग हृदय ही आयुर्वेद की बृहत्त्रयी के नाम से विख्यात हैं। इनके बाद भी आयुर्वेद पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गए।

कुछ विद्वानों का कहना है कि आयुर्वेद प्रणाली यूनानी चिकित्सा प्रणाली से प्रभावित है क्योंकि दोनों में बहुत कुछ साम्य है। किन्तु डा०

हार्नली इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि बहुत सी जड़ी बूटियाँ यूनानी लोग भारत से ही मँगाते थे। हाँ—धार्मिक भावना के प्राबल्य के कारण भारत में शल्यचिकित्सा का अधिक विकास नहीं हुआ। अन्य चिकित्साओं में तो भारत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

ऋग्वेद में राजनीति—

योंतो साम्राज्य, स्वराज्य, राज्य, महाराज्य आदि शब्द वैदिक साहित्य की ही देन है, किन्तु उसकी सबसे बड़ी देन राष्ट्र शब्द है। जिसमें देश, राज्य, जाति एवं संस्कृति की भावना निहित है। आर्य लोग अपने राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करने में हिचकते नहीं थे। उनकी अभिलाषा थी कि वरुण राष्ट्र को अविचलित करें, बृहस्पति स्थिर करें, इन्द्र सुदृढ़ करें तथा अग्नि निश्चल रूप से धारण करें। आर्यों का यह दृढ़ विश्वास था कि—"राजा राज्यं विरक्षति"। वैदिक साहित्य में प्रजा की संज्ञा विश थी। यह ऋग्वेद के दशम-मंडल तथा अथर्ववेद के ३, ५, ६ सूक्तों से ज्ञात होता है।

राजा या राष्ट्रपति का चुनाव जनमत से होता था। जन्मना राजा बहुत कम होते थे। प्रजा के विरुद्ध आचरण करने वाला राजा पदच्युत किया जाता था। अथर्ववेद के ३-३-६ से विदित होता है कि राष्ट्रसभा के बहुमत से राजा का निर्वाचन होता था। आर्यों की राज्य-सस्था पितामह तन्त्र थी ऐसा पाश्चात्य वेदाभ्यासियों का कथन है। किन्तु वास्तव में पितामह-तन्त्र के प्रचलन का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता।

जनता की प्रत्येक टुकड़ी ग्राम कहलाती थी। बाहरी आक्रमण के समय अनेक ग्राम एकत्रित होकर विपक्षियों का सामना करते थे। इसी एकत्रीकरण का नाम संग्राम पड़ा। बाद में यह संग्राम शब्द युद्ध के अर्थ में रूढ़ हो गया।

इस समय पदाति, रथिक, धनुर्धर आदि सैनिकों की श्रेणियाँ भी थी। योद्धा लोग सोने तथा लोहे का कवच पहनकर युद्ध भूमि में उतरते थे। हाथों में हस्तघ्न एवं पैरों में एक ऐसा ही वर्म धारण किया जाता था। ऋग्वेद के छठे मण्डल के अनुसार आर्यों में आपस में बहुत कम किन्तु दासों तथा दस्युओं के साथ बहुत युद्ध होते थे। दास लोग अनार्य एवं जंगली थे। आर्यों तथा अनार्यों के युद्ध को ही देवासुर संग्राम कहा जाता है। यद्यपि राजा जनमत से ही चुना जाता था, किन्तु कभी कभी उसके उत्तराधिकारी भी जनता की स्वीकृति से राजा बनाये जाते थे।

राजा की सहायता के लिए *समिति* एवं *सभा* नामकी दो संस्थायें होती थीं। समिति का पति ईशान कहलाता था। इसमें ग्रामणी, सारथी, रथकार एवं कर्मकार (शस्त्रकार) अवश्य रहते थे। इस समिति में प्रत्येक ग्राम का तथा सभी वयस्कों का प्रातिनिध्य रहता था। इनके अलावा युद्धार्थ सेनायें रहती थीं जिनका उल्लेख आगे किया जा चुका है। प्रारम्भ में समिति और सभा के अधिकार विस्तृत थे, किन्तु धीरे २ ये संकुचित कर दिये गये और बाद में तो इनका लोप ही हो गया।

राजा के कर्त्तव्य

युद्ध काल में राजा-जाति एवं सेना का नेतृत्त्व करता था। शान्ति के समय बाहरी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करना तथा उनके झगड़ों का निपटारा करना राजा के कर्त्तव्य थे। इस प्रकार संक्षेप में राजा के मुख्य तीन कर्त्तव्य थे—१—सैन्य—सञ्चालन, २—न्यायदान तथा ३—यज्ञ-यागादि कराना।

पुरोहित—

राज कर्मचारियों में पुरोहित का स्थान श्रेष्ठ माना जाता था। वह शान्ति के समय धार्मिक कृत्य-यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान करता था एवं

युद्धकाल में स्वयं सेना के साथ जाकर उसका उत्साह बढ़ाता था तथा राजा की विजय और रक्षा के लिए प्रार्थना भी करता था। उसके मन्त्र-बल पर विश्वास होने के कारण प्रजा उसे मानती थी और संकट के अवसर पर राजा के साथ उसका भी मुँह जोहती थी।

विहथ—

राजा की विहथ नामक एक अलग संस्था भी होती थी जिसका कार्य केवल यज्ञ यागादि धार्मिक कृत्य करना ही था।

अभिषेक के समय पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी, सूतकार, रथकार, कर्मकार (शस्त्रकार) आदि मुख्य राज्याधिकारी उपस्थित होकर राजा को पलाश वृक्ष की एक शाखा देते थे जिसका नाम पर्ण एवं मणि था। यही राज्य की थाती (सांकेतिक चिन्ह) था। मणि प्रदाता रत्नी कहलाते थे। अभिषेक के बाद राजा की पीठ पर दण्ड से हल्की चोट की जाती थी, इसका अभिप्राय यह था कि राजा भी दण्ड से मुक्त नहीं था। ब्राह्मण ग्रन्थों में आठ प्रकार के राज्यों का उल्लेख मिलता है—"स्वस्ति साम्राज्यं-भौज्यं-स्वाराज्यं-वैराज्यं-पारमेष्ठ्यं-राज्यं-महाराज्यं-आधिपत्यमयं समन्तपर्यायै स्यात्सार्वभौमः सर्वायुषः आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायाः एकराडिति।"

वैदिक काल में राजनैतिक विकास की कई सीढ़ियों का उल्लेख वेदों में पाया जाता है। मूल राजनैतिक इकाई कुल या परिवार था। अनेक कुलों के समूह को गोत्र कहते थे। गोत्र से बड़ी इकाई जन और जन से बड़ी विश और सम्पूर्ण विशों से विकसित राष्ट्र था। इस प्रकार आर्य लोग राष्ट्र की कल्पना एवं निर्माण कर सके। किन्तु इस काल में इसका स्वरूप जातीय था। राष्ट्र की कल्पना के बाद साम्राज्य एवं सार्वभौम राज्य की कल्पना एवं स्थापना की गई। संक्षेप में यही वैदिक कालीन राजनीति का या राजनैतिक जीवन का स्वरूप था।

शाखा शब्द का अर्थ—

वेद में शाखा शब्द का अर्थ अध्याय या हिस्सा नहीं है। जैसे कि रामायण के ७ काण्ड और महाभारत के १८ पर्व उनके अवयव हैं। एक-एक काण्ड या पर्व को स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे कांड या पर्व परस्पर सापेक्ष एवं एक दूसरे से अनुबद्ध हैं। अठारह पर्वों या सात काण्डों के समुदाय का नाम महाभारत तथा रामायण है, किन्तु ऋग्वेद की २१ शाखाओं के समुदाय का नाम ऋग्वेद नहीं बल्कि प्रत्येक शाखा स्वतन्त्र रूप से ऋग्वेद है। क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखा की अपेक्षा नहीं रखती, वे अपने में स्वतन्त्र एवं पूर्ण हैं। अतः किसी भी वेद की कोई भी एक शाखा का अध्ययन करने से उस वेद का समग्र अध्ययन माना जाता है। एक शाखा का अर्थ एक वेद है। जिसकी जो शाखा है उसका वही वेद है, यह शास्त्रीय सिद्धान्त है।

वेदों की शाखायें—

ऋग्वेदादि चारों वेदों की भिन्न २ शाखायें हैं। यज्ञ की आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर संकलित संहिताओं का पठन-पाठन अक्षुण्ण बनाये रखने की उदात्त अभिलाषा से व्यास जी ने अपने चार शिष्यों को इन्हें पढ़ाया। *पैल* को ऋग्वेद, *जैमिनी* को सामवेद, *वैशम्पायन* को यजुर्वेद तथा *दारुण-सुमन्तु* मुनि को अथर्ववेद का अध्ययन कराया। इन मुनियों ने अपने गुरु के मुख से अधीत संहिताओं का अपने शिष्य प्रशिष्यों मे खूब प्रचार किया जिसके फलस्वरूप यह वेद-कल्पतरु विविध शाखासम्पन्न बनकर विपुल विस्तार को प्राप्त हुआ है। वेदो की संख्या के सम्बन्ध में *"महाभाष्यकार"* अपने महाभाष्यपस्पशान्हिक में लिखते है—

"एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशति बाह्वृच्यम्, नवधा अथर्वाणो वेदः ॥

उपरोक्त प्रमाण के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१,

सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखायें हैं। इस प्रकार चारों वेदों की समग्र शाखायें ११३१ हैं, किन्तु आज उनमें से केवल १२ शाखायें ही उपलब्ध हैं। शेष शाखायें दैवी प्रकोप या भारतीयों की उपेक्षा से लुप्त हो गई हैं।

ऋग्वेद की शाखायें-ब्राह्मण-आरण्यक तथा उपनिषद्

यद्यपि महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखायें हैं तथापि "*शौनिक*" कथित चरणव्यूह नामक परिशिष्ट ग्रन्थ में ऋग्वेद की पाँच ही शाखाओं का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं १—शाकल, २—बाष्कल, ३—आश्वलायन, ४—साँख्यायन तथा ५—माण्डूक्यायन। ये सब संहितायें विन्ध्य के दक्षिण महाराष्ट्र देश में ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

प्रायः सिद्धान्त तो यह है कि किसी वेद की जितनी शाखायें होंगी उतने ही उसके ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक तथा उपनिषद् भी होंगे, किन्तु इस समय वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग लुप्त हो जाने से समग्र साहित्य उपलब्ध न होने से यह क्रम नहीं रहा है। अब तो यह देखा जाता है कि शाखा किसी सम्प्रदाय की है तो ब्राह्मण-आरण्यक तथा उपनिषद् किसी दूसरे ही सम्प्रदाय विशेष के जोड़ दिये गये हैं। इस समय ऋग्वेद संहिता के केवल दो ब्राह्मण, दो आरण्यक तथा दो उपनिषद् ही उपलब्ध होते हैं। जो निम्नाङ्कित हैं—

ब्राह्मण—१—ऐतरेय ब्राह्मण तथा २—कौषीतकि ब्राह्मण।

आरण्यक—१—ऐतरेय आरण्यक तथा २—कौषीतकि आरण्यक।

उपनिषद्—१—ऐतरेयोपनिषद् तथा २—कौषीतकि उपनिषद्।

सूत्र—इनके अलावा ऋग्वेद से सम्बद्ध अश्वलायन-श्रौतसूत्र भी मिलता है।

ऋग्वेद का समय—(Age of the Rigveda)

ऋग्वेद के समय से अभिप्राय वेदों के काल से ही है। अतः इसका उल्लेख आगे चारों वैदिक संहिताओं के परिचय के बाद किया जायगा।

ऋग्वेद संहिता में संकलित आख्यान साहित्य का स्वरूप एवं प्रयोजन—

ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्यों में सबसे प्राचीन एवं उपयोगी है। इसमें सर्वाधिक देवविषयक प्रार्थनाओं का ही उल्लेख है, जो कि एक विशिष्ट काव्य सामग्री को उपस्थित करता है। किन्तु इसके अलावा इसमें द्वितीय श्रेणी का साहित्य भी मिलता है, जिसके अन्तर्गत यज्ञ या प्रार्थना मन्त्र आदि के सूक्त एवं दार्शनिक विचारों से सम्बद्ध मंत्र हैं। इसी द्वितीय श्रेणी के साहित्य के अन्तर्गत ऋग्वेद का *आख्यान-साहित्य* भी आता है। ऋग्वेद के इस प्रकार के साहित्य से ही उत्तर कालीन नाटकों, वीरगाथात्मक काव्यों, इतिहासों, पुराणों तथा अन्य साहित्यों की सृष्टि हुई। ये सभी *आख्यान* प्रायः कथोपकथन के रूप में मिलते हैं। ऋग्वेद के छन्दोबद्ध होने से इसके अन्तर्गत विद्यमान आख्यानसाहित्य भी छन्दोबद्ध कथोपकथन के रूप में ही पाया जाता है।

मैक्समूलर तथा *लेवी* ने ऋग्वेद के छन्दोबद्ध कथोपकथनात्मक आख्यान साहित्य को नाटकों का बीज कहा है। *हरटेल* आदि विद्वानों ने तो यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये संवाद (आख्यान) तत्कालीन धार्मिक रूपकों के प्रदर्शनार्थ ही लिखे गए थे।

विण्टरनिज महोदय का कहना है कि ऋग्वेद के ये छन्दोबद्ध कथोपकथन केवल नाटकों के ही नहीं अपितु वीरगाथात्मक काव्यों के भी बीज हैं। अतः कहा जा सकता है कि ये आख्यान *नाटक* तथा *वीर-काव्य* दोनों के मूल स्रोत हैं। इसके सिवा इन आख्यानों का उद्देश्य

भारत की प्राचीन संस्कृति, संस्कार, धर्म, इतिहास, सामाजिक-अवस्था तथा नीति आदि का भी प्रचार करना था जैसा कि अधोलिखित आख्यानों से स्पष्ट है।

१—ऋग्वेद के दशम-मण्डल के ९५ वें सूक्त में *पुरुरवा* तथा *ऊर्वशी* का संवाद आया है जो एक प्रसिद्ध आख्यान है। इसमें १८ ऋचायें हैं। यह संवाद उत्तरकालीन ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी मिलता है जहाँ इसे कुछ विस्तृत किया गया है। इस संवाद में ऊर्वशी पुरुरवा की पत्नी बनना स्वीकार करने के पूर्व उससे तीन वचन लेती है जिनमें एक यह भी है कि ऊर्वशी कभी भी पुरुरवा को नग्न न देखने पावे। जिस दिन वह उसे नग्न देखेगी उसी दिन उसे छोड़ कर चली जावेगी। यह संवाद कठक-संहिता, हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, कथासरित्सागर एवं विक्रमोर्वशीय नाटक आदि में भी मिलता है।

२—ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशवे सूक्त में *यम-यमी* का बड़ा ही रोचक संवाद मिलता है। किन्तु इसकी कथा अपूर्ण है। यमी अपने भाई यम से अपने साथ विवाह करने को आग्रह करती हैं किन्तु यम देव-नियमों की ओर संकेत करके उसे अस्वीकार कर देता है। वस्तुतः यह संवाद नाटकीय शैली का सबसे सुन्दर दृष्टान्त है।

३—ऋग्वेद के दशवें मण्डल के ५० वें सूक्त में *सूर्या* तथा *सोम* के वैवाहिक सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। यह सूक्त *सूर्यासूक्त* के नाम से प्रसिद्ध है। सोम के साथ सूर्या का प्राजापत्य विवाह अश्विनी-कुमारों द्वारा कराया जाता है। ऋग्वेद के इस संवाद मे जितने भी मन्त्र आए हैं उनमे वैवाहिक रीति रिवाजों का वर्णन मिलता है।

४—पांचवें मण्डल के कई सूक्तों में *श्यावाश्य* का भी आख्यान मिलता है। श्यावाश्य *राजा—रथवीति* को कन्या से प्रेम करने लगता है। किन्तु रानी उसे किसी आदर्श कवि के साथ व्याहना चाहती है। अन्त में श्यावाश्य स्वयं एक कवि बनकर उसे प्राप्त कर लेता है। इस

संवाद में श्यावाश्य की उक्तियों में पर्याप्त काव्य छटा विद्यमान है। इसी प्रकार का *पौलोमि* का आख्यान भी दशवें मण्डल में मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वोक्त संवादों में *प्रथम संवाद* (आख्यान) भारतीय संस्कृति की आदर्शरूपता, *द्वितीय* हमारे धर्म एवं नियम, *तृतीय* भारतीय रीतिरिवाज तथा *चतुर्थ* हमारे साहित्य की मधुरिमा को प्रकट करते हैं।

इन आख्यानों के अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी कुछ संवाद मिलते हैं जिनको फुटकर आख्यान कहा जा सकता है। इनका विषय लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही हैं। इनमें से *सोमप्रकरण* तथा *द्यूतप्रकरण* विशेष सुन्दर हैं। इनके अलावा ऋग्वेद में दान-स्तुति के भी मन्त्र मिलते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद लौकिक एवं पारलौकिक विषयों का उत्कृष्ट काव्य है। किन्तु इसका अधिकांश भाग आज उपलब्ध नहीं होता। साथ ही इसके सभी आख्यान अधूरे हैं। फिर भी जो कुछ आख्यान-साहित्य ऋग्वेद में विद्यमान है वह अत्यन्त उच्च कोटि का है साथ ही तत्कालीन सामाजिक-रीतियों एवं नैतिक धारणाओं का भी द्योतक है।

भाष्य रचना—

यद्यपि यास्क, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ तथा माधव भट्ट आदि ने भी प्राचीन काल में वेदों पर भाष्य लिखे किन्तु वे पर्याप्त न थे। इसका श्रेय *सायण* को है। आचार्य सायण ने चारों वेदों की संहितायें, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के ऊपर विशद अर्थ प्रतिपादक भाष्य लिखकर वेद मीमांसकों का जो उपकार किया है उसका वर्णन करना असम्भव है। यदि सायण-भाष्य का आलोक उपलब्ध न होता, तो पूरा वैदिक वाङ्मय अन्धतमस में निमग्न रहता और गूढ़ रहस्य समझना एक कठिनतम कार्य हो जाता। वेदों के भाष्य के निर्माण

का समय चतुर्दश शतक का उत्तरार्ध है। विजय नगर के संस्थापक ज्येष्ठ भ्राता *माधवाचार्य*, जो कि विजयनगर के महाराज बुक्क तथा *हरिहर* के आमात्य एवं सेनानी थे, की ही प्रेरणा से *सायण* ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया। इसीलिए इनके भाष्य *"माधवीय"* के नाम से प्रख्यात हैं।

सायण का महत्त्व—

वेदों का भाष्य करने में सायण ने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया तथा उसके समर्थन में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से प्रमाणों को उद्धृत किया है। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होने *व्याकरण* की खूब छानबीन की है। *निरुक्त* का भी उपयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। यास्क के द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने तत्तत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय उसी रूप में लिख दिया है। अन्य प्राचीन आचार्यों के अर्थ को भी सायण ने यथावसर ग्रहण किया है। *कल्पसूत्रों* का प्रयोग भी यज्ञ-विधान से विशेष परिचित होने के कारण सायण ने खूब किया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश सुन्दर एवं बोधगम्य भाषा में सायण ने किया है। इन्हीं सब कारणों से सायण के चारों वेदों के भाष्य गौरवान्वित हैं। याज्ञिक पद्धति को भी जो उस समय आवश्यक थी सायण ने अपने भाष्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

यदि सायण-भाष्य न होता तो वेदार्थ के अनुशीलन को दशा नितान्त दयनीय होती। ऐतिहासिक पद्धति के अनुयायी यूरोपियन विद्वान् भाषाशास्त्र की मनमानी व्युत्पत्ति के आधार पर जब एक ही शब्द के अनेक विरुद्ध अर्थ करने पर तुले हुए हैं, तब परम्परागत अर्थ के पोषक सायण के सिवा किसे हम अपना आश्रय माने। पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों के समझने का जो प्रयत्न किया है वह सायण की ही अनुकम्पा है। छिटपुट शब्दों के अर्थों में यत्किञ्चित् विरोधाभास

दिखा कर सायण की मजाक उड़ाना दूसरी चीज है, किन्तु वास्तव में संहितापञ्चक के ऊपर इतना सुव्यवस्थित, उपादेय एवं पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखना आसान नहीं। इस कार्य के महत्व को यथार्थ रूप से पण्डित लोग ही समझ सकते हैं।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि सायण-भाष्य सर्वथा निर्दोष है, क्योंकि किसी भी मानवीय कृति में कुछ न कुछ दोष होना स्वाभाविक है, किन्तु पूरे भाष्य की आलोचना करने पर यह कहना असंगत न होगा कि सम्प्रदाय के यथार्थ ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेद-भाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुञ्जी है।

परम हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य अनुसंधानकर्ता *विल्सन, मैक्स-मूलर* आदि का भी भाव इधर परिवर्तित होने लगा है और अब वे सायण-भाष्य की उपेक्षा करने के बजाय उसका समादर करने लगे हैं। अब भाषाशास्त्र आदि आवश्यक साधनों के आधार पर सायण के अर्थ की सत्यता का विद्वानों को पता लगने लगा है। इसलिए हम कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्य विशेषतः वैदिक-साहित्य के क्षेत्र में सायण की भारतीयों को अपूर्व देन है।

ऋग्वेद की भाषा—(Language of Rigveda)

ऋग्वेद के सूक्त उस साहित्यिक भाषा की सबसे प्रारम्भिक अवस्था में लिखे गए हैं जिसकी पिछली अवस्था क्लासिकल संस्कृत ई॰पू॰ चौथी सदी में पाणिनि द्वारा दृढ़ करदी गई है। यह संस्कृत बाद की संस्कृत से उतना ही भिन्न है जितनी होमर की ग्रीक से एटिक ग्रीक भिन्न है।

यह (वैदिक-संस्कृत) *संस्कृत* (आधुनिक संस्कृत) की अपेक्षा स्वरूप में बहुत अधिक अनेकरूपता रखती है। इसके कारक के रूप, संज्ञा और सुबन्त एवं तिङन्त की विभक्तियां अपेक्षाकृत अधिक संख्यात्मक हैं। इसमें कृदन्त (Participles) और विभक्त्यन्त-

(Gerands) रूप अधिक हैं। ये क्रिया के रूप में अधिक हैं जो कि इस भाषा की तुलनात्मक समृद्धि को अधिक स्पष्ट करते हैं। साथ ही ऋग्वेद में संभावनात्मक (Subjenctive = लेटलकारके) प्रयोग अधिक किए गए हैं जो आधुनिक सस्कृत में अव्यवहृत हो चुके हैं।

वैदिक भाषा में असमापक (Infinitive) क्रिया के १२ भेद प्रयुक्त हैं जब कि संस्कृत में केवल एक ही रूप। ऋग्वेद की भाषा उच्चारण (विराम-पद्धति) के विचार से भी संस्कृत से भिन्न है। ऋग्वेद का उच्चारण प्राचीन ग्रीक की तरह संगीतात्मक प्रकृतिका है और वाणी के उतार चढ़ाव (Voice) पर निर्भर है। यह उच्चारण समस्त सूक्तों में चिन्हित है। यह उच्चारण संस्कृत में एक दबाव (Stress) विराम तक ही परिवर्तित नहीं है बल्कि परिमाण पर निर्भर होकर स्थानान्तरित भी हो गया है साथ ही अधिक दूर तक चिन्हित भी नहीं। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में वैदिक विराम एक महत्त्वपूर्ण स्थिति रखते हैं जब कि संस्कृत में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

ऋग्वेद की संधि भी संस्कृत की अपेक्षा बहुत प्राचीन तथा क्रमपरम्परागतअवस्था का प्रतिनिधित्त्व करती है। ऋग्वेद में अन्तिम "न" तथा "अ" का उच्चारण दांत तथा तालु से उन स्थानों पर निषिद्ध है जहां इतिहास की दृष्टि से ऐसा करना न्यायोचित है। यह संस्कृत में साधारणतया अधिक प्रयुक्त होता है, वहाँ भी जहाँ कि इतिहास की दृष्टि से उचित नहीं। "ए" तथा "ओ" से परे "अ" का ऋग्वेद में प्रायः उच्चारण होता है, जबकि संस्कृत में उसका लोप हो जाता है। इस तरह यह निश्चित है कि कोई भी विद्यार्थी इतिहास के विचार से ऋग्वेद को समझे विना क्लासिकऊ संस्कृत को समझ नहीं सकता।

छन्द (Metre)

छन्द वेद का पांचवां अङ्ग है। वेद के मन्त्रोंके उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान आवश्यक है। विना छन्दों के ज्ञान के मन्त्रों का उच्चारण

तथा पाठ ठीक ढंग से नहीं हो सकता। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि तथा छन्द का ज्ञान आवश्यक माना गया है।

प्रधान छन्दों के नाम संहिता तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इस अङ्ग की उत्पत्ति वैदिक युग में हुई होगी। इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ पिङ्गलाचार्य कृत "छन्दसूत्र" है। वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। कृष्णयजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कतिपय भाग में गद्य का भी प्रयोग है। इन अंशो को छोड़ कर समग्र वैदिक संहितायें छन्दोवद्ध ही हैं। ऋग्वेद तथा सामवेद के समस्त मन्त्र छन्दोवद्ध हैं।

पाणिनीय शिक्षा का कहना है "छन्दः पादौ तु वेदस्य" छन्द वेद के पाद हैं। छन्द के आधार के बिना वेद लंगड़ाने लगता है। वैदिक छन्दों की विशेषता यही है कि वे अक्षर गणना पर नियत रहते हैं। अर्थात् इनमें अक्षरों के गुरु लघु के क्रम का कोई विशेष नियम नहीं है। वैदिक छन्दों से ही लौकिक छन्दों का आविर्भाव हुआ है। उदाहरणार्थ वैदिक अनुष्टुप से बालमीकि जी द्वारा लौकिक अनुष्टुप छन्द का, वैदिक त्रिष्टुप से एकादशाक्षरात्मक छन्दों का विशेषतः इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उदय हुआ। जगती से लौकिक द्वादशाक्षर वंशस्थ छन्द आदि की तथा शक्वरी से वसन्ततिलका की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार अन्य लौकिक छन्दों का उदय भी वैदिक छन्दों से ही हुआ।

लौकिक छन्दों में चार ही चरण होते हैं, किन्तु वैदिक छन्दों में यह नियम नहीं है। यों तो वेदों में एक तथा दो पाद वाले छन्द भी मिलते हैं तथापि तीन पाद वाले छन्दों का वेदों में प्राचुर्य है। गायत्री तथा उष्णिक छन्द तीन पाद के ही होते हैं। पंक्ति छन्द पांच पादों का होता है।

ऋग्वेद के सूक्त निस्सन्देह छन्दात्मक हैं। सूक्त औसतन १० ऋचाओं वाले होते हैं। प्रत्येक ऋचा में प्रायः चार चरण होते हैं किन्तु कोई कोई

ऋचायें तीन तथा पांच चरण (पाद) वाली भी हैं। पंक्तियों में जिन्हें चरण या पाद कहते हैं और जो छन्द की इकाई बनाते हैं ८,११ या १२ Syllables-(एक साथ उच्चारण किये जाने वाले अक्षर) होते हैं। नियमतः एक ऋचा की पंक्तियाँ एक ही तरह की होती हैं, किन्तु कहीं २ एक ही ऋचा की पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की भी होती हैं। ये ऋचायें छन्दोंवद्ध होती हैं। प्रधान वैदिक छंदों की संख्या यद्यपि १५ है किन्तु इनमें प्रचलित छन्द ७ ही हैं। प्रधान वैदिक छन्दों के नाम, अक्षर, पाद आदिका विवरण निम्नाङ्कित है—

नाम—अक्षरयोग—पाद-संख्या एवं प्रत्येक पाद के अक्षर ।

१-गायत्री—२४—	प्र० ८ अक्षर	द्वि० ८ अ०	तृ० ८ अ०	
२-उष्णिक—२८—	,, ८ ,,	,, ८ ,,	,, १२ ,,	
३-पुरउष्णिक-२८—	,, १२ ,,	,, ८ ,,	,, ८ ,,	
४-कुकुप—२८—	,, ८ ,,	,, १२ ,,	,, ८ ,,	
५-अनुष्टुप्—३२—	प्र० ८ ,,	द्वि० ८ ,,	तृ० ८ ,,	च० ८ अ०
६-वृहती— ३६—	,, ८ ,,	,, ८ ,,	,, १२ ,,	,, ८ ,,
७-सतोवृहती ४०—	,, १२ ,,	,, ८ ,,	,, १२ ,,	,, ८ ,,
८-पंक्ति— ४०—	,, १२ ,,	,, १२ ,,	,, ८ ,,	,, ८ ,,
९-प्रस्तारपंक्ति-४०—	,, १२ ,,	,, १२ ,,	,, ८ ,,	,, ८ ,,
१०-त्रिष्टुप्—४४—	,, ११ ,,	,, ११ ,,	,, ११ ,,	,, ११ ,,
११-जगती—४८—	,, १२ ,,	,, १२ ,,	,, १२ ,,	,, १२ ,,

१२-निचृद्गायत्री-२३—इसके तीन पाद तथा २३ अक्षर होते हैं।
१३-भूरिग्गायत्री-२५— ,, ,, ,, ,, २५ ,, ,, ,,
१४-विराटगायत्री-२२— ,, ,, ,, ,, २२ ,, ,, ,,
१५-स्वराटगायत्री-२६— ,, ,, ,, ,, २६ ,, ,, ,,

ये १५ वैदिक प्रधान छन्द हैं। इनके अतिरिक्त भी वैदिक छन्दों के अवान्तर भेद होते हैं। तथापि कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार

ऋग्वेद में केवल ७ छन्दों का ही प्रयोग है तथा ये ही छन्द अधिक प्रचलित भी हैं—

१–गायत्री, २–उष्णिक, ३–अनुष्टुप् , ४–वृहती, ५–पंक्ति, ६–त्रिष्टुप् तथा ७–जगती। इनमें भी ऋग्वेद में सबसे प्रचलित छन्द *त्रिष्टुप्* है जिसमें ऋचाओं का द्वितीय पञ्चमांश (४ × ११) निवद्ध है। इसके बाद *गायत्री* का नम्बर है। इसमें ऋग्वेद का लगभग चतुर्थअंश (३ × ८) लिखित है। तीसरा नम्बर *जगती* का है। इसमें भी ऋग्वेदका ४ × १२ अंश लिखित है। इस प्रकार *त्रिष्टुप्* , *गायत्री* तथा *जगती* ये ही तीन वैदिक-संहिताओं के महत्त्वपूर्ण एवं जनप्रिय छन्द हैं।

वैदिक छन्द जो कि क्लासिकल संस्कृत छन्दों के आधार हैं इनमें से दो को छोड़कर सबका ताल (Rhythm) परिमाणात्मक है, जिनमें छोटे तथा बड़े Syllables (एक साथ उच्चारण किए जाने वाले अक्षर) एकान्तर से और साधारण तया Iambic Type(पद्य में एक लघु तथा एक गुरु अक्षर वाला पद) के हैं। इस ताल का पता केवल पंक्ति के अन्तिम चार या पांच Syllables में ठीक से मालूम होता है और ११ या१२ सिलेवलस की पंक्तियों में उसी प्रकार यति (Ceasure)होती है।

वैदिक छन्द अपने ढांचे में भारत इरानी युग की लगभग आधी विशेषताओं से युक्त हैं। ईरानी युग की विशेषता यह है कि उसमें केवल सिलेवलस के उतार चढ़ाव की ही संख्या नियत थी किन्तु क्लासिकल संस्कृत में किस प्रकार के कितने सिलेवलस आवश्यक हैं यह निश्चित कर दिया गया है। वैदिक छन्दों में ये दोनों ही विशेषतायें विद्यमान थी।

ऋग्वेद का धर्म—(Religion of the rigveda)—

वैदिक धर्म देवताओं की पूजा से सम्बन्ध रखता है, जो बड़े रूप में प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण है। वैदिक सूक्त इन देवताओं की

स्तुति हैं और इनका विनियोग सोम रस के प्रदान करने में पिघले घी के हवन करने में होता है।

ऋग्वेद-कालीन धर्म बहुदेवोपासक होते हुए भी सादा था। यह स्वाभाविक भी था। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ ही आर्यों के प्रमुख उपास्य देवी देवता थे। वैदिक धर्म बहुदैविक होते हुए भी ऋग्वेद के कुछ पीछे के सूक्तों में एकेश्वरबाद की भी कुछ छाप प्रतीत होती है।

साधारणतया ऋग्वेदमें ३३ देवता माने गए हैं। जो तीन भागों में विभिक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में ११ देवता हैं। ये क्रमशः पार्थिव, आकाशस्थ तथा स्वर्गस्थ इन तीन संघों में विभक्त हैं। इनका उल्लेख आगे वैदिक देवताओं के वर्णन के प्रसङ्ग में किया गया है। इन अनेक देवताओं को मानते हुए भी यह विश्वास भी उस समय प्रचलित था कि ये सभी एक ही देवता के अनेक रूप हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन देवों का भी कहीं से प्रारम्भ हुआ होगा, किन्तु ये सब एक ही समय उत्पन्न हुए ऐसा नहीं कहा जा सकता। कहीं २ ऐसे उद्धरण मिलते हैं कि कुछ देवता पहले के देवताओं की सन्तान हैं। ऐसा समझा जाता है कि वे मर्त्य हैं और सोमरस के पीने से अथवा अग्नि या सूर्य के वरदान से इनको अमरत्त्व प्राप्त हुआ है।

देवताओं की वाह्याकृति मनुष्यों जैसी मानी जाती है। उनके शरीर, अवयव, जैसा कि बहुत स्थानों पर वर्णित है साधारणतया उनके द्वारा दी गई प्राकृतिक वस्तुयें ही हैं। जैसे सूर्य की किरणें ही उनकी भुजायें है और अग्नि की लपटें ही उनकी जिह्वायें और जबड़े हैं। कुछ देवता सेनानी के रूप में सुसज्जित माने गए हैं। खास कर इन्द्र। कुछ पुरोहित के रूप में जैसे अग्नि या बृहस्पति। सभी देवता हवा में घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथों पर चलते हैं।

मनुष्य के प्रिय भोजन ही इन देवताओं को भी प्रिय हैं। इनमें

दूध, घी, अन्न तथा भेड़, बकरी एवं अन्य जानवरों का मांस भी सम्मिलित है। यह भोजन उन्हें बलि द्वारा समर्पित किया जाता था। जो उन तक स्वर्ग में अग्नि देवता के द्वारा पहुँचता था या वे स्वयं घास के छितरे हुए आसनों पर आकर उसको स्वयं ग्रहण करते थे जो उनके स्वागतार्थ बिछाये जाते थे। सोम उनका प्रिय पेय था। उनका घर स्वर्ग है इसको त्रिविष्टप या विष्णुपथ कहते हैं। जहाँ वे लोग सोम के घूटों में मस्त रहते हैं और आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।

पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में वैदिक धर्म के भीतर अनेक वस्तुयें ऐसी हैं जो भारोपीय धर्म की अविभाज्य अङ्ग हैं एवं उसके वैशिष्ठ्य को द्योतित करती हैं। इस धर्म में अनेक बातें ऐसी भी हैं जो ईरानी धर्म से भी समानता रखती हैं क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में भारतीय आर्य योरोपीय आर्यों के साथ भारत के बाहर किसी विशिष्ट स्थान में एक साथ रहा करते थे। आर्य लोगों ने अपने मौलिक धर्म के विविध वैशिष्ठ्यों को लेते हुए भारत में नवीन धर्म की स्थापना की। ईरान में भी वे पारसीकों के साथ बहुत दिनों तक रहे। फलतः इरानी धर्म की भी कुछ बातें वैदिक धर्म में उपलब्ध होती हैं।

वैदिक देवताओं के गुण—(Attributes of Gods)

इनके गुणों में मुख्य है *शक्ति*,—क्योंकि हमेशा इनका वर्णन सर्वशक्तिमान् के रूप में किया गया है। वे प्रकृति को अनुशासित करते हैं। कोई उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता और न कोई उनके द्वारा निश्चित समय से अधिक जी सकता है। प्रत्येक प्राणी की इच्छा पूर्ति इन्हीं पर निर्भर है। वे उदार जीव हैं जो मनुष्यों को सुख देते हैं। उनमें से रुद्र हानिप्रद हैं। उनका वर्णन यथार्थ किया गया है। देवतागण धार्मिक तथा ईमानदारों की रक्षा करते हैं और पापियों को दण्ड देते हैं। बहुत से मामलों में ऋग्वेद के देवता उन

प्राकृतिक चमत्कारों व घटनाओं से पृथक् नहीं हैं जिनके वे प्रतिनिधि हैं। उनके रूप अनिश्चित हैं और व्यक्तित्व में हीन हैं। बहुत से गुण जैसे—शक्ति, बुद्धि, औदार्य आदि सभी देवताओं में समान हैं किन्तु इसके अतिरिक्त हर एक देवता की अपनी अपनी अलग अलग कुछ विशेषतायें भी हैं।

देवताओं के रूप की अनिश्चितता तब और भी बढ-जाती है जब कि दो देवताओं का एक साथ आह्वान किया जाता है। क्योंकि ऐसे प्रकरणों में एक ही देवता की स्तुति में दोनों देवता साभी होते हैं, किन्तु लक्षण एक ही देवता के रहते हैं। जब इस-प्रकार प्रत्येक देवता की लग-भग सभी शक्तियाँ वर्णित की जाती हैं तब एक देवता की पहचान दूसरे से सुगमता पूर्वक हो जाती है। इस प्रकार की अनेक पहचानें ऋग्वेद में हैं। ऋग्वेद के पिछले एक से अधिक परिच्छेदों में यह विचार पाया जाता है कि अनेक देवता एक ही ईश्वर के विभिन्न रूप हैं किन्तु यह विचार ऋग्वेद में अद्वैतबाद के रूप में नहीं बढ़ा, क्योंकि कोई भी निश्चित आहुति ऋग्वेद में एक देवता को नहीं दी गई। आखिर में ऋग्वेद के अन्तिम सूक्तों में अदिति और प्रजापति इन दोनों देवताओं के नाम आए हैं। इनको अन्य देवताओं से अलग पहचाना जा सकता है और प्राकृतिक शक्तियों से भी इनको अलग पहचाना जा सकता है। इन्हीं के आधार पर धीरे २ हम अद्वैतबाद तक पहुँच जाते हैं जो कि बाद की वेदान्त-विचार-धारा का एक आवश्यक अङ्ग है। वैदिक देवता बड़ी सुविधा से ऋग्वेद में दिए गए त्रिवर्ग के अनुसार स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी के देवताओं के रूप में बाँटे जा सकते हैं। यही संक्षेप में वैदिक देवताओं की विशेषतायें हैं।

ऋग्वेदमें धर्मनिरपेक्षताबाद-(Secular matter in the Rigveda)

ऋग्वेद में मुश्किल से कुछ सूक्त ऐसे मिलेंगे जिनमें लौकिकसत्त्व या धर्म निरपेक्षताबाद का वर्णन हो। ये सूक्त खास तौर पर इस लिए

महत्त्वपूर्ण हैं कि ये भारत वर्ष की प्राचीनतम संस्कृति एवं विचार धारा पर प्रत्यक्ष रूप में प्रकाश डालते हैं। उनमें से भी वह सूक्त विशेष ध्यान देने योग्य है जिसमें विवाह के सम्बन्ध में लिखा गया है। ऋग्वेद में लगभग ५ सूक्त ऐसे भी हैं जिनमें अन्त्येष्ठी क्रिया के सम्बन्ध में लिखा गया है। इनमें चार सूक्त ऐसे हैं जो उन देवताओं को सम्बोधित करते हैं जिनका सम्बन्ध भविष्य जीवन से होता है किन्तु आखिरी (५ वाँ) सूक्त बिलकुल धर्मनिरपेक्ष या लौकिक भाव में लिखा गया है। यह सूक्त अन्य मृत्यु संस्कार संबन्धी सूक्तोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन वैदिक कालीन भारत के रीति रिवाजों के सम्बन्ध में सूचित करता है। इन सूक्तों में देवताओं की स्तुति न होकर केवल लोकाचार काही उल्लेख- होने से इन्हें धर्म-निरपेक्ष या लौकिक सत्त्व सम्बन्धी सूक्त कहा जाता है। अन्य सभी सूक्तों में प्रायः धार्मिक चर्चा ही भरी पड़ी है।

ऋग्वेद में पौराणिकसंवाद–(Mythological Dialogues)–

उन अनेक पौराणिक संवादों के अलावा जिनमें वक्ता देवता लोग ही हैं ऋग्वेद में दो ऐसे सूक्त हैं जिनमें संवाद कर्ता दोनों मनुष्य हैं। दशम मण्डल के ९५ वें सूक्त में एक ऐसी बात चीत हैं जो अस्पष्ट है। बात चीत एक मर्त्य प्रेमी–*पुरुरवा* तथा एक स्वर्गीय अप्सरा–*ऊर्वसी* जो उसे छोड़ना चाहती है के बीच उसी अवसर पर हो रही है। यह संवाद *कालिदास* के "विक्रमोर्वशीय" नाटक की कथा का प्राचीनतम रूप है। दूसरा संवाद दशवें मण्डल के दशवें सूक्त में वर्णित है जो *यम* और *यमी*-जो मानव जाति के संयुक्त माता पिता हैं के बीच है। यह सूक्तों का वर्ग एक खास साहित्यिक रोचकता रखता है तथा उत्तर कालीन नाटकों के कार्य को स्वरूप प्रदान करता है।

ऋग्वेद में शिक्षाप्रद सूक्त–(Didactic Hymns)—

ऋग्वेद में करीब चार सूक्त ऐसे हैं जो शिक्षाप्रद हैं। उनमें १० वें मण्डल का ३४ वाँ सूक्त एक प्रभावशाली कविता है। यह एक जुआड़ी

के विलाप एवं पश्चाताप से सम्बद्ध है जो कि जुवे में अपनी सारी सम्पत्ति हार जाने पर भी अपनी जुवा खेलने की प्रवृत्ति को न रोक सकने के कारण पश्चाताप कर रहा है। दशम-मण्डल का ११२ वाँ सूक्त बताता है कि किस प्रकार मनुष्य लाभ प्राप्त कर सकता है। दशम-मण्डल का ७१ वाँ सूक्त बुद्धिपूर्ण वक्तृता की प्रशंसा करता है। दशम-मण्डल का ११७ वाँ सूक्त अच्छे कार्यों का मूल्याङ्कन करता है और वैदिक सूक्त के साहित्य में जो भावना-प्रधान कविताओं का सूत्रपात होता है उसका भी कुछ आभास देता है।

ऋग्वेद का साहित्यिकमहत्त्व (Literary merit of the Rigveda)

ऋग्वेद के सूक्तों की बोली एवं भाषा प्राकृतिक तथा साधारण है। दो शब्दोंसे अधिक समस्त पद भी नहीं हैं। उनकी प्राचीनता का विचार करते हुए विदित होता है कि सूक्तों के निर्माण में छन्द-सम्बन्धी-कला एवं भाषा-अधिकार सर्वथा श्लाघनीय है। किन्तु उनका निर्माण एक वर्ग विशेष द्वारा एक विशेष प्रकार की धार्मिक क्रिया पद्धति के लिए हुआ था। इस लिए उनकी कवित्व-शक्ति निरन्तर बलिदानों से संबद्ध होने के कारण क्षीण हो गई। अग्नि एवं सोम के संबन्ध में लिखे गए सूक्तों में ये बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इनमें विचार अस्वाभाविक एवं एक विचित्र रहस्यात्मक ढंग से व्यक्त किये गए हैं। फिर भी ऋग्वेद में शुद्ध कविता के भी दर्शन होते हैं। देवताओं का प्रकृति से संबन्ध होने के कारण उनकी प्रशंसा में लिखे गए सूक्तों में अत्यन्त सुन्दर एवं उच्च कोटिका शब्दचित्रण मिलता है। विभिन्न सूक्तों में साहित्यिक सौन्दर्य भिन्न २ प्रकार से तथा भिन्न परिमाण में मिलता है।

औसतन यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रायः सभी सूक्तों में उच्च कोटिका सौन्दर्य बिखरा हुआ है। सबसे उच्च कोटि के सूक्त वे हैं जो उषा को संबोधित कर के लिखे गए हैं। काव्य की दृष्टि से उषा के सम्बन्ध में लिखे गए सूक्त यदि उत्कृष्ट कोटिके नहीं तो कम से कम

संसार के किसी भी साहित्य में लिखे गए धार्मिक प्रगीतों के समकक्ष तो हैं ही। इन्द्र और वृत्रासुर के संघर्ष के संबन्ध में लिखे गए सूक्त सजीव वर्णनशक्ति के परिचायक हैं।

मरुत् से संबद्ध सूक्तों में बिजली की चमक, गड़गड़ाहट तथा भयङ्कर वायु के झोंकों का अन्ताजा मिलता है। पर्जन्य के संबन्ध में लिखे गए सूक्त में आंधी और पानी के भायावह परिणाम का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। वरुण की प्रशंसा में लिखे गए बहुत से सूक्त कवित्त्व-शक्ति की उच्चतम भूमिका तक पहुँच जाते हैं और आध्यात्मिक जगत के शासक के रूप में भी वरुण की अशीम गति है।

पौराणिक सम्भाषणों में भाषा के सौन्दर्य के साथ २ नाटकीय कृतियों का भी सुन्दर संयोग है। उदाहरणार्थ-इन्द्र के दूत-*सरामा* का स्वागत भाषण तथा उन दो *राक्षसों* का कथोपकथन जिन्होंने गायों को चुराया था तथा *यम* और *यमी* के कथोपकथन स्पष्ट हैं। दाह संस्कार से संबन्ध रखने वाले एक सूक्त में मृत्यु से संबद्ध विचार अत्यन्त ही प्रभाव पूर्ण एवं सौन्दर्य पूर्ण ढंग से व्यक्त हुए हैं। विराट स्वरूप से सबन्ध रखने वाले कुछ सूक्तों से यह प्रकट होता है कि किस प्रकार गंभीर दार्शनिक विचार कविता में व्यक्त किए जा सकते हैं।

ऋग्वेद की व्याख्या–(Interpretation of the Rigveda)—

ऋग्वेद के सूक्तों की समालोचना करने में एक महत्त्व पूर्ण प्रश्न उठता है कि–ये जो भारतीय साहित्य शास्त्र के दूरवर्ती युग के पृथक् स्मारक स्वरूप हमको प्राप्त हुए हैं, हम उनका अर्थ समझने में किस सीमा तक सफल हुए हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर साधारणतया यही दिया जाता है कि वैदिक विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप ऋग्वेद के अधिकांश भाग का अर्थ स्पष्ट होगया है, किन्तु फिर भी बहुत से सूक्त एवं बहुत सी पृथक् तथा बड़ी ऋचाये' एवं परिच्छेद आज तक भी दुर्बोध बने हैं। निरुक्त के

प्रणेता "*यास्क*" के समय में भी यह समस्या बनी हुई थी, क्योंकि अपने पूर्ववर्ती "*कौत्स*" का उद्धरण यास्क इस प्रकार देते हैं—"वैदिक सूक्त गूढ़ हैं, अर्थ रहित हैं तथा परस्पर विरोधी हैं।"

वेदों के अध्ययन के प्राचीन युग में (प्रारम्भिककाल में) याने १९ वीं शदी के लगभग मध्य भाग में, परम्परागत 'प्रणाली जो सायण (१४ वीं शदी) की महाती टीका का अनुसरण करती है एवं एच० एच० विल्सन के ऋग्वेद के अनुवाद के द्वारा प्रतिनिधि मानी जाती है यथेष्ट समझी जाती थी।

परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो स्थानीय भारतीय टीकायें ब्राह्मण तथा सूक्तों के धर्म ज्ञान एवं संस्कारों से संबद्ध होती हुई भी उनके परिचित वातावरण के साथ एक मूल्यहीन पथप्रदर्शक हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनमें वैदिक सूक्तों के रचना काल से कोई लगातार चलने वाली परम्परा ही नहीं है।

कवि तथा व्याख्याकार के बीच का अन्तराल पूर्ववर्तियों के मत-भेदों द्वारा ही दिखाया गया है। उनमें एक "और्ण्यवाक" नासत्यौ—जो अश्विन की एक उपाधि है की सच्चे रूप में व्याख्या करता है। इसी प्रकार "आग्रापण" (न) की व्याख्या भी "*सत्य के नेता*" के रूप में की गई है। जब कि स्वयं *यास्क* इसका अर्थ—"*नाक से उत्पन्न*" करते हैं। यास्क ने व्याख्याकारों के विभिन्न मतों की चर्चा की है, जिन्होंने अपने सिद्धान्त विशेष के अनुसार कठिनाइयों से भरी व्याख्या की है। यास्क की अपनी व्याख्यायें प्रायः संदिग्ध एवं व्युत्पत्तिशास्त्र पर आधारित तथा अनुमान प्रमाणित हैं; क्योंकि यास्क एक शब्द के दोहरे (यह भी, वह भी) अर्थ बराबर देते है। इसी तरह उन्होंने "जातवेदस" उपाधि की पाँच प्रकार से व्याख्या की है।

फिर भी उन्होंने अनेक गूढ़ शब्दों के अर्थों को निश्चित रूप देने में अपने दो हजार वर्ष पश्चात् होने वाले सायण की अपेक्षा अधिक सुन्दर

एवं सुदृढ़ साधन रखे होंगे। सायण की व्याख्या कभी २ यास्क से मत-भेद रखती है। अतः यातो यास्क का कथन अशुद्ध है या सायण ने परम्परा का पालन नहीं किया है। फिर सायण एक ही परिच्छेद की व्याख्या करने में,एक ही शब्द के अर्थ करने में या विभिन्न परिच्छेदों में आने वाले एक ही शब्द की टीका करने में अनेक अनगढ अर्थ देते हैं। उदाहरणार्थ—एक दैवी जीव "असुर" के-"शत्रुओं को निष्काशित करने वाला, शुद्धिदाता, जीवनदाता, अनभीष्ट वस्तुओं को दूर कर देने वाला, श्वास तथा जल दाता, पानी निकालने वाला,पर्जन्य, प्रवृत्त करने वाला, वाल फेंकने वाला, पुजारी, श्वास छोड़नेवाला, शक्तिमान्, बुद्धिमान्, जल-वृष्टि एवं पानी देने वाला वादल" आदि अनेक अर्थ किये हे।

उनकी टीकाओं की सूक्ष्म दृष्टि से जाँच करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि नतो *यास्क* को और न *सायण* को ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्दों की एक बड़ी संख्याका निश्चित ज्ञान था। अतः उनकी व्याख्यायें उसी दिशा मे निश्चयात्मक मानी जा सकती हैं जब कि वे सम्भावना द्वारा, प्रसङ्ग द्वारा तथा समानान्तर परिच्छेदों द्वारा व्यवहृत की जायं।

भारतीय आचार्यों की परम्परागत प्रणाली को दोष-पूर्ण जानकर वैदिक भाषा विज्ञान की नीव डालने वाले रोथ (Roth) ने ऋग्वेद के कठिन मन्त्रों की व्याख्या करने में परम्परागत प्रणाली के स्थान पर आलोचनात्मक प्रणाली को अपनाया। इस कार्य में उन्होंने स्वरूप तथा विषय दोनों में समानान्तर चलते हुए शब्दों की सूक्ष्म तुलना द्वारा आन्तरिक प्रमाणों का सहारा लिया साथ ही प्रसंग, व्याकरण एवं व्युत्पत्ति का भी विचार रखा। इसके अलवा वैदिक भाषा के संस्कृत से सम्बद्ध ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा प्राप्त सहायता तथा अवेस्ता एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा प्राप्त वाह्य प्रमाणों का भी सहारा लिया। अपनी प्रणाली की प्रेरणा से रोथ (Roth) ने व्युत्पत्ति सम्बन्धी विशेषता को अधिक महत्त्व दिया तथा देशीय परम्परा को बहुत कम।

दूसरी ओर एक प्रतिक्रिया इसके विपरीत और उठ खड़ी हुई, जिसमें वैदिक सूक्तों के शुद्ध भारतीय स्वाभाव पर अधिक बल दिया गया। इस प्रतिक्रिया ने वैदिक सूक्तों का निकट सम्बन्ध उनके उत्तर वैदिक युग के साहित्य तथा उसमें वर्णित अपेक्षाकृत अधिक उन्नत संस्कृति के साथ जोड़ा। यह स्मरण रहे कि इन वैदिक आलोचक विद्वानों ने केवल परम्परा का ही अनुसरण नहीं किया बल्कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिये उसमें बहुत सी बहुमूल्य सामग्री प्रदान की जो परम्परागत प्रणाली वाले विद्वानों के लिए अपरिचित थी। उदाहरणार्थ—अवेस्ता, तुलनात्मक भाषा विज्ञान, तुलनात्मक धर्म आदि का अनुशीलन है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सभी प्राप्त प्रमाणों को स्वीकार कर निष्पक्ष भाव से आलोचनात्मक प्रणाली के स्थिर अनुकरण से ऋग्वेद की व्याख्या करने पर अबतक सामने आने वाली कठिनाइयों तथा गूढ़ताओं का अधिकांश भाग अन्तिम रूप से स्पष्ट हो जायगा।

यजुर्वेद-संहिता

सामान्य परिचय—

इस संहिता को केवल यजुर्वेद भी कहा जा सकता है। यह वेद मुख्यतया यज्ञानुष्ठानों से ही सम्बद्ध है। इसके दो भेद मिलते हैं। *कृष्णयजुर्वेद* तथा *शुक्लयजुर्वेद*। कृष्णयजुर्वेद के बारे में कहा जाता है कि वेदव्यास से वैशम्पायन मुनि ने इस वेद की शिक्षा प्राप्त की थी और वैशम्पायन से याज्ञवल्क्य मुनि ने इसे ग्रहण किया था, किन्तु किसी कारण वश मुनि वैशम्पायन याज्ञवल्क्य से रुष्ट हो गये और उन्होने इस पठित विद्या को वापस माँगा। गुरु की आज्ञा से याज्ञवल्क्य मुनि ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। उस समय वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तीतर का रूप धारण करके इसे चुग लिया। इस प्रकार

वमित यजुषों को तीतर बनकर चुगने के कारण यह *कृष्णयजुर्वेद* कहलाया। इसके बाद याज्ञवल्क्य मुनि ने सूर्य की आराधना करके नवीन यजुषों को उत्पन्न किया जो *शुक्लयजुर्वेद* के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि शुक्लयजुर्वेद में केवल मन्त्र ही संगृहीत हैं, उसमें विनियोग वाक्य नहीं हैं जब कि कृष्णयजुर्वेद में छन्दोवद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का भी मिश्रण है।

शुक्ल-यजुर्वेद—

शुक्लयजुर्वेद संहिता का नाम "*वाजसनेयि-संहिता*" है। कहा जाता है कि सूर्य ने घोड़े का रूप धारण कर याज्ञवल्क्य को इस संहिता का उपदेश दिया था इसी कारण इसका नाम वाजसनेयि संहिता पड़ा। इसमें ४० अध्याय हैं। इस संहिता की दो शाखायें मिलती हैं। (१)-*माध्यन्दिन* तथा (२)-*कण्व*। माध्यन्दिन-शाखा उत्तर भारत में और कण्व-शाखा दक्षिण भारत में प्रचलित है। इस संहिता का *ब्राह्मण-शतपथ-ब्राह्मण* है। इसका एक *आरण्यक* भी है जो *बृहदारण्यक* के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अलावा इसके दो उपनिषद् भी हैं-(१)-ईशोपनिषद् तथा (२)-बृहदारण्यकोपनिषद्। इनमें प्रायः यज्ञों का वर्णन है।

कृष्ण-यजुर्वेद—

इस वेद की चार संहितायें उपलब्ध हैं-(१)-तैतरीय,(२)-मैत्रायणी, (३)-कठक तथा (४)-कठकपिष्टल। इनमें तैतरीय संहिता ही सबसे प्रमुख एवं प्रसिद्ध है। इसके सात खण्ड हैं। जो अष्टक या काण्डों में विभक्त हैं।

यद्यपि *पातञ्जलि* ने अपने भाष्य में कृष्णयजुर्वेद को १०१ शाखायें बतलाई हैं और शौनक के चरणव्यूह में ८५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु आजकल कृष्णयजुर्वेद की उपरोक्त चार ही *शाखायें* मिलती है जो इसकी चारों संहिताओं के नाम पर प्रसिद्ध हैं। कृष्ण-

यजुर्वेद का एक ब्राह्मण ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है जो *तैतरीय-ब्राह्मण* के नाम से प्रसिद्ध है। इसका एक *आरण्यक* भी है जो तैतरीय आरण्यक कहलाता है। इसके अलावा कृष्णयजुर्वेद के तीन उपनिषद् भी हैं—(१)–तैतरीय, (२)–मैत्रायणी तथा (३)–कठोपनिषद्। इसके आठ सूत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं जो निम्नाङ्कित हैं—(१)–आपस्तम्ब-कल्पसूत्र, (२)–बौद्धायनश्रौतसूत्र, (३)–हिरण्यकेशीकल्पसूत्र, (४)–भारद्वाज-श्रौतसूत्र, (५)–मानव-श्रौतसूत्र, (६)–मानव-गृह्यसूत्र,(७)–वाराह-गृह्यसूत्र तथा (८)–कठक-गृह्यसूत्र।

यजुर्वेद का वर्ण्य-विषय एवं उद्देश्य—

यजुर्वेद के वर्ण्य विषय का ज्ञान एकमात्र "वाजसनेयि–संहिता" से हो सकता है। यही संहिता सारे यजुर्वेद की प्रतिनिधि है। इसमें ४० अध्याय हैं। यह सारी संहिता यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं एवं विधियों से परिपूर्ण हैं। इन ४० अध्यायों में यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं के अतिरिक्त यज्ञ सम्बन्धी देवताओं की प्रार्थनायें, अग्नि-चयन संबन्धी प्रार्थनायें आदि भी हैं। अनेकों उत्सव एवं सम्मेलन,द्यूतक्रीड़ा तथा सुरापान आदि का भी वर्णन मिलता है। इसका ४० वाँ अध्याय प्रसिद्ध "*ईशोपनिषद्*" है, जो अन्त में जोड़ा गया प्रतीत होता है।

यज्ञ की विविध विधियों तथा उनके तत्त्वों का विवेचन करने के लिये ही यजुर्वेद की रचना हुई। यज्ञ ही इसका प्रमुख विषय है। इसमें छोटी छोटी ऋचायें तथा गद्य के छोटे २ वाक्य हैं किन्तु कहीं २ यह गद्य भी सगीतात्मक एवं काव्यमय हो गये हैं।

यजुर्वेद की समस्त ऋचायें प्रायः ऋग्वेद से ही ली गई हैं। उनमें जो कुछ परिवर्तन दिखाई देता है वह उन्हें यज्ञानुकूल बनाने के कारण ही किया गया है। परन्तु ऋग्वेद के पूरे २ मन्त्रों को यजुर्वेद में नहीं लिया गया है, बल्कि अधिकांश उन मंत्रों के चरण मात्र लिये गये हैं

और उन्हें यज्ञीय संस्कारों के अनुकूल बना लिया गया है। यजुर्वेद में ऋग्वेद की तरह देवताओं को आमन्त्रित करके लम्बी चौड़ी स्तुतियाँ भी की गई हैं, इसमें *अरणि* से अग्नि उत्पादन का भी विधान वर्णित है। कहीं कहीं अथर्ववेद के समान विघ्नकारियों के लिये अभिशापों का भी उल्लेख पाया जाता है। इनमें कुछ पहेलियाँ भी हैं।

किन्तु यजुर्वेद के संस्कारों एवं यज्ञों का उद्देश्य देवताओं की पूजा करना मात्र नहीं, बल्कि उन देवताओं पर प्रभाव डालकर यजमानों की इच्छा पूर्ण कराने के लिये उन्हें विवश करना भी है। देवों को प्रसन्न करने के लिये उन्हें अनेक नामों से पुकारा गया है। इसी बहुनाम प्रणाली के आधार पर आगे चलकर विष्णुसहस्रनाम आदि की रचना हुई। तैतरीय एवं वाजसनेयि-संहिता में ऐसे कितने ही स्थल हैं जहाँ देवों को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। वाजसनेयि-संहिता के २६ वें अध्याय में शतरुद्रीय प्रार्थना है। ये यजुर्वेद के प्रार्थना मन्त्र अत्यन्त महत्त्व पूर्ण हैं।

यजुर्वेद का निर्माण मुख्यतया धार्मिक दृष्टि से ही हुआ है, किन्तु इसमें उच्चकोटि के साहित्य के भी दर्शन होते हैं। यह वेद उत्तर-कालीन ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की आधारशिला है। इसमें यज्ञ सम्बन्धी आवश्यक उपकरणों का संग्रह किया गया है। यजुर्वेद का मुख्य उद्देश्य पौरोहित्य है। इसका विशेष महत्वपूर्ण अंश गद्यात्मक-सिद्धान्त एवं प्रार्थनाओं से सम्बद्ध है।

अतः धर्म का इतिहास जानने के लिये यजुर्वेद का अध्ययन परमो-पयोगी है। इतना अवश्य है कि इसका कुछ भाग क्लिष्ट एवं अस्पष्ट है। किन्तु यजुर्वेद के अध्ययन के बिना ब्राह्मणों एवं उपनिषदों को समझना कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

सामवेद-संहिता

इस संहिता को केवल *सामवेद* भी कहा जा सकता है। इसका सङ्कलन उद्गाता के लिये हुआ है जैसा कि आगे भी कहा जा चुका है। इसमें केवल ऋचायें ही हैं जिनकी संख्या १५४९ है। इसकी अधिकांश ऋचायें ऋग्वेद से ही ली गई हैं। केवल ७५ ऋचायें ही स्वतन्त्र हैं। यह सामवेद दो भागों में विभक्त है। (१)-पूर्वार्चिक तथा (२)-उत्तरार्चिक। संगीत का मूल उद्गम इसी सामवेद से हुआ है। इसकी समस्त ऋचायें छन्द-छन्दसी अथवा छन्दसिका कहलाती हैं।

महाभाष्य में सामवेद की *सहस्र शाखायें* बताई गई हैं। परन्तु इस समय केवल *तीन शाखायें* ही उपलब्ध हैं—(१)-कौथुम, (२)-राणायनीय तथा (३)-जैमिनीय। इनमे कौथुम शाखा का प्रचार गुजरात में, राणायनीय शाखा का महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय शाखा का कर्नाटक में देखने को मिलता है। इन्हीं शाखाओं के आधार पर सामवेद की तीन *संहितायें* भी मिलती हैं—(१)-कौथुमसहिता, (२)-राणायनीय-संहिता तथा (३)-जैमिनीय-संहिता। सामवेद के *चार ब्राह्मण* भी मिलते हैं—(१)-ताण्ड्यब्राह्मण, (२)-षड्विंशब्राह्मण, (३)-सामविधानब्राह्मण तथा (४)-जैमिनीयब्राह्मण। इसके अलावा इस वेद के *दो आरण्यक*—(१)-छान्दोयोग्य तथा (२)-जैमिनीय एवं *तीन उपनिषद्*—(१)-छान्दोयोग्य, (२)-केन तथा (३)-जैमिनीय-उपनिषद भी मिलते हैं। ब्राह्मण-आरण्यक एवं उपनिषदों के अलावा सामवेद के *सात सूत्र* भी हैं—(१)-मशककल्पसूत्र, (२) लाट्यायनश्रौतसूत्र, (३)-गोभिलगृह्यसूत्र, (४)-प्राह्यायणश्रौतसूत्र, (५)-खादिरगृह्यसूत्र, (६)-जैमिनीयश्रौतसूत्र एवं (७)-जैमिनाय-गृह्यसूत्र ।

अथर्ववेद-संहिता

रचनाक्रम—

इस संहिता को केवल अथर्ववेद भी कहा जाता है। इसमें संगृहीत श्लोकों का सम्बन्ध यज्ञसे न होकर यज्ञ में उत्पन्न होने वाले विघ्नों का निवारण करने के लिये यज्ञ-संरक्षक ब्रह्मा से है। इन मन्त्रों में मारण, मोहन, वशीकरण एवं उच्चाटन आदि क्रियाओं का विशेष रूपसे वर्णन है। इस संहिता में २० काण्ड हैं जो ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक तथा ७३१ सूक्तों में विभक्त हैं। इसमें १२०० ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इस संहिता का लगभग छटा भाग गद्य में है। इसका १४ वाँ काण्ड विवाह विषयक, १८ वाँ काण्ड श्राद्धविषयक तथा २० वाँ काण्ड सोम-यज्ञ विषयक है। इन काण्डों के मन्त्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं।

महाभाष्य के अनुसार अथर्ववेद की ९ *शाखायें* हैं, किन्तु वर्तमान समय में उनमें से केवल दो शाखायें ही उपलब्ध हैं—(१)-पिप्पलाद तथा (२)-शौनक। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जर्मन में है। डा० राथ ने इसके प्रत्येक पृष्ठ का फोटो लेकर इसे प्रकाशित कराया था। पिप्पलाद शाखा के प्रश्नोपनिषद् के सिवाय अन्य कोई ब्राह्मण या आरण्यक नहीं मिलते। अथर्ववेद की शौनक शाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। इस शाखा की शौनक-संहिता प्राचीन है। इस शाखा के गोपथ नामक एक-*ब्राह्मण*, मुण्डक एवं माण्डूक्य ये *दो—उपनिषद्* तथा वैतान-श्रौतसूत्र एवं कौशिक-गृह्यसूत्र ये *दो—सूत्रग्रन्थ* उपलब्ध होते हैं।

अथर्ववेद का रचना काल—

भारतीय जनश्रुतियों के अनुसार पहले अथर्ववेद की गणना वेदों में नहीं होती थी। वेदत्रयी के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित थे उनमें ऋक्-यजुः तथा साम की ही गणना होती थी। "ऋक् यजुः सामलक्षणाम्"

तथा "अन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती" आदि कथनों से जिस वेदत्रयी का वर्णन किया गया है उसमें अथर्ववेद का नाम नहीं आता। अथर्ववेद को वेदोंके अन्तर्गत न मानने का कारण सम्भवतः यह था कि यह अपने प्रमुख विषय-मारण, मोहन, वशीकरण एवं उच्चाटनादि के कारण हेय समझा जाता था। केवल बौद्ध एवं जैन ही नहीं स्मृतिकारों ने भी इसे नगण्य समझा।

यद्यपि कृष्ण-यजुर्वेद, ब्राह्मण एवं उपनिषदों में—"समापि तस्य लोमानि-अथर्वाङ्गिरसोमुखम्" कहकर अथर्ववेद को त्रयी के समकक्ष बताया गया है तो भी इसका यह अभिप्राय नहीं कि अथर्ववेद ऋग्वेद से नवीन नहीं है। अथर्ववेद के सबसे अन्तिम मन्त्र ऋग्वेद के सबसे अन्तिम मन्त्रों की अपेक्षा नवीन हैं और उसके कुछ मन्त्रों से तो इनमें शताब्दियों का अन्तर है। वस्तुतः ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद का भी कोई निश्चत समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसकी सम्पूर्ण रचना में शताब्दियों का अन्तर प्रतीत होता है।

इतना सम्भव है कि इसके कुछ मन्त्र ऋग्वेद के समकालीन या उसके पूर्व के भी हों और बाद में संकलित कर दिए गए हों, तथापि समस्त अर्थववेद ऋग्वेद की अपेक्षा नवीन है। इस वेद को त्रयी में सम्मिलित करने के लिये इसमें कुछ यज्ञीय मन्त्र, कुछ सूक्त तथा यजुर्वेद के ढंग पर कुछ गद्यमय अध्याय जोड़कर सम्मिलित किए गए हैं। अतः बादमें वेदत्रयी का नाम वेदचतुष्टयी हो गया।

अथर्ववेद का अर्थ—

अथर्ववेद का अर्थ है अथर्वन का वेद। अर्थात् जादू टोने के विषयों का ज्ञान। वैसे अथर्वन का अर्थ है-"अग्निपुरोहित" (Fire Priest) फारसके लोगोंमें भी ऐसी अग्नि पूजा प्रचलित थी। पहले यह "अथर्वाङ्गिरस" नाम से कहा जाता था, बाद में यही अथर्ववेद कहलाया। इस

वेद का लगभग १ । ७ भाग ऋग्वेद से लिया गया है । इसमें छन्दों का क्रम ऋग्वेद जैसा ही है, किन्तु भाषा पूर्णतया ऋग्वेद से अर्वाचीन है । इसके अन्तर्गत सर्व साधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग मिलता है । इतना ही नहीं इसमें ऋग्वेद के बाद की भौगोलिक स्थिति का भी वर्णन मिलता है । इस वेद का संग्रह भी ब्राह्मणों ने ही किया होगा ऐसा प्रतीत होता है ।

इसका वर्ण्य-विषय तथा ऋग्वेद से तुलना—

वर्ण्यविषय की दृष्टि से यह ऋग्वेद से सर्वथा भिन्न है । जहां ऋग्वेद में देव-प्रार्थना, संस्कार एवं यज्ञ-मन्त्रों आदिका बाहुल्य है वहां अथर्ववेद में लोकप्रचलित-विश्वासों, जादू-टोनों आदि की ही प्रधानता है । इसमें असंख्य देवताओं, भूत-प्रेतों, पिशाचों, राक्षसों एवं ऐन्द्रजालिकों के विश्वासों आदिका वर्णन मिलता है । धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप जानने के लिए अथर्ववेद का भी अध्ययन नितान्त आवश्यक है । इसके प्रमुख वर्ण्यविषय का प्रभाव प्रायः सभी जातियों पर परिलक्षित होता है ।

यदि ऋग्वेद की दृष्टि धार्मिक तथा पारलौकिक है तो अथर्ववेद की पूर्णतया लौकिक । इसके भैषज सूक्तों में रोगों एवं देवताओं को सम्बोधित किया गया है । इन सूक्तों में कहीं २ राक्षसों के भी वर्णन मिलते हैं, क्योंकि राक्षस ही रोगों के उत्पादक माने जाते हैं । रोगी का पिशाचग्रस्त हो जाना उस समय साधारण बात थी । लोगों मे यह धारणा पहले विशेष रूपमें थी । अतः इसके निवारणार्थ जो मन्त्र निर्मित हुए वे सभी भैषज सूक्तो में संगृहीत हैं । प्राचीन जड़ी बूटियों का भी इसमें उल्लेख है । इन सूक्तों में कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जिनके द्वारा रोगों को दूसरों के ऊपर भेज दिया जाता था । अथर्ववेद में कुछ रक्षा-कवचों का भी उल्लेख मिलता है । पौष्टिक सूक्तों में मंगल कामनायें तथा शिष्ट वचन हैं, जो गड़रिये, दुकानदार, पुरोहित आदि सभी लोगों

के लिए लाभप्रद हैं। इन्हीं सूक्तों में गृहनिर्माण तथा कृषि सम्बन्धी मन्त्र भी आये हैं।

इसके अलावा कुछ समता एवं मैत्रीभाव जाग्रत करने वाले सूक्त भी हैं। ऐसे ही कौशिक सूक्त में अनेक प्रकार के प्रेम, विवाह तथा वशीकरण सम्बन्धी उपचारों का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अभिचार-सूक्त,, राजकर्म-सूक्त, ब्राह्मण-पूजा-मन्त्र, यज्ञमन्त्र, अन्त्येष्ठी-संस्कार, पितृ-पूजा एवं कुछ दार्शनिक विचारों का भी उल्लेख अथर्व-वेद में मिलता है। इसमें उत्कृष्ट कोटि के जादू-गीत भरे पड़े हैं जो सुन्दर गीतिकाव्य के उदाहरण हैं। इसमें कुछ वर्षागीत भी हैं।

इस प्रकार अथर्ववेद का सबसे अधिक महत्त्व यह है कि इसके द्वारा वैदिक आर्यों के उन प्राचीन विश्वासों का पता चलता है जो पुरोहितों के धर्म में उस समय प्रचलित थे। साथ ही आत्मा, भूत-प्रेत आदि के बारे में जो उनके विश्वास थे उनका भी परिज्ञान होता है। और उस जादू काभी ज्ञान होता है जो वैदिक काल में सर्व-साधारण के अन्दर विशेष रूप में प्रचलित था। अतः उसकाल की धार्मिक जनता के विश्वासों का इतिहास जानने की दृष्टि से अथर्ववेद का अध्ययन भी महत्त्व पूर्ण है।

"समग्र वैदिक साहित्य एक दृष्टि में"

१–ऋग्वेद—

(क) *संहितायें*—(१)–शाकल, (२)–बाष्कल, (३)–आश्वलायन (४)–शांख्यायन एवं (५)–माण्डूक्यायन ये पाँचही उपलब्ध हैं।

(ख) *शाखायें*—यद्यपि महाभाष्य में ऋग्वेद की २१ शाखायें बताई गई हैं, किन्तु उपलब्ध उपरोक्त पाँच ही हैं।

(ग) *ब्राह्मण*—(१)–ऐतरेय तथा (२)–कौषीतकी।

(घ) *आरण्यक*—„ „ „ „ „ ।

(ङ) उपनिषद्—(१)—ऐतरेय तथा (२)—कौषीतकी।

२—यजुर्वेद—

इसके दो भेद हैं—(१)—शुक्लयजुर्वेद तथा (२)—कृष्णयजुर्वेद।

शुक्लयजुर्वेद—(क) संहितायें—(१)—वाजसनेयि-संहिता तथा (२)—काण्व-संहिता।

(ख) शाखायें—(१)—माध्यन्दिन तथा (२)—काण्व (उपलब्ध)।

(ग) ब्राह्मण—(१)—शतपथ-ब्राह्मण। ,,

(घ) आरण्यक—(१)—बृहदारण्यक। ,,

(ङ) उपनिषद्—(१)—ईशोपनिषद् तथा (२)—बृहदारण्यकोपनिषद्। ,,

कृष्णयजुर्वेद—(क) संहितायें—(१)—तैतरीय (२)—मैत्रायणी (३)—कठक तथा (४)—कठकपिष्ठल। (उपलब्ध)।

(ख) शाखायें—(१)—पातञ्जलि के अनुसार १०१, शौनक के अनुसार ८५, किन्तु उपलब्ध उपरोक्त नाम से प्रसिद्ध चार ही हैं।

(ग) ब्राह्मण—(१)—तैतरीय-ब्राह्मण ,, ।

(घ) आरण्यक—(१)—तैतरीय-आरण्यक ,, ।

(ङ) उपनिषद्—(१)—कठोपनिषद्, (२)—तैतरीय तथा (३)—मैत्रायिणी ,, ।

(च) सूत्रग्रन्थ—(१)—आपस्तम्ब-कल्पसूत्र, (२)—बौधायन-श्रौतसूत्र, (३)—हिरण्यकेशी-कल्पसूत्र, (४)—भारद्वाज-श्रौतसूत्र, (५)—मानव-श्रौतसूत्र, (६)—मानव-गृह्यसूत्र, (७)—वाराह-गृह्यसूत्र, तथा (८)—काठक-गृह्यसूत्र ये आठ सूत्र उपलब्ध हैं।

३—सामवेद—

(क) संहितायें—(१)—कौथुम, (२)—राणायणीय तथा
(३)—जैमिनीय— (उपलब्ध)।

(ख) शाखायें—„ „ „ „ ।
महाभाष्य के अनुसार सामवेद की १००० शाखायें हैं।

(ग) ब्राह्मण—(१)—ताण्ड्य, (२)—षड्विंश,
(३)—सामविधान तथा (४)—जैमिनीय „ ।

(घ) आरण्यक—(१)—छान्दोयोग्य तथा (२)—जैमिनीय „ ।

(ङ) उपनिषद्—(१)—छान्दोयोग्य,(२)—जैमिनीय तथा
(३)—केन (उपलब्ध)।

(च) सूत्रग्रन्थ—(१)—मशक-कल्पसूत्र, (२)—लाट्यायन-श्रौतसूत्र, (३)—गोभिल-गृह्यसूत्र,(४)—द्राह्यायण-श्रौतसूत्र, (५)—खादिर-गृह्यसूत्र, (६)—जैमिनीय-श्रौतसूत्र, (७)—जैमिनीय-गृह्यसूत्र (ये सात सूत्र भी हैं)।

४—अथर्ववेद—

(क) संहितायें—(१)—पिप्पलाद तथा (२)—शौनक ये दो ही उपलब्ध हैं।

(ख) शाखायें—महाभाष्य के अनुसार ६ किन्तु उपलब्ध दो ही हैं—
(१)—पिप्पलाद तथा (२)—शौनक।

(ग) ब्राह्मण—(१)—गोपथ।

(घ) आरण्यक— „ ।

(ङ) उपनिषद्—(१)—प्रश्नोपनिषद्, (२)—मुण्डक तथा (३)—माण्डूक्य। गौडपादने सर्व प्रथम वेदान्त का प्राणभूत अद्वैतवाद का सिद्धान्त माण्डूक्योपनिषद् की माण्डूक्य कारिका में ही व्यक्त किया है।

(च) सूत्रग्रन्थ—(१)—वैतानश्रौतसूत्र तथा (२)—कौशिकगृह्यसूत्र हैं।

"वेदों का निर्माण काल"

उपक्रम—

वेदों के गौरव तथा महत्त्व के विषय में वैदिक विद्वानों में एक वाक्यता होने पर भी उनके आविर्भाव–काल के विषय को लेकर उनमें गहरा मतभेद है। वस्तुतः वेदों का काल-निर्णय निश्चित-रूप से करना असम्भव है, फिर भी अबतक अनुसन्धानानुरागी विद्वानों ने जिन महत्त्व पूर्ण सिद्धान्तों को अपनी बुद्धि के बल पर खोज निकाला है उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

यद्यपि भारतीय दृष्टि में आस्था रखनेवाले विद्वानों के समक्ष वेदों के काल निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठाता, क्योंकि वे लोग वेदों को अनादि, नित्य एवं काल से अनवच्छिन्न मानते हैं, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों की छानबीन करनेवाले पाश्चात्य वेदज्ञ तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने वेदों के काल निर्णय करने का यथा शक्ति प्रयत्न किया है जो इस प्रकार है—

१—वेबर—

वेदों की तिथि निश्चित करने में सर्व प्रथम वेबर महोदय ने प्रयत्न किया है, किन्तु वे वेदों की कोई निश्चित तिथि नहीं बतलाते। उनका कहना है कि भारतीय साहित्य, संसार के लिखित रूप में प्राप्त होने वाले समस्त साहित्यों से प्राचीन है। उनका यह कथन भूगोल तथा धर्म के इतिहास सम्बन्धी साक्ष्य पर आधारित है।

२—मैक्समूलर—

इस दिशा में दूसरा प्रयत्न प्रोफेसर "*मैक्समूलर*" ने किया। उनके कथनानुसार बौद्धधर्म वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया में ही प्रादुर्भूत हुआ था। यह बौद्धधर्म (ई० पू० ५ श०) समस्त वैदिक-साहित्य, जिसमें-

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सम्मिलित हैं, की सत्ता पूर्णतया स्वीकार करता है। अतः मैक्समूलर के अनुसार समग्र वैदिक-साहित्य ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बन चुका था। इन्होने वैदिक-साहित्य को चार कालों में विभक्त किया है—(१)—छन्दकाल, (२)—मन्त्रकाल, (३)—ब्राह्मणकाल तथा (४)—सूत्रकाल। इनका मत है कि प्रत्येक काल के विकास में २०० वर्ष का समय लगा होगा। अतः बुद्ध (ई० पू० ५वीं श०) से पूर्व होने के कारण इन्होंने सूत्रकाल ई० पू० ६०० से ई० पू० ४०० तक, ब्राह्मणकाल ई० पू० ८०० से ई० पू० ६०० तक, मन्त्रकाल ई० पू० १००० से ई० पू० ८०० तक तथा छन्दकाल ई० पू० १२०० से ई० पू० १००० तक माना है। इस क्रम से आपने वेदों का निर्माणकाल ई० पू० १२०० से ई० पू० १००० के बीच माना है।

३—जैकोबी—

वेदों की संहिता तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ज्योतिष–सम्बन्धी–सूचनाओं का अनुशीलन करके *जैकोबी* ने ई० पू० ३००० वर्ष वेदों का निर्माणकाल बताया है।

४—बालगङ्गाधरतिलक—

इसी ज्योतिष-गणना के आधार पर लोकमान्य *बालगङ्गाधर-तिलक* ने भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ काल ई० पू० ६००० वर्ष मानते हुए वेदों का निर्माणकाल उसके कुछ ही बाद याने ई० पू० ६००० वर्ष के लगभग ही स्वीकार किया है।

५—बुलर—

इनका कहना है कि १२०० या १५०० ई० पू० के लगभग आर्य लोग भारत के उत्तरी कोने तथा अफगानिस्तान के आसपास बसे हुए थे, इसी समय वेदों का निर्माण हुआ होगा।

६—ह्यूगोविंकलर—

एशियायी माइनर के अन्तर्गत बोगाजकोई—(Boghazkoi)नामक स्थान पर निकली हुई मिट्टी की गोलियों पर संधि-संरक्षकों के रूप में वैदिक देवताओं के नाम देखकर *ह्यूगोविंकलर* ने ई० पू० १४०० वेदों का रचना-काल माना है।

७—मैकडनल—

मैकडनल ने अनेक प्रमाणों, तथा अवेस्ता के साथ तुलना के आधार पर वेदों का काल ई० पू० १३०० माना है।

८—श्री अविनाशचन्द्र—

इन्होंने भूगर्भशास्त्र के आधार पर वेदों का निर्माणकाल एकदम २५००० वर्ष पीछे ढकेल दिया है।

९—श्री बलदेव उपाध्याय—

श्री बलदेव उपाध्याय का कहना है कि यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् वेदों का निर्माणकाल लगभग ई० पू० १३०० से ई० पू० १२०० तक स्वीकार करते हैं। तथापि हाल ही में प्राप्त कुछ नवीन प्रमाणों के आधार पर अब ज्योतिष-संबन्धी तथ्यों की युक्ति-युक्तता एवं उसके आधार पर निर्णीत काल गणना में कुछ पाश्चात्य एव भारतीय इतिहासज्ञों का विश्वास होने लगा है। इतना तो अब निश्चित है कि वेदों का समय उतना अर्वाचीन नहीं माना जाता जितना पहले माना जाता था। अब प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् वेदों का काल आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व स्वीकार करने लगे हैं।

१०—विण्टरनिज—

उपरोक्त मतभेदों को देखते हुए *विण्टरनिज* को यद्यपि वेदों का काल २५०० या २००० ई० पू० मानना कुछ अभीष्ट है फिर भी

उनका कहना है कि "बुद्धिमानी तो इस बात में है कि हम वैदिक साहित्य की कोई निश्चित तिथि न माने और इसके अत्यन्त प्राचीन तथा अत्यन्त नवीनतम रूप देने की उपहासास्पदता एवं मूर्खता से बचे रहें।"

वैदिक संग्रह की उत्पत्ति तथा वृद्धि

(Origin and growth of the collection)

जब इण्डो आर्यान् भारत में प्रविष्ट हुए तो वे अपने साथ एक धर्म लाए, जिसमें देवता-गण मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों के मानवीय रूप थे। उनमें से कुछ जैसे "द्यौः" भारत–योरोपीय काल तक पीछे जाता है। अर्थात् यह देवता इण्डो-योरोपीय परिवार का है। अतः इण्डो-योरोपियन शाखाओं के विभाग काल से पहले का समय इस देवता का माना जायगा। इस कोटि के देवता अति प्राचीन श्रेणी मे आएगें। बाकी कुछ जैसे—मित्र, वरुण, इन्द्र आदि भारत–ईरानी काल तक जाते हैं।

इसके अलावा वे अपने साथ अग्नि तथा सोम की पूजा एवं विभिन्न छन्दों में धार्मिक कविताओं की रचना की कला भी लाए। जैसा कि ऋग्वेद तथा अवेस्ता से प्रकट होता है। इन सूक्तों का उद्देश्य देवताओं की प्रार्थना, उनकी प्रसंशा पिघले हुए घी के हवन एवं पवित्र घास पर सोम रस के प्रदान के द्वारा करना था। ऋग्वेद में जो मन्त्र अति प्राचीन मिलते हैं उनकी रचना विभिन्न वंशो के ऋषियों की वंश-परम्परा में हुई। ये सूक्त भिन्न २ परिवारों में पुस्त दरपुस्त स्मृति द्वारा रक्षित रहे क्योंकि लेखन कला का ज्ञान भारतीयों को मुश्किल से ई० पू० ७०० के लगभग हुआ। सूक्तों के ये पारिवारिक संग्रह धीरे २ इकट्ठे किए गए। बाद में उनमें कुछ और परिवर्द्धन हुए।

इस प्रकार ऋग्वेद का आदि स्वरूप (प्रथम-संस्करण) तैयार हुआ। इसके बाद मूल संहिताओं का निर्माण ई० पू० ६०० के लगभग हुआ। अबतक ब्राह्मण काल समाप्त हो चला था, किन्तु उपनिषदों का समय प्रारम्भ नहीं हुआ था। संहिताओं के रचयिताओं ने अभी तक रचे गए सूक्तों की शैली को न बदल कर केवल इसमें संधि के कुछ प्रचलित मुख्य नियमों का समावेश किया। जिनके कारण विशेष रूप से स्वर यातो संकुचित हो जाते थे या अर्धस्वर में परिवर्तित हो जाते थे। प्रायः छन्दों को गूढ़ बनाने के लिये इ (E) और ओ (O) के बाद का (A) लुप्त हो जाता था।

जैसे ही यह कार्य समाप्त हुआ इस पवित्र ग्रन्थ-साहित्य की रक्षा के लिये विशेष प्रयत्न किए गये। इस दिशा में सबसे पहला प्रयत्न पद पाठ का निर्माण था जिसमें संहिता के शब्द अलग कर दिए गये और उनको अपने मौलिक रूप मे रक्खा गया जो कि सन्धि के नियमों से अप्रभावित थे। यह पद पाठ ऋग्वेद की सर्व प्रथम टीका माना जाता है। इसके बाद ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण सम्बन्धी नियमों का निर्माण हुआ और कुछ अनुक्रमणिकायें रची गईं जिनमें प्रारम्भ से अन्त तक ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्तों की ऋचाओं की संख्या, देवता एवं छन्दों का वर्णन किया गया। वे लोग धन्य हैं जिन्होंने ऋग्वेद की २५०० वर्षों तक रक्षा की और उसको अतीव शुद्ध रूप में भविष्य की पढ़ियों को प्रदान किया।

वेदों की रक्षा के लिये महर्षियों ने अष्ट विकृतियों की व्यवस्था की। इन विकृतियों के नाम हैं—१—जटा, २—माला, ३—शिखा, ४—रेखा, ५—ध्वज, ६—दण्ड, ७—रथ तथा ८—घन। इन्हीं विकृतियों के फलस्वरूप आज भी हमारे वेद उसी विशुद्धता तथा प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध होते हैं। इनमें सबसे विलक्षण तथा कठिन घन पाठ है। वैदिक-साहित्य, संसार के साहित्य में एक विलक्षण एवं विस्मयावह निधि है। यही वेदों की उत्पत्ति तथा वृद्धि की कहानी है।

"वेदों में स्वर लगाने के मुख्य नियम"

उपक्रम—

उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा का वैशिष्ट्य है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण किसी न किसी स्वर के साथ होता है। उपलब्ध सभी संहिताओं में स्वर लगते हैं। मुख्य स्वर तीन हैं—१—उदात्त, २—अनुदात्त तथा ३—स्वरित। जिस स्वर के उच्चारण में गात्रों का ऊपर की तरफ खिंचाव (आयाम) हो उसे उदात्त कहते हैं। जिस स्वर के उच्चारण में गात्रों की शिथिलता (विश्रम्भ) या अधोगमन हो उसे *अनुदात्त* कहते हैं। जिस स्वर के उच्चारण में गात्रों का तिर्यग्गमन (आक्षेप) हो उसे *स्वारित* कहते हैं।

भारतीय चिन्ह पद्धति—

उदात्त (चिह्न रहित), *अनुदात्त* (– चिन्ह) तथा *स्वरित* (। चिन्ह) यही चिन्ह इन तीनों स्वरों की पहचान हैं।

१—अनुदात्त के बाद बिना चिन्ह वाले वर्ण को उदात्त समझना चाहिए और स्वरित के बाद बिना चिन्ह वाले वर्ण को प्रचय (अनुदात्त) समझना चाहिए।

२—वैदिक भाषा में एक पद (शब्द) में सामान्यतया एक ही उदात्त रहता है बाकी स्वर अनुदात्त हो जाते हैं। चाहे वे उदात्त के आगे हों या पीछे (इन्हीं को निघात स्वर कहते हैं) "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्", किन्तु कहीं २ एक ही पद में दो उदात्त या सर्वथा उदात्त का अभाव भी रहता है। ये अपवाद-स्वरूप माने जाते हैं।

३—उदात्त के पीछे आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उसके बाद अव्यवहित उदात्त या स्वरित न हो। यदि अनुदात्त के बाद उदात्त रहेगा तो वह अनुदात्त ही रहेगा स्वरित नहीं होगा।

४—स्वरित के बाद आने वाले समस्त अनुदात्तों पर कोई चिन्ह नहीं होता, वे प्रचय या एक-श्रुति कहे जाते हैं। (स्वरित के बाद बिना चिन्ह रहने पर उन्हें स्वतः अनुदात्त समझ लेना चाहिए)।

५—अतिङन्त से परे आने पर सभी तिङन्त (क्रियावाचक) शब्द तथा सम्बोधन वाचक शब्द सब अनुदात्त ही होते हैं। अर्थात् किसी पद के बाद में आने पर तिङन्त तथा सम्बोधन वाचक शब्द सर्वानुदात्त होते हैं। पाद या वाक्य के आदि में रहने पर नहीं।

६—कहीं कहीं पर सम्बोधन पद का आदि का अक्षर ही उदात्त होता है।

७—जहाँ दो अनुदात्तों को दीर्घादेश होता है वहाँ दोनों के स्थान में स्वरित हो जाता है। "अव + अधमानि = अवाधमानि" में "वा" स्वरित हो गया है।

८—सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूप "मा–त्व–नः–वः" आदि भी उदात्त हीन याने सर्वानुदात्त ही होते है।

९—उदात्त से अव्यवहित पूर्व में रहने वाले अनुदात्त का प्रचय नहीं होता और इसीलिए वह अनुदात्त के चिन्ह (नीचे आड़ी रेखा-) से चिन्हित होता है। उदात्त से अव्यवहित पूर्व का अनुदात्त कभी नहीं बदलता, न वह स्वरित होता है न प्रचय ही। उदाहरणार्थ—(ऋ० १।३२।२) "वाश्रा ईव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमवं जग्मुरापः" इस मन्त्र में "श्रा" उदात्त है इससे परे अनुदात्त "इ" स्वरित हो गयी है। "धेनवः" यदि स्वतन्त्र रहेगा (पद पाठ में) तो उदात्त "न" के अनन्तर "व" स्वरित हो जायगा, किन्तु संहिता पाठ में अगले उदात्त "स्य" से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से बदलता नहीं (याने अनुदात्त ही रहेगा)। "स्यन्दमाना" में

स्वरित "द्" के अनन्तर "मा" एवं "ना" दोनों प्रचय स्वर हैं (याने पद पाठ में इन पर अनुदात्त का चिन्ह नहीं लगता)। परन्तु संहिता पाठ में इसके अनन्तर "अङ्गः" आता है जिसका "अ" उदात्त है। अतः उदात्त से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से "ना" अनुदात्त ही रहा प्रचय नहीं हुआ और तदनुसार (संहिता पाठ में) अनुदात्त का चिन्ह वहाँ विद्यमान है। इसी प्रकार स्वरित "व" के अनन्तर "ज" प्रचय है तथा पदपाठ में "ग्मु" भी प्रचय होगा, किन्तु संहितापाठ में उदात्त "आ" से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से "ग्मु" अनुदात्त ही है, प्रचय नहीं हुआ। पदपाठ करते समय इन नियमों का पालन नितान्त आवश्यक है।

संहितापाठ और पदपाठ में भेद—

संहितापाठ में एक पद (शब्द) का प्रभाव निकटवर्ती पदान्तर पर पड़ता है, किन्तु पदपाठ में नहीं पड़ता कारण कि पदपाठ में प्रत्येक पद स्वतन्त्र होता है। पदपाठ मनुष्य-कृत है और संहिता या मन्त्र पाठ ऋषि प्रणीत है या अनादि है। अतः यज्ञ-यागादि में संहिता से ही काम लिया जाता है पदों से नहीं।

पद पाठ के नियम—

संहिता पाठ को पद पाठ में परिवर्तित करने के लिए कई नियम हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। जो इसप्रकार हैं—

१—सब सन्धियों को पृथक् कर देना चाहिए।

२—समासयुक्त पदों के बीच में अवग्रह (ऽ चिन्ह) रखकर उन्हें अलग कर देना चाहिए, परन्तु पूर्व पद में किसी प्रकार का परिवर्तन होने पर यह नियम नहीं लगता।

३—दो से अधिक पद वाले समस्त पदों में केवल अन्तिम पद ही अन्य पदों से अवग्रह द्वारा पृथक् दिखाया जाता है।

४—किसी प्रकार के स्वर परिवर्तन के अभाव में "सु, भिः एवं भ्यः,- तर, तम, मत एवं वत प्रत्यय तथा अकारान्त नाम धातुओं में अकार के दीर्घ होने पर य तथा यु" ये सब अवग्रह (ऽ) के द्वारा पृथक् किए जाते हैं। जैसे "समत्सु" = "समत् ऽसु" इत्यादि।

५—सन्धिजन्य मूर्धन्य वर्णका परिवर्तन दन्त्य में होता है। जैसे— "ष्ठ का स्थ में" एवं दीर्घीकृत "आ" तथा ई" को लघु कर देना चाहिए।

६—ओकारान्त सम्बोधन, द्विवचनान्त तथा अन्य प्रगृह्य स्वरों के साथ "इति" शब्द जोड़ा जाता है। जैसे "सदो द्वा चक्राते उपमादिवि" का पदपाठ करने मे प्रगृह्य संज्ञक "चक्राते" का पदपाठ "चक्राते इति" होगा, द्विवचनान्त "रोदसी" का पदपाठ "रोदसी इति" होगा, सम्बोधन वाचक ओकारन्त "विष्णो" का पदपाठ "विष्णो इति" होगा तथा संहितास्थ "ऊ" का पदपाठ "ॐ इति" होता है।

७—पदपाठ में स्वरों के परिवर्तन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उपरोक्त नियमों के अनुसार उदात्त स्वर तो यथा स्थान रहता है, किन्तु अनुदात्त का कहीं स्वरित हो जाता है और कहीं स्वरित को अनुदात्त में परिवर्तित करना पड़ता है।

"रूडाल्फ राथ—"

(Rudalph Roth)

रूडाल्फ राथ महाशय फ्रेञ्चविद्वान् बर्नफ के शिष्य थे। योरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन के इतिहास में १८४६ ई० स्मरणीय रहेगी। इसीवर्ष "वैदिक साहित्य और इतिहास" नामक छोटी सी परन्तु चिरस्मरणीय पुस्तिका "रूडाल्फ राथ" ने लिखी थी। इस पुस्तिका

से योरोप में वैदिक-साहित्य के अनुशीलन की ओर वास्तविक एवं गहरी प्रवृत्ति पैदा हुई।

योरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन के इतिहास में " राथ " का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। उनके समय तक उक्त अनुशीलन योरोप में जिस दृष्टि कोण से होता था, उसमें एक नया युग उपस्थित हो गया। आप को ऐतिहासिक दृष्टि से तथा स्वतन्त्र रीति से वैदिक-साहित्य के अनुशीलन की पद्धति का पथ प्रदर्शक कहा जा सकता है। आप से प्रथम विद्वानों का विचार था कि वेदों के अर्थ के लिए हमें भारतीय विद्वान् "सायण" आदि के भाष्यों का ही अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि हम वेदों का अर्थ स्वतन्त्र रीति से नहीं कर सकते। राथ ने दिखला दिया कि वेदों का अर्थ वैदिक-साहित्य से सैकड़ों वर्ष बाद के साहित्य की सहायता से नहीं, बल्कि वेदों की ही सहायता से करना चाहिए। आपने कहा कि सन्दिग्ध स्थानों में कठिन शब्दों का अर्थ जानने के लिए हमें वेदों के ही वे वाक्य देखने चाहिए, जहाँ जहाँ वह शब्द आया है।

किन्तु हमारी सम्मति में आप का महत्त्व *"सेएटपिटर्स-वर्ग-संस्कृत-जर्मन-महाकोष"* के कारण है। वस्तुतः इस महाकोष के लिए तो भारतीयों को आप का तथा आप के सहयोगी *"वेइटलिंग महोदय"* का आभारी होना चाहिए। यह संस्कृत-जर्मन महाकोष करीब १० हजार पृष्टों का है, जो कि ७ भागों में विभक्त है। इस का प्रकाशन ई०१८५५ से १८५७ तक "पीटर्सवर्ग" नामक शहर में हुआ। इसमें प्रत्येक शब्द को लेकर उसके वैदिक-साहित्य तथा पिछली संस्कृत तक में जो-जो अर्थ हो सकते हैं, उन सबको दिया गया है। साथ में प्रमाण रूप में उन २ स्थलों का निर्देश भी किया गया है,—जहाँ जहाँ वह शब्द भिन्न २ अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार वास्तव में प्रत्येक शब्द का इतिहास इसमें मिलता है। इस पुस्तक की पुरानी प्रतियों का मूल्य एक हजार रुपिया मांगा जाता

था। इस कोष के वैदिक भाग का निर्माण "राथ महोदय" ने और संस्कृत-साहित्य वाले भाग का निर्माण उनके सहयोगी "वेइटलिङ्क महोदय" ने किया है। पुराना होने पर भी यह कोष संस्कृत प्रेमियों के लिए गर्व की चीज है।

"आर्यों का आदि देश"

सामान्यपरिचय—

आर्य कौन थे, कहाँ से आए थे, अथवा भारत से ही अन्य देशों में फैले? ये प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद हैं। *भाषा-शास्त्रियों* का कहना है कि गङ्गा और यमुना के मैदान से होते हुए हौलेण्ड देश तक तथा एशिया के निकटवर्ती देशों में जितनी भाषायें हैं उन सबके शब्द एक ही भाषा से उद्भूत जान पड़ते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्धान्त बना कि ये सारे भाषा-भाषी लोग किसी समय एक ही जगह के रहने वाले थे। वह जगह कौन थी अब यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मत हैं जिनमें निम्नाङ्कित मुख्य हैं—

(१)—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आर्यों का मूल स्थान मध्य-एशिया है। इनके कथनानुसार यहीं से आर्य लोग भारत में गए।

(२)—लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक के अनुसार कुछ ऋग्वेद की ऋचाओं के आधार पर आर्यों का मूल देश उत्तरी ध्रुव के आस-पास था।

(३)—तीसरा मत आर्यों को भारतीय ही मानता है। इस सिद्धान्त के भी दो प्रकार हैं। जो इस प्रकार हैं—

(क)—डा० अविनाश चन्द्र दास और डा० सम्पूर्णानन्द इस मतके

समर्थक हैं कि आर्यों का मूल निवास स्थान प्राचीन-सप्तसिन्धु (वर्तमान पञ्जाब प्रदेश) था।

(ख)—दूसरा पक्ष डा० राजवली पाण्डेय का है। जो यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि मध्यदेश या वर्तमान उत्तर-प्रदेश तथा बिहार का कुछ भाग आर्यों का मूलस्थान है। उनका यह कहना है कि समूचे भारतीय साहित्य में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो निश्चित रूप से यह बतलाये कि आर्य कहीं बाहर से आए थे।

(४)—कुछ लोगों के अनुसार मनुष्य का प्रथम सृजन त्रिविष्टप (तिब्बत-भारत वर्ष) में होने से यही आर्यों का आदि देश माना गया है।

"वैदिक साहित्य के क्षेत्र में पाश्चात्य-वेदज्ञों के कार्य—"

वेद के अनुशीलन की ओर पाश्चात्य लोगों का ध्यान १८ वें शतक के अन्तिम काल में तब हुआ जब १७८४ ई० में "*सर विलियम-जोन्स*" ने कलकत्ते में "*बंगाल एशियाटिक सोसाइटी*" नामक *रिसर्च-*इंस्टिट्यूट (शोधसंस्था) की नीव रखी। इसी समय से पाश्चात्यों का ध्यान संस्कृत भाषा तथा साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ, तब से लेकर आज तक उनका प्रयत्न विशेष रूप से इस ओर जारी है।

आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व "*कोलब्रू साहब*" ने "*एशियाटिक-रिसर्चेज*" नामक पत्र में वेद के ऊपर एक विस्तृत एवं विवेचनात्मक निबन्ध लिखा, जिसमें वेद के नाना ग्रन्थों के विवरणों के साथ साथ उनका महत्त्व भी प्रदर्शित करने का उन्होंने सफल प्रयास किया। वेदानुशीलन के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का यह प्रथम प्रयत्न है।

इस निबन्ध ने पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान वैदिक-साहित्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया।

वैदिक अनुशीलन के इतिहास में १८४६ ई० योरोप में चिरस्मरणीय रहेगी, क्योंकि इसी वर्ष *"रूडल्फ राथ"* जिनके विषय में आगे कहा जा चुका है, ने *"वैदिक साहित्य तथा इतिहास"* नामक छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखकर योरोप में वेद के अध्ययन एवं अनुशीलन के प्रति एक गम्भीर प्रवृत्ति पैदा की। इसके अतिरिक्त उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *"सेण्ट-पीटर्स-वर्ग-संकृत-जर्मन-महाकोष"* है जो कि उनकी वैदिक-साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन है।

राथ महोदय के सहपाठियों तथा शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है, जिसने वेद के अनुशीलन में विशेष भाग लिया है। इन पश्चिमी विद्वानों के कार्य को हम कई भागों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे-(१)-वैदिक ग्रन्थों का वैज्ञानिक तथा शुद्ध संस्करण, (२)-वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद, (३)-वेदार्थ के अनुशीलन विषयक ग्रन्थ तथा (४)-वैदिक संस्कृति के रूप प्रकाशक व्याख्या-ग्रन्थ आदि। यहाँ प्रत्येक वर्ग के कुछ प्रमुख विद्वानों का उल्लेख करना आवश्यक है—

(१)-वैदिक ग्रन्थों का संस्करण—

इस क्षेत्र में पश्चिमी विद्वानों के अग्रगण्य *"मैक्समूलर"* का नाम प्रमुख है जिन्होंने वेद के विषय में अनेक ग्रन्थों की रचना कर उनके सिद्धान्त तथा धर्म को पश्चिमी देशों में लोक-प्रिय बनाया। पाण्डित्य के साथ २ सहानुभूति भी उनकी विशेषता थी। वे भारतीय-धर्म, दर्शन तथा संकृति के प्रति सहानुभूति रखते थे। और भारतीयों के हृदय तक पहुँचने का प्रयास करते थे। उनके ग्रन्थ आज भी उनकी विद्वत्ता एवं उदारता के प्रतीत हैं। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य ऋग्वेद के सायण भाष्य का विवेचना-पूर्ण सम्पादन करना है। *"प्राचीन वैदिक संस्कृत-साहित्य"* नामक ग्रन्थ में वैदिक साहित्य की विद्वत्तापूर्ण मीमांसा

करने के अलावा उन्होंने *"पवित्र प्राच्यग्रन्थ माला"* में स्वयं तथा अपने अन्य पश्चिमी विद्वानों के द्वारा वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में डा० वेबर आदि अन्य पश्चिमी विद्वानों का नाम भी उल्लेखनीय है।

(२)-अनुवाद—

वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद की ओर भी पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि आरम्भ से ही रही है। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व *"डा० विल्सन"* ने ऋग्वेद का सायणभाष्य के अनुसार अंग्रेजी में पूरा अनुवाद किया। इनके अलावा जर्मन विद्वान् *"ग्रासमान"* ने पद्य में तथा *"लुड्विग"* ने गद्य में ऋग्वेद का अनुवाद जर्मन भाषा में किया। *"ग्रिफिथ"* ने यजुर्वेद की माध्यन्दिनी-संहिता का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद किया है। *"डा० कीथ"* ने ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों का उपोयगी भूमिका के साथ महत्त्वपूर्ण अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों, प्रातिशाख्यों, निरुक्त आदि ग्रन्थों का भी पाश्चात्य विद्वानों ने अनुवाद किया है।

(३)-व्याकरण—

वैदिक व्याकरण के क्षेत्र में भी "ह्निट्नी, मैक्डनल, डा० वाकरनागेल" आदि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

(४)-वैदिक छन्द—

"प्रो० वेवर" आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक छन्दों का भी अध्ययन करके विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

(५)-वैदिक पुराण विज्ञान—

प्रो० मैक्समूलर, मैक्डनल तथा जर्मन विद्वान् *हेलिब्राएट* आदि ने वैदिक धर्म एवं पुराण-विज्ञान पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

(६)–वैदिक-साहित्य का इतिहास—

इस विषय में ३—४ ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। डा० बेबर, *मैक्डनल मैक्समूलर* एवं *विण्टरनिज* आदि विद्वानों के एतद्विषयक ग्रन्थ महत्त्व-पूर्ण एवं नितान्त उपादेय हैं।

(७)–वैदिक-साहित्य की सूचियाँ—

वैदिक ग्रन्थों के विशुद्ध एवं वैज्ञानिक संस्करणों के लिये सूचियों का विशेष उपयोग होता है। अतः पाश्चात्य विद्वानों ने इस ओर भी पूर्ण ध्यान दिया है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में सत्यता एवं निष्ठा से कार्य करते हुए पाश्चात्य विद्वानों ने इस साहित्य को विस्तृत एवं परिशुद्ध करने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

"विभिन्न समयों के भारतीय साहित्य में वेदों का महत्त्व—"

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरव पूर्ण है। श्रुति की दृढ़ आधार शिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन एवं धर्म-कर्म को भली प्रकार समझने के लिए वेदों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। अपने प्रातिभ चक्षु के सहारे ऋषियों के द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों की विशाल एवं विमल राशि का नाम ही वेद है।

वेदोंके ऊपर हिन्दु जाति की अनन्त काल से दृढ़ श्रद्धा है। पृथ्वी के किसी भी भाग में रहने वाला कोई भी आस्तिक हिन्दू अपने धर्म के मूलग्रन्थ वेदों को ही स्वीकार करता है। जब से आर्य जातिका अस्तित्व है तभी से यह धारणा लोगों की है। अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों से

लेकर तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों तक में वेदों की अपार महिमा गाई गई है। यहीं तक नहीं, हिन्दुओं के अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ वेदों को परमात्मा की तरह नित्य मानते हैं।

हम ईश्वर के विरोध को सहन कर सकते हैं, किन्तु वेद से आंशिक विरोध भी हमारी दृष्टि में असह्य है। ईश्वर की सत्ता न मानने वाले दर्शन भी *"आस्तिकता से विहीन"* नहीं कहे जा सकते किन्तु वेद की प्रामाणिकता में विश्वास न करने वाले दर्शनों पर नास्तिकता की पक्की छाप पड़ी रहती है। *आस्तिक* वही है जो वेदों को प्रामाणिक मानता है और *नास्तिक* वही है जो वेदों की निन्दा करे।

कौषीतकी-ब्राह्मण तथा ऐतरेय-ब्राह्मण आदि का कहना है कि वेद मन्त्र देखे गए हैं। सूक्तों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम रहते हैं वे ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं दर्शक हैं। *कात्यायन* के "सर्वानुक्रम-सूत्र" में भी ऋषियों को स्मर्ता या द्रष्टा बताया गया है। *याज्ञवल्क्य* ने भी अपनी *स्मृति* में यही सिद्ध किया है। *शङ्कराचार्य* ने भी शारीरक-भाष्य में वेद-नित्यता प्रतिपादक अनेक तर्कों को प्रस्तुत किया है। निरुक्त, आरण्यकों, उपनिषदों, कल्पसूत्रों, वेदाङ्ग-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में भी वेदों की नित्यता का प्रतिपादन किया गया है। सबसे बड़े तर्क-समुद्र दर्शनों ने भी वेदों को नित्य एवं अपौरुषेय स्वीकार किया है।

मनु-महाराज तो वेदों की नित्यता के समर्थक हैं ही। मनुस्मृति के टीकाकार *कुल्लूकभट्ट* की तो यह धारणा है कि वेद प्रलय काल मे भी नष्ट नहीं होते उस समय वे परमात्मा मे अवस्थित रहते हैं—"प्रलयकालेऽपि परमात्मनि वेदराशिः स्थिता"। मनु महाराज ने वेदों को नित्य तथा ज्ञानागार बताया है। वेद के शब्दों की प्रामाणिकता के आगे उन्होंने प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों को भी तुच्छ बताया है।

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥"

वेद के न मानने वाले को ही मनु ने नास्तिक कहा है, ईश्वर को न मानने वाले को नहीं। अधिकांश सनातनियों तथा सभी आर्यसामाजियों का तो यह विश्वास है कि वेद हिरण्यगर्भ (Cosmic egg) से सम्भूत हैं। स्वयं भगवान् बुद्ध एवं तीर्थङ्कर स्वामी *महावीर* वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। गुरु गोविन्दसिंह वेदों के बड़े ही प्रेमी थे।

इस प्रकार देखा जाता है कि हिन्दू जाति के हृदय पर वेदों का अगम्य काल से अखण्ड साम्राज्य स्थापित है। वेदों की उच्छिन्नता की सम्भावना से हिन्दू जाति की *राजकुमारी* तक—"को वेदानुद्धरिष्यति" की विभीषिकामयी चिन्ता में मूर्छित हो जाती है। *कुमारिलभट्ट* जैसे विद्वान् प्राणों की बाजी लगाकर वेद-विरोधियों की विकट वाहिनी के समक्ष कूद पड़ते हैं। "वेदा विच्छिद्य वीथीषु विक्षिप्यन्ते" की दारुण दुर्दशा को देखकर *"शिवाजी"* जैसे वीर क्षत्रिय तलवारों की नङ्गी धारों पर नाचने लगते हैं। वेदों की उपेक्षा देखकर स्वामी दयानन्दजी जैसे महापुरुषों ने वेदों के प्रचारार्थ अपना जीवन भी समर्पित कर दिया।

यथार्थतः हिन्दू वेदों को प्राणों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। धार्मिक हिन्दू वेदों की ज्ञान-गरिमा पर मुग्ध हैं तो इतिहासज्ञ हिन्दू उनकी प्राचीनता पर। वेद हिन्दू धर्म की आशा-स्थली हैं, हिन्दुत्व की सजल वाटिका हैं और हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के सुदृढ़ दुर्ग हैं। वेदों को प्रमाण मानना ही हिन्दू धर्म को मानना है, क्योंकि वेद ही हिन्दू धर्म के मूल हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से लेकर आजतक भारतीय समाज तथा साहित्य में वेदों का महत्त्व पर्याप्त रूप में पाया जाता है।

"वेदों में दर्शनों का मूल श्रोत"—

भारतीय संस्कृति का मूल श्रोत ऋग्वेद में पाया जाता है। संस्कृति के प्रत्येक पहलू का उद्गम और आदि स्वरूप ऋग्वेद में मिलता है। अतः यह स्वाभाविक है कि दर्शनों का बीज भी ऋग्वेद मे मिले। जहाँ वेदों में एक ओर प्रकृति की सौन्दर्यमय कला है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के पीछे छिपी हुई अलौकिक दिव्यशक्ति का आवाहन भी। भारतीय दर्शन शास्त्र का विकास ऋग्वेद एवं उपनिषदों से हुआ है।

ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन होते हैं—(१)—प्रतिभा या प्रज्ञा-मूलक तथा (२)—तर्क-मूलक। इन दोनों प्रवृत्तियों के योग से उपनिषदों के तत्वज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका पर्यवसान आत्मा एवं परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले वेदान्त में हुआ। यहाँ प्रसंग-वश यह कह देना भी आवश्यक हैं कि उपरोक्त ऋग्वेद की द्विविध प्रवृत्ति में प्रतिभा या प्रज्ञा मूलक प्रवृत्ति से वेदान्त का तथा द्वितीय तर्कमूलक प्रवृत्ति से शेष दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि दर्शन शास्त्र का मूल "सन्देह" की भावना में पाया जाता हैं। वैदिक ऋषि प्रकृति की जिन दिव्य शक्तियों का आवाहन करते थे, उनके विषय में संशय की भावना भी ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से मिलती है। अतः यह स्पष्ट है कि दर्शनों के मूल श्रोत भी वेद ही हैं।

"वेदों की प्रामाणिकता"

आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के विभेद का मुख्य साधन "वेद-प्रामाण्य" ही है। नास्तिक (चार्वाक, जैन तथा बौद्ध) वेदों को प्रमाण नहीं मानते। उधर षड्दर्शन ईश्वर के अस्तित्व के विषय में ऐकमत्य न

रखने पर भी, वेदों की प्रामाणिकता को समान रूप से स्वीकार करते हैं। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अनेक युक्तियों द्वारा वेदों के प्रामाण्य का खण्डन किया है, किन्तु आस्तिक षड्दर्शनों ने अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा इनके मतों का खण्डन करके वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध किया है जिससे वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। यहाँ संक्षेप में षड्दर्शनों के वेदों की प्रामाणिकता के साधक सिद्धान्तों का निर्देश किया जाता है। जो इस प्रकार हैं—

१—न्याय-वैशेषिकमत—

इनका कथन है कि वेद का प्रामाण्य आप्त के प्रामाण्य के कारण है। *वाचस्पति मिश्र* ने जगत् कर्ता परमेश्वर को नित्य (आप्त), सर्वज्ञ एवं पर-मकारुणिक कहा है। उस परमेश्वर के द्वारा मानवों के कल्याणार्थ दिए गए उपदेश ही वेद हैं। वेद के वक्ता के नित्य एवं सर्वज्ञ होने से वेद की प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है—"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (तद्वचनात् = तेन ईश्वरेण प्रणयनादित्यर्थः)। अर्थात् सर्वज्ञ, वेद के आदि वक्ता ईश्वर के प्रामाण्य के कारण ही वेद का प्रामाण्य है।

यद्यपि मीमांसकों के शब्द-नित्यत्त्व का खण्डन कर नैयायिकों ने शब्द के अनित्यत्त्व का समर्थन किया है, तौभी वेदवाक्य को नित्य एवं सर्वज्ञ ईश्वरोक्त होने से वे प्रामाणिक मानते हैं। संक्षेप में न्याय-वैशेषिक दर्शनों के अनुसार वेद पौरुषेय एवं प्रामाणिक है।

२—सांख्य-योगमत—

वेद के विषय में सांख्य एवं योग का मत न्याय-वैशेषिक मत के एकदम विपरीत है। ये लोग वेद को अपौरुषेय मानते हैं। क्योंकि ये ईश्वर (पुरुष) का निषेध करते हैं इसलिए ये वेदों को पौरुषेय नहीं मान सकते। इनका मत है कि श्रुति के अनुसार उस *महाभूत* के

निःश्वास ही वेद हैं। स्वास प्रश्वास तो स्वतः आविर्भूत होते हैं। उनके उत्पादन में पुरुष की कोई भी बुद्धि नहीं होती। अतः "*उस महाभूत*" के निःश्वास रूप वेद स्वतः अविर्भूत होने से पौरुपेय (ईश्वर कृत) न होकर अपौरुषेय (स्वतः उत्पन्न) हैं। अपनी स्वाभाविक शक्ति (यथार्थ ज्ञान की उत्पादक शक्ति) की अभिव्यक्ति के कारण वेद स्वतः प्रामाण्य हैं। इस प्रकार साँख्य-योग में वेद को अपौरुषेय एवं स्वतः प्रमाण माना गया है।

३—वेदान्त का मत—

वेदान्त का मत भी इस मत के साथ साम्य रखता है। यह भी वदों को नित्य, अपौरुषेय एवं स्वतः प्रमाण मानता है। पुरुष के निःश्वास के समान सर्वज्ञान के आगार वेद भी अनायास ही उस पुरुष के लीला-न्यास से सम्भूत माने गए हैं। वेद की उत्पत्ति में उस ब्रह्म का कोई भी प्रयत्न नहीं है। वेद नित्य हैं। प्रलय काल में उनका तिरोधान होता है एवं सृष्टि के आरम्भ में पुनः महर्षियों के तपोबल से उनकी स्फूर्ति हो जाती है।

४—मीमांसकमत—

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं तथा नैयायिकों के "*शब्दा-नित्यत्व*" के सिद्धान्त को अपने तर्कों से खण्डित करते हैं। इनके मत में भी वेद अपौरुषेय हैं। वे स्वतः आविर्भूत होने वाले नित्य पदार्थ हैं। उनकी उत्पत्ति में किसी भी पुरुष (ईश्वर) का कोई उद्योग नहीं। अतः वेदों की नित्यता एवं प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हैं।

स्मृति तथा पुराणों का मत—

स्मृति तथा पुराणों में वेद-विषयक भावना प्रायः मीमांसक मत के अनुकूल है। मनुस्मृति में वेद एवं वेदज्ञ की महिमा का गान किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि भारत वर्ष के नाना दर्शन-विभाग एक मत से वेद की नित्यता, स्वतः प्रामाण्यता एवं मानव मात्र के लिए उपदेशोपयोगिता के रूप में पूर्ण विश्वास करते हैं। अधिकांश लोग वेदों को अपौरुषेय ही मानते हैं। पौरुषेय मानने वाले नैयायिक भी उसे सर्वज्ञ ईश्वर की रचना मानकर नित्य एवं प्रामाणिक मानते हैं।

"वेदों में अद्वैतवाद या वेदान्त सम्बन्धी विचार"—

उपनिषद् एवं वेदान्त के इस सिद्धान्त का कि—"एक ही ब्रह्म सारे विश्व में व्याप्त है या सारा विश्व ही ब्रह्मरूप है," मूल बीज ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। *पुरुष-सूक्त* मे स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि "पुरुष एवेदं सर्वम्-" (यह सब पुरुष ही है)। इसी प्रकार *नासदीय-सूक्त* में भी एक गम्भीर एवं सूक्ष्म दार्शनिक प्रवृत्ति पाई जाती है।

वेद की प्रज्ञा-मूलक एवं तर्क-मूलक द्विविध प्रवृत्तियों के योग से उपनिषद् के तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और औपनिषद्-तत्त्व का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले प्रज्ञा-मूलक वेदान्त में हुआ।

यास्क के अनुसार इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वपूर्ण शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्य शालिनी होने से "*ईश्वर*" कहलाती है। वह अद्वितीय है। उसी एक देवता की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है—"महाभाग्याद्देवताया एक एव आत्मा वहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।"

यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न २ शक्तियों के प्रतीक हैं। "*बृहद्देवता*" भी इसका समर्थन करता है। सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही कारण सत्ता कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न २ आकारों

से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता, एक ही नियन्ता तथा एक ही देवता वर्तमान है। अन्य सभी देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकास मात्र हैं। इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न २ प्रकार से वैदिक ऋषियों ने किया है।

ऐतरेय-आरण्यक में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—"एक ही महती सत्ता की उपासना *ऋग्वेदी* "उक्थ" में किया करते हैं। उसी की *यजुर्वेदी* "याज्ञिक अग्नि" के रूप में एवं *सामवेदी लोग* "महाव्रतनामक-याग" में किया करते हैं। *शंकराचार्य* ने भी इस बात का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का प्रमाण भी इस विषय में सुस्पष्ट है।

ऋग्वेद में देवता गण को *असुर* कहा गया है—(असुविशिष्ट या प्राणशक्ति सम्पन्न)। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। असुर का अर्थ बल है। देवतागण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्तकर स्थित हैं। देवों का महत्सामर्थ्य एक ही है। एक ही शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। इन सब प्रमाणों से वेदों में-अद्वैततत्व की सत्ता सुस्पष्ट हो जाती है।

"वैदिक एवं क्लासिकल संस्कृत में भेद"—

यद्यपि निरन्तर सम्बन्ध होने से मनुष्य भाषा की परिवर्तन-शीलता को ठीक २ अनुभव नहीं कर सकता और उसे यही प्रतीत होता है कि उसकी भाषा उसी रूप में है, किन्तु वस्तुतः समय की गति के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ-यदि हम (१)-ऋग्वेद की एक ऋचा को, (२)-किसी ब्राह्मणग्रन्थ के एक वाक्य को, (३)-वाल्मीकिरामायण के एक पद्य को, (४)-किसी संस्कृत नाटक की एक प्राकृत गाथा को एवं (५)-रामचरितमानस की एक चौपाई को

लेकर उनकी भाषा की तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि समय के भेद से भाषा में कितना परिवर्तन हो जाता है। यदि ऋग्वेद की संस्कृत एवं कालिदास आदि के समय की संस्कृत भाषा की ही तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि समय के भेद से इन दोनों में ही कितना अन्तर हो गया है।

प्रातिपदिक तथा धातुओं के रूपों की बहुतायत एवं अन्य प्रकार से बने हुए शब्दों की विभिन्नता जितनी ऋग्वेदीय संस्कृत में है, उतनी पिछली संस्कृत में नहीं। उदाहरणार्थ—*प्रातिपदिक* रूपों की बहुतायत के उदाहरण निम्न हैं—

ऋग्वेदीय संस्कृत	— पिछली क्लासिकल संस्कृत।
(१)-मर्त्यासः, मर्त्याः,	— मर्त्याः (एक ही रूप बनता है)।
देवासः, देवाः,	— देवाः ,, ,, ।
जनासः, जनाः,	— जनाः ,, ,, ।
देवेभिः, देवैः,	— देवैः ,, ,, ।
अग्नौ, आग्ना,	— अग्नौ ,, ,, ।
पूर्वेभिः, पूर्वैः,	— पूर्वैः ,, ,, ।
युवाम्, युवम्,	— युवाम् ,, ,, ।

(२)—*धातुरूपों* की बहुलता तो और भी अधिक है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेदीय संस्कृत	— पिछली क्लासिकल संस्कृत।
इमः, इमसि,	— इमः (एक ही रूप बनता है)।
स्मसि, स्मः,	— स्मः ,, ,, ।
ईष्टे, ईशे, ईशते,	— ईष्टे ,, ,, ।
श्रुधि, शृणुधि, शृणुहि, शृणु,	— शृणु ,, ,, ।

इसी प्रकार अनेक शब्द ऐसे हैं जो वैदिक संस्कृत में पाये जाते हैं किन्तु पिछली संस्कृत में यातो मिलते ही नहीं या दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किए गए हैं। उदाहरणार्थ—

(३)—दर्शत (दर्शनीय), मूर (मूढ), ऋदूदर दयालु), अमीवा (रोग), रपस (रोग) आदि शब्द वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं किन्तु पिछली संस्कृत में ये शब्द मिलते ही नहीं। वैसे वैदिक शब्दों के उदाहरण जो पिछली संस्कृत में दूसरे अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, कुछ नीचे दिए जाते हैं—

ऋग्वेदीय संस्कृत		पिछली क्लासिकल संस्कृत।
(४)-*अराति*=शत्रुता, कृपणता,	—	*अराति* = शत्रु ।
वध = कोई भयङ्कर हथियार,	—	*वध* = मारडालना।
मृडीक = कृपा या अनुग्रह,	—	*मृडीक* = शिवजी का नाम।
न = जैसे (इव), नहीं,	—	*न* = नहीं। (इत्यादि)।

(५)—इसके अतिरिक्त लेटलकार का प्रयोग वेदों में बहुत होता है, किन्तु पिछली संस्कृत में नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि पिछली संस्कृत में *भाववाचक*—कर्तुं, पठितुं आदि शब्दों में केवल तुमुन् प्रत्यय ही होता है, किन्तु वेदों में इसी अर्थ में-ए, असे, से, ध्यै, अध्यै, तवै आदि का भी प्रयोग होता है। शुद्ध तुमुन् प्रत्यय का प्रयोगतो सारे ऋग्वेद में केवल पांच ही बार हुआ है।

(६)—इसके अलावा वेद में किसी भी शब्द के किसी भी विभक्ति के किसी भी वचन के स्थान पर उस शब्द के प्रथमा के एक वचन का प्रयोग किया जा सकता है।

(७)—किसी भी मूल शब्द का उसके किसी भी विभक्ति के किसी भी वचन के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है।

(८)—स्वरान्त शब्दोंके अन्तिम स्वर को दीर्घ करके उसी मूल शब्द

को उसकी किसी भी विभक्ति के किसी भी वचन के स्थानपर प्रयोग किया जा सकता है।

(९)—वैदिक भाषा में सर्वनाम शब्द-तत् के स्थान पर त्यत्, स के स्थान पर स्य, सा के स्थान पर स्या, आवाम् के स्थान पर वाम् आदि का भी प्रयोग होता है।

(१०)-वैदिक भाषा में कभी षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी तथा चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का भी प्रयोग पाया जाता है।

(११)-वैदिक भाषा में लुङ्, लङ् और लिट् लकारों का प्रयोग किसी भी लकार के स्थान में किया जा सकता है। ये सब बातें पिछली संस्कृत में नहीं मिलती हैं।

(१२)-वैदिक संस्कृत में छन्द उतने परिष्कृत नहीं हैं जितने नियमित एवं परिष्कृत पिछली संस्कृत में हैं।

(१३)-पुनर्जन्म का सिद्धान्त, अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, पौराणिक गाथाओं के कलात्मक वर्णन लौकिक संस्कृत में पाये जाते हैं। वैदिक संस्कृत में वे सूक्ष्म एवं सरल रूप में पाये जाते हैं।

(१४)-इतनी कृत्रिमता वैदिक भाषा में नहीं जितनी पिछली संस्कृत में। वैदिक संस्कृत में धर्मपरक साहित्य लिखा गया है। उसमें लौकिक जीवन को अधिक नहीं अपनाया गया है, किन्तु लौकिक संस्कृत में लौकिक विषयों को ही महत्त्व दिया गया है। वैदिक देवता भी लौकिक संस्कृत में गौण हो गए।

इस प्रकार वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत में पर्याप्त पार्थक्य हो गया और वैदिक-साहित्य एवं लौकिक-साहित्य के ज्ञाता के लिए सर्वथा दुरूह एवं जटिल हो गया। उपरोक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय आर्य-भाषाकी ही दो अवस्थाओं में समय के भेद से कितना अन्तर हो गया है।

"ब्राह्मण-साहित्य"

सामान्य परिचय--

ब्राह्मणों के आन्तरिक परीक्षण करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाले एक महनीय निधि हैं। संसार के किसी भी धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण जैसे ग्रन्थों का सर्वथा अभाव है, जिसमें कर्मकाण्ड, विशेषतः यज्ञ-यागादि के विधान का इतना साङ्गोपाङ्ग परिचय दिया गया हो। संस्कृत साहित्य में संहिताओं के अनन्तर दूसरा स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही है। ईश्वर-प्रार्थना के इतिहास में जैसे यजुर्वेद का महत्त्व है, वैसे ही यज्ञ और पौरोहित्य के इतिहास मे इन ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व है।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ—

ब्राह्मण ब्रह्मन् के व्याख्या परक ग्रन्थों का नाम है। वैदिक मन्त्रों के व्याख्यान उपस्थित करने के कारण ब्राह्मण का यह नाम है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ है *यज्ञ*। यहाँ तो ब्राह्मण शब्द का अर्थ किसी यज्ञ की क्रिया पर किसी विशिष्ट आचार्य का मत या टिप्पणी आदि है। सामूहिक रूप से ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ-विज्ञान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याओं की संहितायें (ग्रन्थ) हैं।

ब्राह्मणों का वर्ण्य-विषय (Subject matter) —

ब्राह्मण ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय यज्ञ की विविध क्रियाओं एवं उनके विधानों का विवेचन करना है। इस ग्रन्थों में यज्ञ-क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ भी यत्र तत्र दिए गए हैं और उनका सम्बन्ध प्रार्थना या ध्यान आदि से स्थापित किया गया है। कई स्थलों पर ये वेदों के विविध मन्त्रों पर दार्शनिक मत भी स्थापित करते हैं।

किस-किस यज्ञ से इस जन्म में तथा भावी जीवन में कौन कौन से फल यजमान को मिलते हैं, इसका भी विवेचन इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है। ये ब्राह्मण-ग्रन्थ वे ग्रन्थ हैं जिनमें यज्ञ-विधान तथा उसके फल का भली भाँति निरूपण किया गया है। इनमें दक्षिणा के फल पर भी प्रकाश डाला गया है। आशय यह है कि इन ग्रन्थों में यज्ञ तथा ब्राह्मण-धर्म का प्राधान्य ही वर्णित है। इनमें ब्राह्मणों के कर्तव्यों की ओर भी संकेत किया गया है। साथ ही यजमानों के कर्तव्यों का भी निर्देश किया गया है।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों मे ऐसे भी वर्णन मिलते हैं कि जो वस्तु दूसरों के लिए निषिद्ध थी, वह भी ब्राह्मण के लिए ग्राह्य थी। जैसे यज्ञ का बचा हुआ अन्न अन्य लोगों के लिए हानिकारक बताया गया है, किन्तु ब्राह्मणों के लिए वह भी लाभप्रद था। ब्राह्मणों को इन ग्रन्थों में "भूसुर" ही नहीं बल्कि देवत्त्व से भी ऊँचा स्थान प्राप्त है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में ब्राह्मणों का महत्त्व ही विशेष रूप से वर्णित है।

मोटी तौर पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१)-*विधि* एवं (२)-*अर्थवाद*। विधि का अभिप्राय नियम या सिद्धान्त से है। और अर्थवाद से तात्पर्य उनकी व्याख्या से है। अर्थवाद में प्रशंसा एवं निन्दा दोनों का समावेश रहता है। उसमें याग-निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा तथा यज्ञोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा रहती है।

इस प्रकार पहले तो ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रत्येक यज्ञानुष्ठान की विधि का उल्लेख रहता है और उसके अनन्तर अर्थवाद वाले भाग में उससे प्राप्त होने वाले फल की व्याख्या तथा उस अनुष्ठान कार्य का अर्थ समझाया गया है। उदाहरणार्थ—शतपथ-ब्राह्मण में पहले यज्ञ के लिए की गई प्रतिज्ञा का वर्णन है और पिछले भाग में उसकी व्याख्या की गई है।

इसके अतिरिक्त इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास, यज्ञ के सांकेतिक अर्थ एवं शब्दों की व्युत्पत्तियां तथा धार्मिक कृत्यों के वर्णन के साथ २ कितने ही आख्यानों का उल्लेख भी पाया जाता है, जिनमें तत्कालीन सामाजिक-जीवन के नैतिकस्तर एवं चारित्रिक विशेषताओं का भी पूरा २ पता लगता है। पुरुरवा तथा ऊर्वशी की कथा, प्रलय की कथा एवं सृष्टि-निर्माण की कथा आदि इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं जो इतिहास एवं पुराणों की मूल श्रोत हैं। संक्षेप में इन ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय निम्नाङ्कित हैं—

१—प्रार्थनायें तथा जादूमन्त्र, २—वेद के पवित्र ज्ञान का विवेचन, ३—सृष्टि के उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त एवं उनकी व्याख्यायें, ४—सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध कथायें, ५—ऐसे उपाख्यान जिनमें यज्ञों का महत्त्व वर्णित है, ६—शब्दव्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास एवं ७—जनक-कथायें जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झांकी विद्यमान है।

यहाँ यह बतलादेना भी आवश्यक है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में मुख्यता विधि को ही प्राप्त है। इनमें केन्द्र-बिन्दु विधि ही है जिसके चारों ओर निरुक्त, स्तुति, आख्यान, तथा हेतु-वचन आदि नाना विषय तदङ्गत्वेन तन्निर्वाहकतया विद्यमान होने से गौण हैं।

चारों वेदों के ब्राह्मण—

चारों वैदिक संहिताओं के अपने अपने ब्राह्मण हैं। जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ हुई थी। यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों से हमें ब्राह्मण-साहित्य के आरम्भ का पता चलता है। कृष्णयजुर्वेद-संहिता के वे स्थल जिनमें यज्ञ-क्रियाओं के विधान तथा उनके सम्बन्ध में विचार प्रकट किए गये हैं एवं जिनका सम्बन्ध साक्षात् वेद-मन्त्रों से है—प्रारम्भिक ब्राह्मण-ग्रन्थ ही हैं। सामवेद तथा अथर्ववेद से सम्बद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ तो वाग्जाल मात्र हैं।

ऋग्वेद के ब्राह्मण—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं (१)-*ऐतरेय* तथा (२)-*कौशीतकी*। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं जो आठ पञ्चकों में विभक्त हैं। इसमें सोम-यज्ञ का विस्तार पूर्वक वर्णन तथा अग्निहोत्र एवं राजरूप-यज्ञ का भी वर्णन मिलता है। कौशीतकी ब्राह्मण को सांख्यायन भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध भी विशेष रूप से ऐतरेय ब्राह्मण से ही है। ऐतरेय की लेखन शैली विशुद्ध ब्राह्मणोचित है। यह संहिता-काल की भाषा से बहुत दूर नहीं है। इसकी रचना में एक प्रकार की समानता पाई जाती है जिसमें किसी प्रकार के अवान्तर प्रक्षेप की कल्पना निराधार है। ऋग्वेद से सम्बद्ध यह (ऐतरेय) ब्राह्मण होतृ नामक ऋत्विज के विशिष्ट कार्य-कलापों का विवरण प्रस्तुत करता है।

सामवेद के ब्राह्मण—

सामवेद के उपलब्ध ब्राह्मण चार हैं-(१)-*ताण्ड्य-महाब्राह्मण*-इसमें २५ अध्याय हैं। यह ब्राह्मण प्राचीनतम ब्राह्मणों में से है। (२)-*षड्वींश-ब्राह्मण*-यह इसी ताण्ड्य-ब्राह्मण का विस्तार मात्र है। (३)-*सामविधान-ब्राह्मण* और (४)-*जैमिनीय-ब्राह्मण*-यह ताण्ड्य-ब्राह्मण से भी प्राचीन माना जाता है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—

यजुर्वेद के दो भाग हैं *कृष्णयजुर्वेद* तथा *शुक्लयजुर्वेद* इन दोनों शाखाओं के भी अपने २ ब्राह्मण हैं।

कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मण—

कृष्णयजुर्वेद का *तैत्तरीय* नामक एक ही ब्राह्मण उपलब्ध होता है। यह वास्तव में *तैत्तरीय-संहिता* का ही उत्तर कालीन विस्तार है, क्यों कि कृष्णयजुर्वेद-संहिता में ब्राह्मणों का समावेश आरम्भ से ही हो गया

था। इस ब्राह्मण में "पुरुषमेध" का वर्णन है किन्तु संहिता में पुरुषमेध का वर्णन नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि यह ब्राह्मण बहुत पीछे बना होगा।

शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण—

शुक्ल यजुर्वेद का प्रमुख एवं प्रसिद्ध ब्राह्मण *"शतपथब्राह्मण"* है। इसमें १०० अध्याय हैं। यह ब्राह्मण अन्य सभी ब्राह्मण-ग्रन्थों में अत्यन्त विख्यात है एवं अपने प्रस्तुत विषय के अनुसार प्रमुख भी है। शुक्ल-यजुर्वेद की दोनों शाखाओं–*माध्यन्दिन* तथा *कण्व* में यह ब्राह्मण उपलब्ध होता है–(माध्यन्दिन-शतपथ तथा कण्व-शतपथ)। दोनों शाखाओं के शतपथों में विषय की एकता होने पर भी वर्णन-क्रम में तथा अध्यायों की संख्याओं में अन्तर पड़ता है। *माध्यन्दिनशतपथ* में काण्डों की संख्या १४ तथा अध्यायों की संख्या १०० है, किन्तु *कण्वशतपथ* में प्रपाठक नामक उपखण्ड का अभाव है तथा काण्डों की संख्या १७ और अध्यायों की संख्या १०४ हैं।

माध्यन्दिनशतपथ के एक से पाँच काण्डों तक *याज्ञवल्क्य* का उल्लेख एक ऐसे आचार्य के रूप में आया है, जिसका मत सन्दिग्ध एवं विवादास्पद विषयों पर सर्वथा मान्य है। ६ से ६ वें काण्ड तक अग्नि-चयन आदिका वर्णन है। १० वें काण्ड में अग्नि-रहस्य का वर्णन है। ११ वें से १४ वें काण्ड में उपनयन, स्वाध्याय एवं अन्त्येष्टी-क्रिया आदि विषयों का वर्णन है जो साधारणतया ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय नहीं माने जाते। १३ वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि का भी विवेचन किया गया है। १४ वें काण्ड में सन्यास लेने की क्रिया का भी उल्लेख मिलता है। इसी ब्राह्मण के अन्त में *बृहदारण्यक* नामक प्राचीन एवं प्रमुख उपनिषद् भी दिया गया है।

माध्यन्दिन एवं कण्व दोनों शतपथों के आरम्भ में ही एक अन्तर दृष्टि गोचर होता है—माध्यन्दिन-शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्श-पूर्ण-

मास-याग का जो वर्णन है वह कण्व-शतपथ के द्वितीय काण्ड में और द्वितीय काण्ड का विषय आधान-अग्नि-होत्रादि कण्व-शतपथ के प्रथम काण्ड में ही वर्णित है। अन्यत्र दोनों में विषय एक ही हैं परन्तु उनका क्रम दोनों में भिन्न भिन्न हैं।

शतपथ की प्राचीनता--

आजकल उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में *शतपथ* प्राचीनतम माना जाता है। "*भट्टोजिदीक्षित*" की सिद्धान्त-कौमुदी में निर्दिष्ट एक उल्लेख से यह प्राचीन न होकर नवीन ब्राह्मण सिद्ध होता है, किन्तु "भट्टोजिदीक्षित" का यह मत प्राचीन वैयाकरणों के मत से नितान्त विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है।

शतपथ का वैशिष्टय--

शतपथ-ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें यज्ञ-विधान अपने पूर्ण वैभव के साथ आलोचकों के सम्मुख उपस्थित होता है। यज्ञीय अनुष्ठानों के छोटे से छोटे विधानों का विशद वर्णन,-प्राचीन आख्यानों का सरस विवेचन आदि इस ब्राह्मण-ग्रन्थ की महत्ता के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पूर्ण संकेत भी इस में पाया जाता है। साथ ही आर्यावर्त में आर्यों के प्रसार के वृत्तान्त को जानने के लिए यह ब्राह्मणग्रन्थ महत्व-पूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को प्रस्तुत करता है।

अथर्व वेद का ब्राह्मण--

अथर्ववेद का केवल एक "*गोपथब्राह्मण*" मिलता है। यह केवल अथर्व वेद का अस्तित्व वेदत्रयी के समकक्ष स्थापित करने के लिए ही लिखा गया था। कारण सभी वेदों के ब्राह्मण विद्यमान थे। अतः अथर्व-वेद की सत्ता सर्वमान्य घोषित करने के लिए इस वेद के अनुयायियों

ने भी "गोपथब्राह्मण" नामक यह ग्रन्थ रचा। यह ब्राह्मण अत्यन्त नवीन एवं अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का सामूहिक महत्त्व—

ब्राह्मणों के यागानुष्ठानों के विशाल एवं सूक्ष्मतम वर्णन को आजकल का आलोचक भले ही नगण्य समझे, किन्तु वे अतीत युग के एक ऐसे निधिस्वरूप हैं जिन्होंने वैदिक युग के क्रियाकलापों का एक भव्य चित्र *धर्मविचारक* के लिए प्रस्तुत कर रखा है। यह परिस्थिति के परिवर्तन से धूमिलसा अवश्य हो गया है, किन्तु फिर भी धार्मिक दृष्टि से नितान्त उपादेय एवं संग्रहणीय है। यज्ञों के नाना रूपों एवं विविध अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय हमें ब्राह्मण-साहित्य से मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में हमारे सामने आता है। कर्म-मीमांसा के उत्थान तथा आरम्भ का रूप जानने के लिए ब्राह्मण-साहित्य पूर्वपीठिका का कार्य करता है। ब्राह्मणों के अध्ययन से हमें इन विविध शास्त्रों के उदय की कथा का भी परिज्ञान होता है और यह भी जान सकते हैं कि यज्ञ को आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पन्न होने वाले ये शास्त्र किस प्रकार सार्वभौम क्षेत्रमें पदार्पण कर अपना विकास किए हैं।

ब्राह्मणों का देश—

ब्राह्मण काल के आते आते ऋग्वेद का सप्तसिन्धु-प्रदेश भी कुछ विस्तृत हो गया था। ब्राह्मण काल की क्रियाओं का क्षेत्र अब कुरु-पाञ्चाल आदि जनपद हो गए थे। अब यज्ञों का धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र बन गया था। इस क्षेत्र का विस्तार पूर्व में गंगा तथा यमुना और पश्चिम में सरस्वती एवं ईषद्वती नदियों के बीचमें हो गया था। यहीं इन ग्रन्थों का उदय हुआ।

ब्राह्मण कालीन धार्मिक स्थिति—

इस काल में आकर ऋग्वेद-कालीन धार्मिक स्थिति में बहुत अन्तर हो गया था। इस समय देवता तो ऋग्वेद-कालीन ही थे, किन्तु अब वे अपने पैरों पर खड़े न हो कर यज्ञों से ही अपनी शक्ति प्राप्त करने लगे थे। कुछ ऐसे देवता-(विष्णु-रुद्र-शिव आदि) जो ऋग्वेद-काल में गौण थे अब प्रमुख बन गए थे। साथ ही देवासुर संग्राम के भी कितने ही निर्देश इन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में असुर को देवता माना गया था, ब्राह्मण-ग्रन्थों में आकर यह दैत्य हो गया। इस काल में यज्ञ किसी अभीष्ट सिद्धि के लिए ही नहीं किए जाते थे, बल्कि वे स्वयं एक आवश्यक कार्य बन गये थे जिनका करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य था। वैदिक-काल में यज्ञ में देवताओं की प्रधानता थी, किन्तु ब्राह्मण-काल में यज्ञ की ही प्रधानता हो गई। इतना ही नहीं यज्ञ को ही प्रजापति कहा जाने लगा।

ब्राह्मणों का काल—

वैदिक-संहिताओं की ही भाँति इन ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी समय स्थिर करना अत्यन्त दुष्कार है। इस विषय में एक बात तो अवश्य निश्चित हो जाती है कि जिस समय इन ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ उस समय तक समस्त संहिता-साहित्य का सङ्कलन हो चुका था। यह भी निश्चित है कि ब्राह्मणों के कतिपय अंश अत्यन्त प्राचीन हैं, सम्भवतः उतने ही प्राचीन हैं जितनी संहितायें।

ब्राह्मणों के संकलन काल का अनुमान उपलब्ध ज्योतिष सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर लगाया गया है। प्रसिद्ध ज्योतिषी "*शंकर बाल-कृष्ण दीक्षित*" की गणना के अनुसार यह विशिष्ट वर्णन विक्रम से तीन हजार वर्ष पूर्व का होना चाहिए। डाक्टर *विण्टरनिज* ने किसी जर्मन ज्योतिषी की गणनानुसार इस वाक्य की नई व्याख्याकर इनका समय

वि० पू० ११०० स्वीकार किया है, किन्तु इस कल्पना के अनुसार *वेदाङ्ग-ज्योतिष* से *शतपथ-ब्राह्मण* का समय अर्वाचीन सिद्ध होने लगता है जो विद्वानों को कथमपि मान्य नहीं। अतः दीक्षित की गणनानुसार निर्धारित काल-(वि० पू० ३००० वर्ष) ही शतपथ के सङ्कलन का समय मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। प्राचीनतम होने से शतपथ का काल आदि काल है और गोपथ आदि इस काल के अन्त में आते हैं।

"आरण्यक"

साधारणतया यह कहा जाता है कि ब्राह्मण-काल में केवल यज्ञ सम्बन्धी शुष्क ब्राह्मण-साहित्य की ही रचना हुई, किन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण है क्योंकि आर्यों का उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञ सम्बन्धी बाल की खाल निकालने में ही नहीं लगा रह सकता था। वैसे तो सायण के अनुसार स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थों में कल्प के अलावा इतिहास, पुराण आदि साहित्य का भी उदय देखा जाता है, तौभी इतना अवश्य है कि दार्शनिक विचार धारा का यज्ञ-पुरोहितों में अभाव था और यह सम्भव भी नहीं था कि यज्ञ कराने वाले होता या अध्वर्यु के हृदय में वैदिक देवताओं के प्रति कुछ सन्देह या शंका हो।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों से पूर्व भी *ऋग्वेद* एवं *अथर्ववेद* में दार्शनिक विचार धारा के दर्शन होते हैं, तथापि इन दार्शनिक विचारों का पूर्ण विकास उन धनिकों के मस्तिष्कों की उपज थी जो प्रमादी थे तथा यज्ञों के प्रति कुछ उदासीन थे और जिन्हें यज्ञों का आडम्बरपूर्ण कार्य अपव्यय सा प्रतीत होता था एवं पुरोहितों की बड़ी-बड़ी दक्षिणायें जिन्हें अखरती थी। उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के कुछ उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि राजा लोगों का ही प्राचीन

काल में दार्शनिक-साहित्य से अधिक सम्पर्क था। राजा प्रतर्दन तथा जनक इसके उदाहरण हैं।

फिर भी यह कहना अनुचित होगा कि ब्राह्मण लोग इस पराविद्या से सर्वथा अपरिचित थे। इन *ब्राह्मणग्रन्थों* के ही "*परिशिष्ट*" के रूप में हमें "*आरण्यक*" मिलते हैं, जिनमे ब्राह्मणों की दार्शनिक विचार-धारा विद्यमान है। इन आरण्यकों के पाठ बड़े रहस्यमय हैं जिन्हें किसी भी प्रकार साधारण नहीं कहा जा सकता। विशिष्ट शिष्य ही इस रहस्यमय साहित्य में दीक्षित हो सकते थे। अतः इनका पूर्ण ज्ञान अरण्य में ही सम्भव था।

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के परिशिष्ट-ग्रन्थ के समान हैं जिनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के सामान्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है। अरण्य में पढ़े जाने के कारण ही इनको "*आरण्यक*" कहा जाता है। इनका मुख्य विषय यज्ञ नहीं, बल्कि यज्ञ-यागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तत्त्वों की मीमांसा है। यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि उसके अन्तर्गत दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय हैं। प्राणविद्या की महिमा का भी विशेष रूप से प्रतिपादन इनमें मिलता है।

प्राचीनतम उपनिषद् इन आरण्यकों के साथ इतनी घनिष्टता के साथ जुड़ गए हैं कि उनको इनसे पृथक् करना अत्यन्त कठिन है। ये उपनिषद् ही वेदान्त हैं, क्योंकि वे वेदों के निर्माण के बाद में बने हैं इसलिए वैदिक-साहित्य के अन्तिम रूप को प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन-तम उपनिषद् इन आरण्यकों के ही भाग हैं। वहाँ पर ये परिशिष्ट के रूप में आए हैं।

वेदान्त के रूप में *आरण्यक* तथा *उपनिषद्* विभिन्न शाखाओं के मिलते हैं, अधिकतर तो वे ब्राह्मणों के ही भाग हैं। उदाहरणार्थ—ऐतरेय-आरण्यक ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से एवं कौषीतकी-आरण्यक ऋग्वेद के कौषीतकी-ब्राह्मण से सम्बद्ध हैं। अर्थात् उन्हीं के भाग हैं।

अत्यन्त घनिष्टता होने पर भी उपनिषदों तथा आरण्यकों का पार्थक्य इस प्रकार बताया जा सकता है—

१—आरण्यकों में ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय का ही प्रतिपादन किया गया है जबकि उपनिषदों में दर्शन की स्वतन्त्र विचारधारा विद्यमान है।

२—आरण्यकों में यज्ञों की क्रिया या उनके अनुष्ठानों की विधि का बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है, जब कि उपनिषदों में प्रतीकों, रूपको एवं पहेलियों के द्वारा–ब्रह्म, आत्मा, जीव तथा आवागमन सम्बन्धी दार्शनिक विचार पाये जाते हैं।

३—आरण्यक यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों की स्वार्थ-बुद्धि के परिचायक हैं, किन्तु उपनिषदों में किसी एक समय के अथवा किसी एक ऋषि के मस्तिष्क से निकले हुए सिद्धान्त नहीं, बल्कि वे एक लम्बी अवधि में कितने ही विचारकों की उर्वरा–बुद्धि से उद्भूत दार्शनिक विचार हैं जो रहस्यात्मक होने के कारण सर्वजन सुलभ नहीं, किन्तु गुरु के समीप अध्ययन करने पर ही स्वर्गीय आनन्द के उत्पादक हैं।

"उपनिषद्"

सामान्य परिचय—

भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त आस्तिक दर्शनों के ही ये मूल श्रोत नहीं, अपितु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के मौलिक सिद्धान्तों की आधारशिला भी ये ही हैं। उपनिषदों का इसीलिए भारतीय संकृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। उपनिषदों के अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ—

उपनिषद् शब्द "उप" तथा "नि" उपसर्गक "सद्" धातु से बना है। सद धातु के तीन अर्थ होते है-(१)-विशरण (नाश होना), २—गति (पाना या जानना) तथा ३—अवसादन (शिथिल होना) "सद्लृ वि-शरणगत्यवसादनेषु" उपनिषद् प्रधान रूप से ब्रह्मविद्या के द्योतक हैं क्योकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षुओं की अविद्या का नाश (विशरण) होता है, यह ब्रह्म की प्राप्ति (गति) कराती है तथा मनुष्यों के गर्भवास आदि दुःखों को शिथिल (अवसादन) करती है। उप-निषद् शब्द के अर्थ गुरु के समीप बैठना, रहस्यमय सिद्धान्त तथा ब्रह्म-विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष भी हैं। इसी (ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष) अर्थ में यहाँ उपनिषद् शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्रह्म के स्वरूप तथा जीव एवं जगत् सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का विवेचन इनमें होने से इनकी उपनिषद् संज्ञा सार्थक है।

उपनिषदों का विकास—

उपनिषदों के विकास के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि इनके दार्शनिक विचारों का श्रीगणेश हमें ऋग्वेद के उन सूक्तो में मिलता है जिनमें देवताओं के प्रति सन्देह प्रकट किया गया है। वैसे सर्व साधारण तो यही समझते हैं कि संहिता तथा ब्राह्मण काल में केवल यज्ञ सम्बन्धी शुष्क विचारों को ही लेकर ग्रंथ रचे गए, किन्तु आर्यों का उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञों के विधान की वारीकियां बताने में ही उलझा नहीं रह सकता था, उसमें आत्मा एव ब्रह्म सम्बन्धी विचार भी उठते रहते थे और इन्हीं का विस्तृत विवेचन उपनिषदों में मिलता है। इन दार्शनिक विचारों का उदय सर्वप्रथम राजन्य वर्ग में पाया जाता है। ये ही लोग पुरोहितों को उपनिषद् का उपदेश देते हुए वर्णित हैं।

अतः उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करने में ब्राह्मणेतर जातियों का ही अधिक हाथ रहा। बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय भी इन्हीं दार्शनिक विचारों के परिणाम स्वरूप विकसित हुए, जिन्होंने उद्भूत होकर ब्राह्मण धर्म तथा यज्ञीय विचारों की नींव को हिलाया। फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि कुछ पुरोहित भी दार्शनिक विचारों का ज्ञान रखते थे।

समय--

उपरोक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि ब्राह्मणों के उत्कर्ष के समय से पूर्व ही उपनिषदों के सिद्धान्त यहाँ फैल चुके थे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इन सिद्धान्तों के बीज मिलते हैं, फिर भी *मैक्समूलर* महोदय ने ब्राह्मणों के २०० वर्ष बाद उपनिषदों का काल माना है। उनके अनुसार उपनिषदों का समय ई० पू० ६०० से ई० पू० ४०० तक है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इसी मत को स्वीकार करते हैं। वैसे तो यह निर्विवाद है कि ये उपनिषद् वैदिक-साहित्य की अन्तिम कड़ियाँ हैं और इन्हीं से उत्तर कालीन वेदान्त का अविर्भाव हुआ है, तौभी यह कहना असंगत होगा कि सभी उपनिषदों का आविर्भाव ब्राह्मण-ग्रन्थों के २०० वर्ष बाद हुआ। कुछ ग्रन्थ (उपनिषद्) ब्राह्मण-ग्रन्थों के २०० वर्ष बाद के हो सकते हैं, किन्तु सभी नहीं।

उपनिषदों की रचना की तिथि के बारे में विद्वानों में गहरा मतभेद है, किन्तु इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि प्रमुख-प्रमुख उपनिषदों की रचना बुद्ध के पूर्व ही हो चुकी थी। उपनिषद्-काल की सूचना *मैत्रायणी* उपनिषद् में प्राप्त ज्योतिष सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर कल्पित की जा सकती है। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक के अनुसार मैत्रायणी उपनिषद् का काल वि० पू० १९०० वर्ष होना चाहिए और इस प्रकार उपनिषद्-काल का आरम्भ २५०० वि० पू० वे स्वीकार करते हैं। प्रमुख उपनिषदों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है—

ऋग्वेद के उपनिषद्—(१)-*ऐतरेय* तथा (२)-*कौशीतकी*।

यजुर्वेद के उपनिषद्—*कृष्णयजुर्वेद* का (१)-*तैतरीय* तथा *शुक्लयजुर्वेद* का *वृहदारण्यकोपनिषद्*।

सामवेद के उपनिषद्—(१)-*छान्दोयोग्य* तथा (२)-*केन* हैं।

पूर्वोक्त ६ उपनिषद् ही प्राचीनतम हैं, जिनमें वेदान्त के सिद्धान्त अपने मूल रूप में विद्यमान हैं। कुछ उपनिषद् इनके बाद में लिखे गये है जिनमें—(१)-*मुंडकोपनिषद्*, (२)-*प्रश्नोपनिषद्*, (३)-*कठोपनिषद्*, (४)-*श्वेताश्वतरोपनिषद्*, (५)-*ईशोपनिपद्* तथा (६)-*महानारायणोपनिपद्* मुख्य हैं। ये बौद्धकाल से तो पहले के हैं किन्तु आरण्यकों के भाग नहीं हैं। इन बाद वाले ६ उपनिषदों में भी यद्यपि वेदान्त के सिद्धान्तों का ही विवेचन है, तथापि इसके साथ ही इनमें सांख्य-योग के सिद्धान्तों का भी विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। स्वामी शंकराचार्य ने भी इन्हीं १२ उपनिषदों को प्राचीन स्वीकार किया है तथा इन पर टीकायें लिखी हैं। किन्तु इनके अलावा *मैत्रायणी* तथा *माण्डूक्य* ये दो उपनिपद् भी प्राचीन माने जाते हैं। यद्यपि इनका निर्माण भगवान् बुद्ध के बाद हुआ है तथापि इनको प्रामाणिक माना जाता है।

इस प्रकार कुल १४ उपनिषदों को ही प्राचीन तथा प्रामाणिक माना जाता है। किन्तु इनमें भी महानारायणोपनिषद् की प्रामाणिकता में सन्देह है। इन १४ उपनिपदों के अलावा लगभग २०० उपनिषद् और मिलते हैं जिनमें से अधिकांश दार्शनिक न होकर धार्मिक हैं एवं बहुत से इनमें पुराण तथा तन्त्रों से भी सम्बन्धित हैं। इन बाद के उपनिषदों का उल्लेख *मुक्तकोपनिषद्* में उपलब्ध होता है।

उपनिषदों के सिद्धान्त या उपदेश—

(१)-*ब्राह्मसिद्धान्त*—उपनिषदों के सभी सिद्धान्त ब्रह्म तथा आत्मा

पर आधारित हैं। यह ब्रह्म ही उपनिषदों में आत्मा माना गया है और सारा विश्व ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। उपनिषदों में आकर ब्रह्म के दो रूप हो गये हैं—(१)-निर्गुण तथा (२)—सगुण।

(२)—*आत्मासम्बन्धी-सिद्धान्त*—उपनिषदों में *शाण्डिल्य* का आत्मासम्बन्धी यह मत दिया गया है कि आत्मा अमर है, आत्मा ही ब्रह्म है एवं आत्मा ही सब कुछ है। इसी आत्मा में समस्त ब्रह्माण्ड निहित है, यहीं पर "*तत्त्वमसि*" का भी सिद्धान्त मिलता है जो आगे चलकर महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(३)—*प्राणसिद्धान्त*—इसमें समस्त इन्द्रियों में प्राण की महत्ता सर्वोपरि मानी गई है। यहाँ प्राण ही आत्मा माना गया है।

(४)—*आवागमन का सिद्धान्त*—बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राण को आत्मा बतलाते हुए आवागमन के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया गया है। यह आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता रहता है। यही इस सिद्धान्त का सार है।

(५)—*कर्मसिद्धान्त*—बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्गत *याज्ञवल्क्य* का जो सम्वाद आया है उसमें कर्म-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य के मरने पर उसके पार्थिव शरीर के समस्त अंश तो पाँच तत्त्वों में मिल जाते हैं, केवल उसके शुभाशुभ कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं जिनके अनुसार मनुष्य उत्कृष्ट या निःकृष्ट योनियों में सञ्चरण करता हुआ अपने कर्मों का फल भोगता है। इस सिद्धान्त में चरित्र पर अधिक जोर दिया गया है। यही सिद्धान्त बौद्ध-धर्म में भी अधिक मान्य है।

(६)—*नैतिक-सिद्धान्त*—उपनिषदों में अल्प संख्या में नैतिक-सिद्धान्त भी मिलते हैं। ये नैतिक सिद्धान्त इसलिये रखे गये थे कि जिससे मनुष्य बुरे कामों से बचा रहे तथा सत्य-आत्मा का पता लगा

कर ब्रह्म के स्वरूप को पहचान सके। बृहदारण्यकोनिषद् में भी ऐसे उपदेश तिलते हैं।

उपसंहार—

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा का सम्यक् विवेचन किया गया है। कुछ लोगों ने उपनिषदों के वैराग्य सम्बन्धी विचारों को "*भारतीय-निराशावाद*" कहा है, क्योंकि वे सांसारिक सुखों में भी दुःख मानते हैं। किन्तु ऐसा कहना सर्वथा भ्रममूलक है, क्योंकि उपनिषदों मे आत्मा को आनन्द-स्वरूप माना गया है। ऐसे परमानन्द स्वरूप परमात्मा को चाहने वाले कभी निराशावादी नहीं हो सकते, वे तो सबसे बड़े आशावादी है। इन उपनिषदों का आगे चलकर बड़ा महत्व माना गया। *बादरायण* के वेदान्तसूत्र इन्हीं के आधार पर लिखे गये हैं। *शङ्कराचार्य* तथा *रामानुजाचार्य* के सिद्धान्तों की आधार-शिला भी ये ही उपनिषद् हैं। प्राचीन बौद्ध-सिद्धान्त भी उपनिषदों का आधार लेकर ही स्थापित हुये हैं।

अतः *उपनिषद्* सर्वोत्तम मानवीय ज्ञान के आगार हैं। और हजारों वर्षों के बाद भी पर्याप्त ज्ञान बतलाने वाले हैं। *मानव-इतिहास* के अध्येताओं के लिए मानवीय विचारों का जितना सुन्दर रहस्य उपनिषदों में मिल सकता है वैसा अन्यत्र मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

"सूत्रग्रन्थ"-(वेदाङ्ग)—

सामान्य परिचय—

माण्डूक्योपनिषद् में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है—(१)—*पराविद्या* एवं (२)—*अपराविद्या*। *परा* उत्तम विद्या है जिससे

अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है। *अपराविद्या* वेद-चतुष्टयी तथा षड्-वेदाङ्ग हैं। षड्-वेदाङ्गों के अन्तर्गत—(१)-शिक्षा, (२)-कल्प, (३)-व्याकरण, (४)-निरुक्त, (५)-छन्द तथा (६)-ज्योतिष आते हैं। वेदाङ्ग का अर्थ वेदों का अङ्ग विशेष है। ये अङ्ग उपरोक्त ६ हैं। प्राचीन काल में इन वेदाङ्गों से केवल इन ग्रन्थों का ही ज्ञान नहीं होता था, बल्कि इनके द्वारा वेदार्थ समझने में पूर्ण सहायता मिलती थी।

इन वेदाङ्गों में प्रत्येक का अपना २ वैशिष्ट्य है। *शिक्षा* में वेद के मन्त्रों का उचित उच्चारण का विवेचन किया गया है, *कल्प* में वेदों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड तथा यज्ञीय अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन किया गया है, *व्याकरण* वैदिक शब्दों के रूपों के ज्ञान का साधन है, *निरुक्त* उनके अर्थों का निर्वचन कर उनका विशद रूप से प्रतिपादक है, छन्द का विषय वैदिक छन्दों का वर्णन है तथा *ज्योतिप* का विषय यज्ञ-याग के अनुष्ठान के लिये काल निर्णय की उचित व्यवस्था करना है।

समय—

इन वेदाङ्गों का प्रारम्भ ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में ही हो गया था। धीरे २ इन विषयों पर अलग २ पुस्तकें लिखी गईं और अन्त में इनकी संख्या भी स्थिर हो गई। इन वेदाङ्गों का काल (सूत्रकाल) पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणों के बाद बतलाया है। इस समय हम श्रुति से हटकर स्मृति में आते हैं।

अर्थ—

त्रसू (वेदाङ्ग) का अर्थ है एक संक्षिप्त भारिभाषा या संकेत। अनेक सूत्रों के समाहार को भी सूत्र कहा जाता है। इनका प्रयोग अत्यन्त वैज्ञानिक था। इन सूत्रों में छोटे २ पदों या वाक्यो के अन्तर्गत विपुल अर्थों का समावेश किया जाता था।

निर्माण का प्रयोजन—

ब्राह्मण-कालमें यज्ञ विधान इतना विस्तृत हो गया था कि उस सभी को याद रखना सर्वथा असम्भव सा प्रतीत होने लगा। अतः उन सभी बातों को स्मरण रखने के लिये छोटे २ सूत्रों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी और इनका निर्माण किया जाने लगा। इन सूत्रों की प्रथा इतनी बढ़ी कि उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त रूप देने के लिये प्रत्येक विद्वान् उत्सुक रहने लगा। इसी कारण *पतञ्जलि* ने लिखा है कि "अर्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"। कालान्तर में इन सूत्रों का समझना सबके लिये सहज न रहा। अतः इन सूत्रों पर भी टीकायें लिखी गईं।

ब्राह्मणों से सम्बन्ध—

इस सूत्र-शैली का जन्म ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का गद्य अत्यन्त छोटे वाक्यों में लिखा गया है। सूत्र-संहिता में भी ऐसे ही गद्य को महत्त्व दिया गया है। समस्त प्राचीन सूत्र-साहित्य का प्रतिपाद्य विषय ब्राह्मण-ग्रन्थों अथवा आरण्यकों से ही सम्बद्ध है। केवल शैली ही नहीं विषय की दृष्टि से भी सूत्र-साहित्य का विकास ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही हुआ है। अतः ब्राह्मणों से सूत्र-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रमुख सूत्र ग्रन्थ एवं उनके वर्ण्य-विषय—

(१)—कल्पसूत्र—

समस्त सूत्र-साहित्य वेदाङ्ग कहलाता है। इन सूत्र-ग्रन्थों अथवा वेदाङ्गों में "*कल्पसूत्र*" सबसे प्राचीन एवं प्रमुख माने जाते हैं। इनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही व्याख्या की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के यज्ञानुष्ठानों की विधियों को संक्षेप में याद रखने के लिये ही इन कल्पसूत्रों का

निर्माण हुआ। ये कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—(१)-श्रौतसूत्र, (२)-गृह्यसूत्र, (३)-धर्मसूत्र तथा (४)-शुल्वसूत्र जिनका विवरण इस प्रकार है—

श्रौतसूत्र—

इनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित श्रौताग्नि में होने वाले यज्ञ-यागादिक अनुष्ठानों का वर्णन है। ये सूत्र ऋत्विजों या पुरोहितों के लिये बने थे। इनमें अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास्य-याग, पशु-याग, ऋतु-याग, सोम-यज्ञ आदिका वर्णन है। ये यज्ञानुष्ठानों के ज्ञान के लिये नितान्त उपादेय हैं।

गृह्यसूत्र—

इनमें विविध विषय मिलते हैं। मनुष्य के गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक के समस्त श्राद्ध आदि संस्कारों का विधान इनमें मिलता है। रीति एवं उपचार का वर्णन ही इनका मुख्य विषय है। इनमें वर्णित १६ संस्कारों में से उपनयन तथा विवाह संस्कार का तो इनमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है। साथ ही पाँच महायज्ञों का वर्णन भी इनमें किया गया है। इनके अतिरिक्त—पशुपालन, कृषि, गृहनिर्माण, उत्सव, जादू-टोना, अपशकुन आदि अनेक विषयों का भी इनमें उल्लेख पाया जाता है। श्राद्ध का तो इनमें विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार यद्यपि गृह्यसूत्रों में भले ही साहित्यिकता न हो, किन्तु तत्कालीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार, विभिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज एवं जीवन की विविध कार्य-प्रणालियों का परिचय इनसे पूर्णरूप में मिल जाता है।

धर्मसूत्र—

धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों की ही एक शृंखला के रूप में मिलते हैं। ये गृह्यसूत्रों के ही एक भाग हैं। इनमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों

के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। इन्हीं धर्मसूत्रों से याज्ञावल्क्य-स्मृति, मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थों का विकास हुआ है।

शुल्वसूत्र—

शुल्व का अर्थ है नापने की रस्सी। इन शुल्वसूत्रों का सम्बन्ध श्रौत-सूत्रों से है। इनका निर्माण यज्ञ की भूमि तथा वेदियों को नाप कर बनाने के हेतु किया गया था, क्योंकि ये भी यज्ञानुष्ठान के एक भाग की पूर्ति करते हैं। इनमें वेदियों का नापना, उनके लिये स्थान चुनना तथा वेदी की रचना आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ये सूत्र भारतीय ज्यामिति-शास्त्र के अत्यन्त प्रचीन ग्रन्थ हैं।

यही संक्षेप में *कल्पसूत्रों* के अङ्गभूत चारों सूत्रों (श्रौत-गृह्य-धर्म एवं शुल्व) का परिचय है। इन सभी कल्पसूत्रों का निर्माण वेदों का अर्थ समझने के लिए किया गया था, क्योंकि इनमें केवल यज्ञीय विधान ही नहीं, बल्कि प्रार्थना तथा क्रिया सम्बन्धी मन्त्र एवं विनियोग भी दिये गये हैं। इन *कल्पसूत्रों* का विवरण निम्नाङ्कित है—

(क)–ऋग्वेद के कल्पसूत्र—

(१)—आश्वलायन तथा (२)—सांख्यायन हैं।

(ख)–यजुर्वेद के कल्पसूत्र—

शुक्लयजुर्वेद के (१)–कात्यायन-श्रौतसूत्र (२)–पारस्कर-गृह्यसूत्र एवं (३)–कात्यायन-शुल्वसूत्र ये तीन हैं।

कृष्णयजुर्वेद के—बौधायन एवं आपस्तम्ब शखा के कल्पसूत्र सब तरह पूर्ण हैं।

(ग)–सामवेद के कल्पसूत्र—

(१)–लाट्यायन-श्रौतसूत्र, (२)–द्राह्यायन-श्रौतसूत्र, (३)–जैमिनीय-

श्रौतसूत्र, (४)–जैमिनीय-गृह्यसूत्र, (५)–गोमिल-गृह्यसूत्र एवं (६)–खदिर-गृह्यसूत्र ये ६ प्रसिद्ध हैं।

(घ)–अथर्व वेद के कल्पसूत्र—

(१)– वैतान-श्रौतसूत्र तथा (२)—कौशिकसूत्र प्रसिद्ध हैं। इनमें नाना प्रकार के जादू, इन्द्रजाल आदि का वर्णन है।

(२)–शिक्षासूत्र—

शिक्षा-सूत्र भी कल्पसूत्रों की ही भाँति प्राचीन हैं। कल्पसूत्र जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों के पूरक हैं, वैसे ही शिक्षासूत्र संहिता के पूरक हैं। इन शिक्षासूत्रों में वैदिक–संहिताओं के ठीक २ उच्चारण का विवेचन किया गया है। इन शिक्षासूत्रों का प्राचीनतम उल्लेख *तैत्तरीय*–उपनिषद् में मिलता है। *संहितापाठ* तथा *पदपाठ* शिक्षा के प्राचीनतम आविष्कार हैं। इस शिक्षा वेदाङ्ग की सबसे प्रचीन रचनायें *प्रातिशाख्य* हैं।

प्रातिशाख्य—

संहिता की प्रत्येक शाखा का अपना निजी "*प्रातिशाख्य*" है। इसी से इन्हें प्रातिशाख्य कहते हैं। इनमें संहितापाठ से पदपाठ बनाने के नियम दिए गए हैं। स्वरों का दीर्घ, ह्रस्व एवं प्लुत उच्चारण का विधान, बल, मात्रा तथा वर्णों के लघु-गुरु होनेके नियम तथा संहिताओं के उच्चारण व ध्वनियों के सभी नियमों का उल्लेख इन शिक्षासूत्रों में मिलता है।

इन प्रातिशाख्य नामक शिक्षा-सूत्रों का महत्त्व दो प्रकारसे स्वीकार किया जाता है—(१)–ये संस्कृत-व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं तथा (२)–इन से यह सिद्ध होता है कि प्रातिशाख्यों के समय से अबतक हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी संहिताओं के पाठ में कोई अन्तर नहीं मिलता।

प्रातिशाख्य यद्यपि व्याकरण के ग्रन्थ नहीं हैं, फिर भी वे व्याकरण के विषय पर प्रकाश डालते हैं। इन प्रातिशाख्योंकी महत्ता का कारण यह है कि ये वेदाङ्गों के प्राचीनतम प्रतिनिधि हैं।

प्रातिशाख्यों के अलावा शिक्षा सम्बन्धी कुछ और भी ग्रन्थ मिलते हैं जो भारद्वाज, व्यास, वसिष्ठ आदि के द्वारा रचे गए हैं, किन्तु ये सब बाद में रचे गए हैं। शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों में-पाणिनीयशिक्षा, याज्ञवल्क्यशिक्षा, वाशिष्ठीशिक्षा, कात्यायनीशिक्षा, पाराशरीशिक्षा, माण्डव्यशिक्षा, अमोघनन्दिनीशिक्षा, माध्यन्दिनीशिक्षा, वर्णरत्न-प्रदीपिका, केशवीशिक्षा, नारदीयशिक्षा, माण्डकीयशिक्षा आदि मुख्य हैं।

(३)-व्याकरण—

प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप तथा उसके अर्थ के निर्णय के लिए प्रयुक्त *व्याकरण शब्द* का व्युत्पत्तिलभ्य-अर्थ है—"वेदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र" (व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्)। व्याकरण वेद पुरुष का मुख माना जाता है—"मुखं व्याकरणं स्मृतम्"। मुख होने से ही वेदाङ्गों में व्याकरण की मुख्यता है। जिस प्रकार मुख के बिना भोजनादि न करने से शरीर की पुष्टि सम्भव नहीं वैसे ही व्याकरण के बिना वेद-पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भव है। इसी कारण हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण के महत्त्व का प्रतिपादन बड़े गम्भीर शब्दों में किया है। इस वेदाङ्ग का निर्माण भी वेदों के अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया था।

अब हमारे सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद के इस अङ्ग का प्रतिनिधि ग्रंथ कौन सा है? आज कल प्रचलित व्याकरणों में *पाणिनीय-व्याकरण* प्राचीनतम है और प्राचीनतम होने के कारण यही व्याकरण नामक वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रंथ माना जाता है।

किन्तु पाणिनि से भी पूर्वकाल में *ऐन्द्र-व्याकरण* की सत्ता थी जिसके पुष्टतर प्रमाण आज भी मिलते हैं। यद्यपि यह व्याकरण बहुत पहले ही काल-कवलित हो गया है तौभी प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि वैदिककाल में इन्द्र के प्रथम वैयाकरण होने की घटना का स्पष्ट निर्देश है। पिछले वैयाकरणों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। यों तो उपलब्ध ग्रंथों में *पाणिनीय-व्याकरण* (अष्टाध्यायी) ही सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन है।

व्याकरण के क्षेत्र में आर्यों की देन—

आजकल व्याकरण रूपी वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला जैसा कि आगे भी कहा जा चुका है एक ही व्याकरण है। वह है— "*पाणिनीय-व्याकरण*"। महर्षि *पाणिनि* ईसुजपुई के पाठन इलाके के अन्तर्गत *शालातुर* गाँवके निवासी थे। ये जाति के ब्राह्मण थे एवं मगध-साम्राज्य के दिनों में 'पाटलिपुत्र" (पटना) में आकर रहने लगे थे। इन्होंने लगभग ४००० अल्पाक्षर सूत्रों का निर्माण कर संस्कृत भाषा का अत्यन्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर विद्वानों को आश्चर्यान्वित कर दिया। वैज्ञानिक दृष्टि से देवभाषा का जितना सुन्दर शास्त्रीय विवेचन महर्षि पाणिनि ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पाणिनि का ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त होने से "*अष्टाध्यायी*" कहलाता है। इनका समय ई० पू० षष्ठ शतक माना जाता है।

पाणिनि के अनन्तर संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले नवीन शब्दों की व्याख्या करने के अभिप्राय से "*कात्यायन*" ने ई० पू० चतुर्थ शतक में *वार्तिकों* की रचना की। इनके बाद ई० पू० द्वितीय शतक में "*पातञ्जलि*" ने *महाभाष्य* का निर्माण किया। सूत्रों पर अनेक विद्वानों के भाष्य हैं, किन्तु विषय की व्यापकता एवं विचार-गाम्भीर्य के कारण यही भाष्य "*महाभाष्य*" कहलाता है।

महाभाष्य के बाद व्याकरण का सबसे प्रधान ग्रंथ "*वाक्यपदीय*" का निर्माण *भर्तृहरि* ने षष्ठ शतक में किया। वाक्यपदीय में व्याकरण-शास्त्र का दार्शनिक रूप अभिव्यक्त होता है।

इनके बाद "*आचार्य शेष*" के शिष्य "*भट्टोजिदीक्षित*" ने तीन व्याकरण के उत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण किया—(१)—सिद्धान्तकौमुदी, (२)—शब्दकौस्तुभ तथा (३)—मनोरमा। इन्हीं ग्रथों के अध्ययन, अध्यापन, विचार एवं समीक्षा में ही नव्य व्याकरण व्यस्त रहा है।

दीक्षित जी की ही परम्परा में "*नागेशभट्ट*" व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् हुए। इनका "*परिभाषेन्दुशेखर*" पाणिनीय व्याकरण की उपयोगी परिभाषाओं का निदर्शन करने वाला सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। इनकी "*लघुमञ्जूषा*" शब्द और अर्थ के सिद्धान्तों की वितृस्त मीमांसा करने वाला सर्व-श्रेष्ठ ग्रंथ है। *नागेश* काशी के ही निवासी थे और अष्टादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। आज भी काशी पाणिनीय-व्याकरण का महान् दुर्ग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याकरण के क्षेत्र में भी आर्यों की बहुत बड़ी देन है।

(४)–निरुक्त—

निरुक्त निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है। निरुक्त के निर्माता महर्षि यास्क हैं। यद्यपि इस ढङ्ग के और भी ग्रंथ बने होंगे किन्तु आजकल अन्य कोई उपलब्ध नहीं हैं। इस *निरुक्त* नामक वेदाङ्ग से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का पाठ बिलकुल शुद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार "*निघण्टु*" भी यास्क की ही रचना माना जाता है, किन्तु यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि स्वयं यास्क ने कहा है कि निघण्टु की रचना प्राचीन ऋषियों ने की है, उन्होंने तो केवल उस पर टीका लिखी है। निघण्टु का निर्माण भी वेदों का अर्थ समझने के लिए किया गया था। वैदिक-

भाष्यों में यास्क कृत *निरुक्त* का सर्व-प्रथम स्थान माना जाता है। यास्क का समय लगभग ६००–५०० ई० पू० है।

(५) छन्द—

छन्द वेद का पञ्चम अङ्ग माना जाता है। वेद के मन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान बड़ा आवश्यक है। छन्दों के ज्ञान के विना वेद-मन्त्रों का पाठ तथा उच्चारण समुचित रीति से नहीं हो सकता। सामवेद का "निदान-सूत्र" छन्द का ही ग्रंथ है। इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ पिङ्गलाचार्य कृत "छन्दसूत्र" है। यह ग्रंथ सूत्र रूप में है एवं आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रारम्भ से लेकर चौथे अध्याय के ७ वें सूत्र तक इसमें वैदिक छन्दों के लक्षण दिए गए हैं, उसके बाद लौकिक छन्दों का वर्णन है।

(५)–ज्योतिष—

वेदाङ्गों में *ज्योतिष* अन्तिम वेदाङ्ग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिये है और यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। यज्ञ-याग के लिये समय-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु आदि काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञ-याग का विधान वेदों में पाया जाता है। अतः इन नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। *ज्योतिष* वेद-पुरुष का चक्षु है। जिस प्रकार चक्षु से विहीन मनुष्य अपने कार्य को सम्पादित नहीं कर सकता वैसे ही ज्योतिष के ज्ञान के विना पुरुष वैदिक कार्यों के विषय में सर्वथा अन्धा रहता है।

ज्योतिष-सम्बन्धी सूत्रों का एक "*ज्योतिषवेदाङ्ग*" नामक छोटा सा पद्यात्मक ग्रन्थ मिलता है, जिसमें २७ नक्षत्रों, चन्द्र तथा सूर्य आदि ग्रहों का विचार किया गया है। वेदाङ्ग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ

ऋग्वेद तथा *यजुर्वेद* से सम्बन्ध रखने वाले दो मिलते हैं—*आर्चज्योतिष* तथा *याजुषज्योतिष*। पहले में ३६ श्लोक हैं और दूसरे में ४३ हैं। ये वैदिक कालीन प्राचीन ज्योतिष शास्त्र का वर्णन करते हैं। वेदाङ्ग-ज्योतिष के कर्ता *लगध* थे। वेदाङ्ग-ज्योतिष के ऊपर एक प्राचीन भाष्य शेष कुलोत्पन्न सोमाकर नामक पंडित ने लिखा था। आगे चलकर ज्योतिष पर अनेक ग्रंथ लिखे गये।

उपसंहार—

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रसाहित्य अत्यन्त प्राचीन है और ६ भागों में विभक्त है। इसीलिये यह "षड्-वेदाङ्ग" भी कहलाता है। इस समस्त साहित्य का निर्माण केवल वैदिक मन्त्रों एवं वेदों में वर्णित प्रक्रियाओं को स्मरण रखने के लिये हुआ था।

वैसे तो सारा वैदिक-साहित्य ही संक्षिप्त रूप में इन सूत्रों के अन्तर्गत विद्यमान है, किंतु कहीं २ वैदिक बातों से आगे बढ़कर और-और धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक, ज्योतिष तथा व्याकरण सम्बन्धी विषयों का भी वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादन इन सूत्रग्रंथों में मिलता है। अतः इन सूत्र ग्रन्थों (वेदाङ्गों) का सम्बन्ध केवल ब्राह्मण ग्रन्थों से ही न होकर समस्त वैदिक संहिताओं से है। इनके ज्ञान के विना वेदों का अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं हो सकता।

"षड्दर्शनोंका विकास एवं संक्षिप्त परिचय"—

सामान्य परिचय—

यह आगे भी कहा जा चुका है कि भारतीय संस्कृति का मूलस्रोत ऋग्वेद में पाया जाता है। जब कि संस्कृति के प्रत्येक तत्वों का बीज

ऋग्वेद में मिलता है, तब यह स्वाभाविक ही है कि दर्शनों का बीज भी ऋग्वेद में विद्यमान हो।

दर्शनशास्त्र का मूल-सिद्धान्त "सन्देह की भावना" है, जिसका दर्शन ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से होता है। क्योकि वैदिक ऋषि प्रकृति की जिन दिव्य-शक्तियों का आवाहन करते थे, उनके विषय में संशय की भावना भी ऋग्वेद में पाई जाती है। इसके अलावा ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं—(१)—प्रतिभामूलक या प्रज्ञामूलक एवं (२)—तर्कमूलक। इनमें प्रतिभामूलक प्रवृत्ति का उदाहरण वेदान्त तथा तर्कमूलक प्रवृत्ति के उदाहरण शेष पाँच दर्शन हैं। इस प्रकार यद्यपि वेदों में ही दर्शनों का मूलश्रोत विद्यमान है फिर भी इनका विकसित रूप हमें ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ प्रसंगवश षड् आस्तिक दर्शनों का संक्षिप्त परिचय देना भी आवश्यक है।

(१)—पूर्व मीमांसा—

वेद के तीन भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद्। इनमें मन्त्र-भाग संहिता कहलाते हैं। ब्राह्मणों में यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का विवेचन है। इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ अंश आरण्यक कहलाते हैं और आरण्यकों के अंश उपनिषद्।

वेद के इन दो भागों—*ब्राह्मण* तथा *उपनिषद्* से क्रमशः संबन्ध रखने वाले दो दर्शन हैं। उनमें एक वेद के पूर्व भाग—(ब्राह्मणों) से सम्बद्ध होने से *पूर्वमीमांसा* कहलाता है जिसके निर्माता जैमिनि हैं, दूसरा वेद के उत्तर भाग (उपनिषदों) से सम्बद्ध होने के कारण उत्तरमीमांसा (वेदान्त) कहलाता है जिसके निर्माता भगवान् बादरायण हैं।

मीमांसा में कर्मकाण्ड—

वेद के इन दोनों भागों से संबन्ध रखने वाले दोनों दर्शन अपने २ भाग के वेद वाक्यों का तथा उनके विषय का विवेचन करते हैं। अर्थात् पूर्वमीमांसा ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों का तथा यज्ञ यागादि का विवेचन करता है और उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) उपनिषदों के वाक्यों का या ब्रह्मविद्या का। अतः यह सुस्पष्ट है कि पूर्वमीमांसा शास्त्रीय कर्म-पद्धति (कर्मकाण्ड) से संबद्ध है।

मीमांसा एवं दार्शनिकतत्त्व—

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्मकाण्ड तथा यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले इस मीमांसा-शास्त्र का दर्शन से क्या सम्बन्ध है? पूर्व-मीमांसा में दार्शनिक विषय क्या है? यथार्थ बात तो यही है कि मीमांसा-शास्त्र का दर्शन के विषय से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इसे प्राचीन कालमें भी दर्शन कहा जाता था और आज भी इसे दार्शनिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत माना जाता है। अतः इसमें दार्शनिक तत्त्व होना आवश्यक है। मीमांसा-शास्त्र के अध्ययन से पता लगता है कि प्रचीन कालमे पूर्वमीमांसा-साहित्य में विशुद्ध दर्शन-शास्त्र की समस्याओं का महत्त्व-पूर्ण विवेचन किया गया था, इसको स्पष्ट करने के लिए पूर्व-मीमांसा-साहित्य की जानकारी परमावश्यक है।

पूर्वमीमांसा-साहित्य—

जैमिनि के "पूर्वमीमांसा दर्शन" के सूत्रों से इस शास्त्र का प्रारम्भ होता है। वैदिक षड्दर्शनों में से जैमिनि के सूत्र सम्भवतः सबसे प्राचीन है या *बादरायण* के ब्रह्मसूत्रों के समकालीन ही हैं। मीमांसा-सूत्र का निर्माण ईसा की तृतीय शदी के लगभग हुआ है। इन सूत्रों पर *भर्तृमित्र*, *भवदास* आदि के अनेक प्राचीन भाष्य लिये गए थे, किन्तु

वे कालकवलित हो चुके हैं। वर्तमान समय में *मीमांसा-सूत्रों* पर *शबर-स्वामी* का भाष्य पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय के सारे अर्वाचीन-साहित्य का आधारभूत ग्रन्थ है। ईशा की आठवीं शदी में पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय के क्षेत्र में दो बड़े प्रतिभाशाली दार्शनिक हुए—(१)-*कुमारिल-भट्ट* तथा *प्रभाकर-गुरु*। इनका संपूर्णभारतीय दर्शनशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुमारिल भट्ट प्रभाकर के गुरु थे। अतः दोनों समसामयिक ही थे।

इन दोनों ने दिङ्नाग-संप्रदाय (न्याय-वैशेषिक)-पर जोरदार आक्रमण करके मीमांसा के *यथार्थबाद* की पुष्टि में कुछ ऐसे सिद्धान्तों को जन्म दिया जो यथार्थबाद के इतिहास में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि थोड़े बहुत दार्शनिक विचार *शबरभाष्य* में भी विद्यमान हैं, तौभी मीमांसा के क्षेत्र में दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों को विशेष रूप से उपस्थापित करने का गौरव कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर गुरु को ही है। अतः मुख्य रूप से यज्ञ एवं कर्मकाण्ड से सम्बद्ध मीमांसा-शास्त्र का भी दर्शन के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान है।

कुमारिल के अनेक अनुयायी हुए जिनमें मण्डन मिश्र, पार्थसारथि एवं सोमेश्वर प्रमुख हैं। इधर प्रभाकर ने मीमांसा के *तर्कपाद* पर "बृहती" नामक टीका लिखी है और उसपर प्रभाकर के मतानुयायी *शालिकनाथ* ने "ऋजुविमला" नामक टीका लिखी। इस प्रकार मीमांसा-शास्त्र की परम्परा चली।

(२)–वेदान्त (उत्तर-मीमांसा)—

वेदान्त उपनिषदों के तत्त्वज्ञान पर आधारित है, जिसका अभिप्राय है कि इस परिवर्तन शील जगत् के जो नाना रूप दीखते हैं वे सब बदलते रहते हैं। उनका आधार और यथार्थ तत्त्व "ब्रह्म" है जो कि

अद्वैत, अखण्ड एवं एक रस है। संक्षेप में उपनिषदों का सिद्धान्त है-- "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या एको ब्रह्मैव नापरः"। इस उपनिषदों के सिद्धान्त का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन करने के लिए ही "बादरायण" ने *ब्रह्मसूत्र* (वेदान्तसूत्र) बनाये। ये सूत्र पूर्वमीमांसा के समकालीन हैं।

वेदान्त के पाँच सम्प्रदाय—

उपनिषदों का प्रतिपाद्य तत्त्व क्या है, उसके स्वरूप के विषय में मतभेद होने से वेदान्त में पाँच सम्प्रदाय हो गए। जो इस प्रकार हैं-- (१)-*शङ्कर* का अद्वैतवाद, (२)—*रामानुज* का विशिष्टाद्वैतवाद, (३)—*निम्बार्क* का द्वैताद्वैतवाद, (४)—*माध्व* का द्वैत-सम्प्रदाय एवं (५)—*वल्लभ* का शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय। इन पांचों सम्प्रदायों में शंकर का अद्वैतवाद ही सर्वप्रधान है और साधारणतया वेदान्त से शङ्कर का अद्वैतवाद ही समझा जाता है। अतः यहां वेदान्त के रूप में उसी का विवेचन किया जाता है शेषों का नामोल्लेख मात्र ही किया गया है।

शङ्कर का अद्वैतवाद—

शङ्कराचार्य बौद्धों के *शून्यवाद* एवं *विज्ञानवाद* से बहुत प्रभावित थे। इसी को आधार बनाकर शंकराचार्य ने भी जगत् को असत् एवं भ्रम-मूलक सिद्ध किया है। इसीलिए शंकर का अद्वैतवाद (मायावाद) प्रच्छन्न बौद्धदर्शन कहा जाता है।

प्रत्येक भारतीय दर्शन का स्वरूप उसके कारणवाद में ही पाया जाता है। *साँख्य* एवं *वेदान्त सत्कार्यवादी* हैं। *साँख्य* का सत्कार्यवाद *विकारवाद* या *परिणामवाद* कहलाता है, किन्तु *वेदान्त* में आकर यह *सत्कार्यवाद विवर्तवाद* के रूप में स्वीकार किया जाता है। विकार-वाद तथा विवर्तवाद का स्वरूप क्रमशः नीचे की कारिका में स्पष्ट है—

"सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥"

इसी आधार पर *वेदान्त* में ब्रह्ममात्र को सत्य माना गया है और इस समस्त संसार को उस में भ्रम से आरोपित कहा गया है। वेदान्त का कहना है कि ब्रह्म ही सत्य है और उसमें जगत् का भ्रमात्मक ज्ञान होता है। शंकर के उत्तर कालीन वेदान्त ने भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए ब्रह्म को ही मोक्ष का स्वरूप माना है।

अद्वैतवाद का साहित्य--

शंकराचार्य के अद्वैत-संप्रदाय का साहित्य विस्तृत है। शंकराचार्य के पूर्व भी इस संप्रदाय का ग्रन्थ माण्डूक्योपनिषद् पर *गौड़पाद की कारिका* के रूप में उपलब्ध होता है। उसके बाद *उपनिषद्*, *गीता* एवं *ब्रह्मसूत्र* पर, जिन्हें *प्रस्थानत्रयी* कहा जाता है, शङ्कर का भाष्य है। शंकर के *ब्रह्मसूत्रभाष्य* पर भी अनेक टीकायें हैं। शंकरोत्तर कालीन वेदान्त के मुख्य ग्रन्थ जो कि टीका के रूप में न होकर स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में हैं, उनमें (१)--"श्रीहर्ष" का *खण्डनखण्डखाद्य*, (२)— "चित्सुख" की *चित्सुखी*, (३)—"मधुसूदन सरस्वती" की *अद्वैतसिद्धि* ये तीन ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय हैं। इनके अलावा और भी अनेक वेदान्त के ग्रन्थ मिलते हैं जो इस सम्प्रदाय की विपुलता के प्रतीक हैं।

(३)--सांख्य-सम्प्रदाय—

सांख्य-साहित्य का विकास—

वैदिक दर्शनों में कदाचित *कपिल* का सांख्य-सम्प्रदाय सबसे पुराना है। वैदिक दर्शनों में वेदान्त के अतिरिक्त सांख्य ही दूसरा दर्शन है जिसका उपनिषदों के विचारों से साक्षात्सम्बन्ध है। आज कल

साँख्य सम्प्रदाय की सबसे प्राचीन पुस्तक "*ईश्वरकृष्ण*" की *साँख्य-कारिका* है जिसका समय ईसा की तृतीय शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। साँख्य-कारिकाओं पर सबसे पुराना भाष्य *गौड़पाद* का है। साँख्यकारिका की दूसरी टीका "वाचस्पति मिश्र" की है जिसका नाम "*साँख्यतत्त्वकौमुदी*" है यह साँख्य सम्प्रदाय का सबसे महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है।

साँख्य के मुख्य सिद्धान्त—

साँख्य की मुख्य समस्या है कि मनुष्य आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीन प्रकार के दुःखों से घिरा हुआ है। इनसे निवृत्ति तत्त्वज्ञान होने पर ही हो सकती है और तत्वज्ञान का स्वरूप है-पुरुष एवं *प्रकृति* का विवेक-(पार्थक्य ज्ञान)। दुःखत्रय से निवृत्ति पाना ही इनका मोक्ष है। ये ईश्वर को नही मानते तथा सत्कार्यवादी हैं। इनका सत्कार्यवाद विकारवाद या परिणामवाद कहलाता है।

(४)—योग-दर्शन—

प्रत्येक दर्शन का योग की प्रक्रिया से सम्बन्ध है। पतञ्जलि का प्रचलित योगदर्शन साँख्य के ही दार्शनिक सिद्धान्तों को मानता है। अतः साँख्य के प्रकरण में योग सम्बन्धी साहित्य के विषय में सिर्फ इतना ही कहना है कि ६ दर्शनों के अन्तर्गत माने गए *योगसूत्र* "पतञ्जलि" कृत हैं और उस पर "व्यास" कृत *योगशास्त्र का भाष्य* सबसे प्रमाणिक है। योगसूत्र पर "भोजराज" की वृत्ति भी है।

केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम न चल सकने के कारण व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति योग ने की। अतः *साँख्य-योग* एक ही तत्वज्ञान के दो पक्ष हैं। बौद्धिक-पक्ष का नाम साँख्य है तथा व्यावहारिक पक्ष का नाम योग है।

(५)—वैशेषिक-दर्शन—

यद्यपि वैशेषिक–सूत्र बाद में बने हैं, तौभी *वैशेषिक-दर्शन* का सम्प्रदाय साँख्य की तरह बहुत प्राचीन है। इस दर्शन के प्रवर्तक का नाम "*उलूक*" था और वह भगवान् बुद्ध से ८०० वर्ष पूर्व हुआ था। जीव तथा जगत् के यथार्थ निर्धारण के लिए इनके गुणों की छान बीन करना नितान्त आवश्यक समझा गया। अतः इस आत्मा तथा अनात्मा के गुण विवेचन के लिए "*वैशेषिकदर्शन*" की उत्पत्ति हुई।

(६)—न्याय-दर्शन—

वस्तु-स्वरूप का विवेचन ज्ञान प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में सुसम्पन्न नहीं हो सकता। अतः केवल वैशेषिक-दर्शन से काम न चल सकने के कारण ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए *न्यायदर्शन* का जन्म हुआ।

न्यायदर्शन वैशेषिकदर्शन से अर्वाचीन है। न्याय के दार्शनिक सिद्धान्त बहुत अंश तक वैशेषिक दर्शन से लिए गए हैं, किन्तु न्याय का अपना मुख्य विषय "प्रमाण-निरूपण" है। अतः न्याय के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें कुछ सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त होते हुए भी *प्रमाणों* का निरूपण ही प्रधान रूप से उसका विषय है।

न्यायदर्शन का प्रारम्भ—

यद्यपि विद्वानों का मत है कि *न्याय-दर्शन वैशेषिकदर्शन* से अर्वाचीन है, तथापि *उपनिषदों* के समय में भी अनेक तर्क प्रधान नियमों की छान बीन हो चुकी थी और तर्कविद्या आरम्भिक अवस्था को पार कर चुकी थी। इससे भी पूर्व *वैदिककाल* में भी तर्क की उन्नति के पर्याप्त लक्षण मिलते हैं। अतः *न्याय-दर्शन* भी अन्य दर्शनों की भांति श्रुतिमूलक ही है, यह निर्विवाद है।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में *"न्याय"* शब्द का प्रयोग *पूर्वमीमांसा* के लिए किया जाता था। सम्भवतः ब्राह्मण-ग्रन्थों के तात्पर्य को निश्चित करने के लिए जो नियम पूर्वमीमांसा में बनाये गए उन्हीं में *"अनुमान"* भी रहा होगा। इसी *अनुमान* को *न्याय-शब्द* से सम्बोधित किया जाता था। पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय में अनुमान का प्रारम्भिक विकास हुआ होगा, किन्तु आगे चल कर जब अनुमान का निरूपण कुछ विस्तृत होने लगा, तो वह अलग *"विज्ञान"* हो गया और *पूर्वमीमांसा-शास्त्र* का *न्याय-शब्द* इस नवीन विज्ञान या दार्शनिक सम्प्रदाय के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा, जो कि आगे चलकर *"न्याय-सम्प्रदाय"* के नाम से प्रसिद्ध हुआ। न्याय-सम्प्रदाय ने अपना दार्शनिक स्वरूप वैशेषिक से लिया है। यद्यपि इसका प्रधान विषय *अनुमान* था, किन्तु साथ ही-आत्मा, सुख, दुःख मोक्ष आदि तत्वों का भी निरूपण इसमें किया गया। अतः यह अलग दार्शनिक-सम्प्रदाय बन गया।

न्याय-वैशेषिक का परस्पर सम्बन्ध—

यद्यपि मूलतः *न्याय* एवं *वैशेषिक* संप्रदाय पृथक् २ हैं, तौभी बहुत प्राचीन काल से ही उनमें पारस्परिक सम्बन्ध चला आरहा है। *चरकसंहिता* के अध्ययन से भी यह अवगत होता है कि न्याय-वैशेषिक परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। अनेक न्यायसूत्र, विशेषतः जो भौतिक पदार्थों के स्वरूप के विषय में हैं वे सब वैशेषिक से लिए गए मालूम होते हैं। *बोगस* ने अपनी *भूमिका* में कुछ ऐसे *वैशेपिकसूत्र* भी बताये हैं जो कि *न्यायसूत्रों* के आधार पर बने हों एवं इससे यह कल्पना भी *बोगस* के अनुसार हो सकती है कि वे दोनों प्रकार के सूत्र समसामयिक हों, किन्तु वास्तव में वैशेषिक-सूत्र न्याय से पुराने हैं। इतना अवश्य है कि इन दोनों संप्रदायों में घनिष्ट संबन्ध है।

यद्यपि इन दोनों संप्रदायों के सिद्धान्तों का संपर्क बहुत पुराने समय से चला आ रहा था, तौभी बाह्य दृष्टि से दोनों को एक ही ग्रन्थ में सम्मिश्रित करने का श्रेय "उदयनाचार्य" को है। दशवीं शदी में दोनों संप्रदाय आपस में बहुत घुल मिल चुके थे। ११ वीं शदी के बाद से दोनों संप्रदाय एक सामान्य दर्शन के रूप में परिणत होगए, जिसे *"न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय"* के नाम से कहा जाने लगा।

न्याय-वैशेषिक के विकास के तीन युग—

बोडास ने न्याय-वैशेषिक के इतिहास को तीन भागों में बाँटा है—(१)-सूत्रयुग, (२)-टीकायुग तथा (३)-स्वतन्त्र निबन्ध या प्रकरण ग्रन्थों का युग।

डा० *सतीशचन्द्र* ने भी न्याय-वैशेषिक को तीन भागों में विभक्त किया है—(१)-प्राचीन-काल (२)-मध्य-काल तथा (३)-आधुनिक-काल।

किन्तु उक्त दोनों मत वैज्ञानिक दृष्टि से सदोष हैं। अतः *न्याय-वैशेषिक* सम्प्रदाय के इतिहास को निम्न प्रकार से तीन भागों में विभक्त करना न्याय सङ्गत प्रतीत होता है—

(१)—*प्रारम्भिक-युग* (दिङ्नाग-प्राक्कालीन) जो अत्यन्त प्राचीन समय से चला आया है। इसी युग में न्याय एवं वैशेषिक सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ तथा दोनों दर्शनों के सूत्र लिखे गए। यह युग पाँचवीं शदी तक चलता है जब कि दिङ्नाग का प्रादुर्भाव हुआ।

(२)-*संघर्ष और विकास का युग*—यह युग दिङ्नाग के उदय से प्रारम्भ होकर ११ वीं शदी तक चलता है। इस युग में *न्याय-वैशेषिक* सम्प्रदाय के विद्वानों का बौद्धों के साथ संघर्ष रहा जिस के फल-स्वरूप न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों का विकास हुआ।

(३)-*ह्रास का युग*—(गङ्गेश का युग)—यह बौद्धों के इस देश से

चले जाने के बाद बारहवीं शदी से आरम्भ होता है। इसका नेता गङ्गेश था।

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, वृद्धि तथा ह्रास-ये तीन अवस्थायें पाई जाती हैं। यह अन्तिम विभागीकरण उसी आधार पर न्याय-वैशेषिक के इतिहास की तीन अवस्थाओं का प्रकाशक होने से वैज्ञानिक एवं सुसङ्गत माना जाता है।

न्याय-वैशेषिक का साम्य—

(१)—दोनों का उद्देश्य जीव का मोक्ष है।

(२)—दोनों समस्त दुःखों का मूल कारण अज्ञान को मानते हैं।

(३)—दोनों के मत में दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है।

(४)—दोनों के मत में यथार्थ-ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होती है।

न्याय-वैशेषिक का वैषम्य—

(१)—*न्याय* चार प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, किन्तु *वैशेषिक*—प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानता है।

(२)—*नैयायिक*-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि १६ पदार्थ मानता है, किन्तु *वैशेषिक-मतानुयायी*-द्रव्य, गुण, कर्म आदि ७ ही पदार्थ मानता है।

न्याय-वैशेषिक के सम्मिलित ग्रन्थ—

११वीं शदी के बाद से न्याय-वैशेषिक के अनेक सम्मिलित प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गए जो विशेष रूप से वैशेषिक सम्बन्धी हैं। न्याय के इस प्रकार के प्रकरण-ग्रन्थों में *तार्किकरक्षा* के बाद "केशव मिश्र" की तर्क-

भाषा का स्थान है जो १३ वीं शदी का ग्रन्थ है। यद्यपि न्यायसूत्र के ऊपर "वात्स्यायन" का *भाष्य*, उस पर "उद्योतकर" का *वार्तिक*,–उस पर "वाचस्पति" की *तात्पर्य-टीका* आदि तथा *वैशेषिकसूत्र* पर "प्रशस्तपाद" का *भाष्य*, उसपर "उदयनाचार्य" की *किरणावली*–"श्रीधराचार्य" की *कन्दली* आदि अनेक व्याख्यानों ने इन दोनों प्रकार के दर्शनों के रहस्य को समझाया है, तथापि अति सरलता पूर्वक इन दोनों दर्शनों का समन्वित बोध कराने में "*तर्कभाषा*" की अपनी विशेषता है। इसमें दोनों का समुचित समन्वय है। यहाँ प्रसङ्ग-वश *तर्कभाषा* के निर्माता का संक्षिप्त परिचय देना असङ्गत न होगा।

तर्कभाषाकार-केशव मिश्र—

तर्कभाषा के निर्माता "पं० केशव मिश्र" के काल-निर्णय के बारे में स्पष्ट उल्लेख न मिलने पर भी "उदयनाचार्य" के अभिमत *व्याख्यान* को केशव मिश्र ने *तर्कभाषा* में उद्धृत किया है। उदयनाचार्य का समय लगभग १० वीं शताब्दी है। अतः सुनिश्चित है कि केशव मिश्र का समय इनके बाद ही है। *विजयनगरम्* के राजा *हरिहर* जिनका शासन काल सन् १३७७-१४०४ ई० तक माना जाता है, के आश्रित पं० *चिन्नम-भट्ट* ने *तर्कभाषा* की प्रथम टीका लिखी है। अतः *उदयनाचार्य* के बाद तथा *चिन्नम-भट्ट* के पूर्व लगभग १३ वीं शताब्दी में केशव मिश्र का जन्म हुआ होगा। इनके पिता का नाम *अनन्त-भट्ट* था। इनकी अमर कीर्ति के द्योतक ग्रन्थ का उल्लेख आगे किया जा चुका है।

"महाकाव्य"

सामान्य परिचय—

काव्य की उत्पत्ति के बारे में *राजशेखर* ने अपनी "काव्यमीमांसा में कहा है कि *शिव जी* ने सर्व प्रथम *ब्रह्मा*, *विष्णु* आदि ६४ शिष्यों को

काव्य का उपदेश दिया। इसके बाद *ब्रह्मा* ने अपने शिष्यभूत *मानसपुत्रों* को इसका उपदेश किया। इन शिष्यों में *सरस्वती* का पुत्र *काव्यपुरुष* भी था जिसको ब्रह्मा ने तीनों लोकों में *काव्यविद्या* के प्रचार करने की आज्ञा दी। इस प्रकार प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार *काव्य-पुरुष* या *काव्य* की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानी गई है।

यद्यपि संसार के प्राचीनतम साहित्य-*वेदों* में भी काव्य के बीज दिखाई देते हैं। *उषा-देवी* को सम्बोधित करके लिखे गए सूक्तों में उत्कृष्ट काव्यछटा के दर्शन होते हैं। वेदों के बाद *ब्राह्मण*, *आरण्यक* एवं *उपनिषदों* में वर्णित दानस्तुति, नाराशंसीगाथा आदि में भी काव्य की झलक स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। तथापि सर्वप्रथम विकसित काव्यकला के दर्शन हमें *रामायण* एवं *महाभारत* में होते हैं। भारतीय साहित्य शास्त्री *रामायण* को ही *आदि-काव्य* स्वीकार करते हैं। रामायण एवं महाभारत बाद के कवियों की रचना के लिए सदैव आदर्श रहे हैं।

यद्यपि उपरोक्त दो *महाकाव्यों* के बाद कालिदास, भास, अश्वघोष, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों ने अनेकों काव्यरत्नों का निर्माण किया, जिनका उल्लेख यत्र तत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, तथापि विस्तार के भय से एवं परीक्षोपयोगिता को दृष्टि में रख कर यहाँ केवल *रामायण* तथा *महाभारत* की ही चर्चा की जा रही है।

रामायण—

भारतीय परम्परा के अनुसार जैसा कि आगे भी कहा गया है *रामायण* को आदि-काव्य एवं *वाल्मीकि* को आदि कवि माना जाता है। *रामायण* में केवल युद्धों एवं विजयों का ही वर्णन नहीं है, बल्कि आल-ङ्कारिक भाषा में मानव जीवन तथा प्रकृति के अत्यन्त रमणीय चित्र अङ्कित किए गए हैं। अतः रामायण एक ऐतिहासिक महाकाव्य के साथ-साथ अलंकृत शैली का भी भव्यरूप उपस्थित करती है। *रामायण*

सकल काव्याङ्गों की जन्म दात्री है। भास, कालिदास, भवभूति आदि कवियों की रचनाओं में इसका प्रभाव देखा जाता है। *बौद्ध-कवियों* ने भी रामायण से अपने काव्यों को पर्याप्त सामग्री एकत्र की। रामायण के महत्त्व से भारतीय धर्म-प्राण जनता सुपरिचित है। क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, क्या कवित्त्व सभी दृष्टियों से रामायण का स्थान संस्कृत-साहित्य में उत्कृष्ट है।

रामायण के प्रक्षिप्त अंशों की समीक्षा—

आजकल रामायण में क्षेपक तथा अनेक *पाठभेद* मिलते हैं। अनेक विद्वानों का कथन है कि रामायण का *बालकाण्ड* तथा *उत्तरकाण्ड* वाल्मीकि की रचना नहीं हैं। इनका कहना है कि ये दोनों-प्रथम तथा सप्तम काण्ड एवं बीच-बीच में आए हुए पौराणिक उपाख्यान बाद में जोड़े गये हैं।

रामायण के *बालकाण्ड* में अनेक ऐसी कथायें मिलती हैं जो ब्राह्मण-धर्म से सम्बद्ध हैं एवं जिनका उल्लेख *महाभारत* तथा *पुराणों* में पाया जाता है तथा जो मुख्य कथा के साथ जोड़ी गई हैं। इसी प्रकार *सातवें-काण्ड* में भी महाभारत के समान धार्मिक कथायें हैं। इस काण्ड की मुख्य कथा तो सीता-बनवास तथा कुश-लव को राज्य देकर राम का स्वर्गारोहण है। (१)–किन्तु इसके साथ ही *ययाति*, *नहुष*, *इन्द्र*, *ऊर्वशी* आदि के *अनेकों उपाख्यान* भी इसमें मिलते हैं। (२)–इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-धर्म से सम्बद्ध *शम्बूक* की कथा एवं (३)–*कितने ही* परस्पर विरोधी स्थल इन दोनों में मिलते हैं। (४)–इन दोनों काण्डों की *भाषा* तथा *शैली* भी अन्य काण्डों से भिन्न है। (५)–इन दोनों काण्डों में *राम* को विष्णु का अवतार माना गया है, जब कि अन्य काण्डों में राम केवल पुरुषोत्तम के रूप में ही वर्णित हैं। (६)–इन दोनों के *कथानक* में उतना प्रवाह नहीं है जितना अन्य काण्डों में। इन्हीं उपरोक्त कारणों से *विण्टरनिज* आदि पाश्चात्य विद्वान् प्रथम तथा सप्तम काण्ड को एवं बीच २ में आए हुए उपाख्यानों को प्रक्षिप्त मानते हैं।

रचना काल—

(क)-*वाह्यप्रमाण*—

(१)—*रामायण* महाकाव्य की रचना तिथि एवं विकास की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि वैदिक-साहित्य में रामायण का उल्लेख नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि रामायण की रचना वेदों के बाद हुई।

(२)—*बौद्ध* तथा *जैन* साहित्य में राम की कथा का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। बौद्धों के *दशरथ-जातक* में राम-कथा का पूर्णरूप से उल्लेख मिलता है। जातकों का काल ईसा से ३०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस से स्पष्ट है कि रामायण की रचना इससे पूर्व हो चुकी थी। और बौद्ध तथा जैन रामायण के सातों काण्डों से परिचित थे।

(३)—*विएटरनिज* के कथनानुसार *डेविड* महोदय के मतमें रामायण का निर्माण बौद्धों के *दशरथ-जातक* के बाद हुआ है, किन्तु उनका यह कथन असङ्गत प्रतीत होता है कारण कि दशरथ जातक में उत्तर-काण्ड के एक पद्य का पाली में अनुवाद तथा रामायण में बौद्धों का सङ्केत न होना इस बात को सिद्ध करते हैं कि रामायण का निर्माण जातकों से पहले हुआ है।

(४)—*वेवर* के मतानुसार भी रामायण का आधार एक बौद्ध-साहित्य की कथा है, किन्तु इनका कथन भी असङ्गत ही है।

(५)—पाश्चात्य विद्वान् *जैकोबी* ने तो भाषा के आधार पर रामायण की रचना जातकों से पूर्व की सिद्ध की है।

(६)—*महाभारत* के रचयिता जिनका समय ई० पू० ४०० माना जाता है वे रामायण तथा बाल्मीकि से पूर्ण परिचत थे। इसी कारण महा-भारत में राम-कथा का उल्लेख मिलता है, किन्तु रामायण में कहीं भी

महाभारत के पात्रों का उल्लेख नहीं मिलता। रामचन्द्र से सम्बन्धित स्थानों को महाभारत में तीर्थ स्थान माना गया है। इससे रामायण की प्राचीनता सिद्ध होती है।

(ख)-*अन्तः-प्रमाण*—

(१)—उपरोक्त बाह्य-प्रमाणों के अतिरिक्त रामायण की प्राचीनता के द्योतक कुछ अन्तः प्रमाण भी हैं। उनमें सर्व प्रथम यह है कि *पाटिलीपुत्र* नगर की स्थापना ई० पू० ५०० में अजातशत्रु ने *गङ्गा* तथा *शोण* के सङ्गम पर करवाई थी। रामायण में गङ्गा तथा शोण के सङ्गम पर होकर राम के वन जाने का वर्णन है, किन्तु पाटिलीपुत्र का उल्लेख नहीं है। अतः ई० पू० ५०० से पूर्व रामायण का रचना काल सिद्ध होता है।

(२)—रामायण में *विशाला* तथा *मिथिला* दो स्वतन्त्र राज्यों का उल्लेख मिलता है, किन्तु बौद्धों के समय में ये दोनों राज्य एक वैशाली के रूप में सम्मिलित हो गये थे और गणतन्त्र शासन प्रणाली प्रारम्भ हो चुकी थी। अतः बौद्धों से पहले रामायण का निर्माण हो चुका होगा।

(३)—भारत वर्ष का दक्षिण भाग रामायण में एक जंगली लोगों के निवास स्थान के रूप में वर्णित है। इससे विदित होता है कि दक्षिण में आर्य-सभ्यता के विकास के पूर्व ही रामायण बन चुकी होगी।

(४)—रामायण के बालकाण्ड में चित्रित राजनैतिक स्थिति से यह सिद्ध होता है कि रामायण की रचना बौद्धों से पूर्व हो चुकी थी।

(५)—प्रोफेशर *सिलवेनलेवी* का भी यही अभिप्राय है कि बौद्ध ग्रन्थ "*सद्धर्म मृत्युस्थान*" वाल्मीकि रामायण का ऋणी है।

उपसंहार—उपरोक्त प्रमाणों के अधार पर यह सिद्ध होता ह कि रामायण की रचना बुद्धजी के पहले हो चुकी थी। उसका रचना काल लगभग ५०० ई० पू० माना जाता है, किन्तु इसके पिछले भाग *बाल* तथा *उत्तरकाण्ड* एवं अन्य *प्रक्षिप्तान्श* ई० पू० द्वितीय शतक के लगभग रचे गये हैं।

महाभारत—

महत्त्व—*रामायण* के बाद *महाभारत* का संस्कृत-साहित्य में द्वितीय स्थान है। इसके महत्त्व के विषय म भारतीय दृष्टिकोण यह है कि "*महाभारत*" धर्म-अर्थ काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाला है। इसके विजय गान जीवन में विजय लाभ प्राप्त कराते हैं। शान्त जीवन विताने के लिये प्रेरणा देने वाला यह महाकाव्य जीवन की समस्त जटिल समस्याओं को सुलझाने वाला है। इसे पञ्चम वेद कहा गया है तथा उत्तर कालीन ऐतिहासिक काव्यों का जन्म-दाता एवं मूलाधार कहा गया है। महाभारत के विषय में कहा गया है—

"अर्थे धर्मे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभः।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" ॥

किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार यह एक इतिहास की कला से अनभिज्ञ साहित्यिक व्यक्ति के द्वारा असम्बद्ध घटनाओं का सङ्कलन मात्र है। वे नतो इसे काव्य कला की दृष्टि से महत्व देते हैं और न ऐतिहासिक दृष्टि से ही। किन्तु इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि इसमें वर्णित कौरव-पाण्डवों का युद्ध एक ऐतिहासिक सत्य है।

रचना काल—

समस्त वैदिक साहित्य में महाभारत काव्य का कहीं नाम तक नहीं मिलता। महाभारत में वर्णित कुरुक्षेत्र युद्ध का वर्णन सर्व प्रथम *साँख्यायन-श्रौतसूत्र* में उपलब्ध होता है। *आश्वलायन-गृह्यसूत्रों* में भी भारत या महाभारत का उल्लेख है तथा वेदों के अध्ययन के बाद उसे भी पठनीय बतलाया गया है। *पाणिनि* ने भी महाभारत के पात्रों का उल्लेख किया है। *त्रिपिटकों* में महाभारत का उल्लेख न होने पर भी *जातकों* में पाली भाषा के अन्तगत महाभारत के पात्रों का उल्लेख है।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर महाभारत का रचनाकाल वैदिक काल के बाद एवं बौद्धों के साहित्य से पूर्व याने लगभग ४०० ई० पू० मानना उचित एवं न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। अन्यथा सूत्रों में इसका उल्लेख न होता। *महाभारत* का अन्तिम संस्करण ई० पू० २०० में सातवाहन युग में हुआ। इसके क्रमिक विकास का उल्लेख स्वयं महाभारत में मिलता है। *व्यास* ने जिस ग्रन्थ को तीन वर्ष के अविरल परिश्रम से बनाया उसका नाम "*जय*" था। इसके श्लोकों की संख्या ८८०० थी, *वैशम्पायन* ने इसे बढ़ाकर २४००० श्लोकों का "*भारत*" बनाया और अन्त में "*सौति*" ने भारत में और भी आख्यान-उपाख्यान जोड़कर *हरिवंश* नामक परिशिष्ट के साथ इसे एक लाख श्लोकों का "*महाभारत*" बनाया।

वर्ण्य-विषय—

महाभारत में उसी समय से बराबर प्रक्षिप्तांश मिलते हैं। इसके क्रमिक विकास के तीन रूप मिलते हैं—(१)-*जय*, (२)-*भारत* तथा (३)-*महाभारत*। इसका मूल रूप जय नाम से प्रसिद्ध था, जैसा कि महाभारत के इस पद्य से स्पष्ट है—

"नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥"

इनमें *जय* का प्रारम्भ सम्भवतः मनु के उपाख्यान से, *भारत* का आस्तिक उपाख्यान से और *महाभारत* का परिचर उपाख्यान से हुआ। यही अन्तिम रूप *शतसाहस्री* संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। यह १८ पर्वों में विभक्त है एवं अन्त में परिशिष्ट के रूप में हरिवंश-पुराण इसमें सम्मिलित है। *प्रथम*-आदिपर्व से *अन्तिम*-स्वर्गारोहणपर्व तक कौरव-पाण्डवों के शैशव से लेकर अन्त में युद्ध समाप्ति के बाद *परीक्षित* पर प्रजा-पालन का भार डालकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक का वर्णन है।

महाभारत में मुख्य कथा के अतिरिक्त-*शकुन्तलोपाख्यान*, *रामोपाख्यान*, *शिवोपाख्यान*, *नलोपाख्यान* आदि अनेक उपाख्यान, जन्मेजय के नाग-यज्ञ की कथा, *च्यवनऋषि* तथा *सुकन्या* की कथा आदि कुछ पौराणिक-गाथायें एवं कुछ *ख्यातियाँ* भी मिलती हैं। इन ख्यातियों का उद्देश्य ब्राह्मणों का क्षत्रियों पर प्रभुत्त्व स्थापित करना था।

इस प्रकार समस्त *महाभारत*-ऐतिहासिक उपाख्यानों, कथाओं एवं ख्यातियों से पूर्ण है। इसमें उपदेशात्मक कथायें, राजनीतिक दाँव-पेच, धर्म, नीति एवं उपदेश-पूर्ण दृष्टान्तों का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रेक्षक-वाक्य बहुत से हैं। जैसे—कृष्ण उवाच, भीष्म उवाच आदि। महाभारत के धर्म का वास्तविक स्वरूप यही है कि जैसे के साथ वैसा ही बना जाय।

महाभारत का पूना वाला संस्करण—

आज जो *महाभारत* का रूप उपलब्ध होता है वह विभिन्न कालों में अनेक लेखकों के प्रक्षिप्तांशों से परिपूर्ण है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि "क्या मूल *भारत* ग्रन्थ को *महाभारत* में से अलग किया जा सकता है ? क्या यह सम्भव है कि महाभारत के भीतर काल-क्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहों को जिन्होंने इसके प्राचीन भागों को छिपा रखा है-उलटकर मूल भारत का स्वरूप व्यक्त किया जा सके ?"

यह प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पाण्डित्य की कसौटी है। हर्ष का विषय है कि यह भागीरथ कार्य पूना के "*भण्डारकर-प्राच्यविद्या-संस्थान*" की ओर से कई वर्षों से हो रहा है। महाभारत के इस पूना वाले संस्करण में जहाँ तक मानवी बुद्धि एवं परिश्रम के लिये सम्भव है, वहाँ तक *महाभारत* के उस मूल रूप के यथासम्भव प्राचीनतम अंश का उद्धार करने का प्रयत्न किया गया है। डा० *सुकथनकर* इस कार्य के प्राण थे। इस दिशा में उनका "*भृगु और भारत*" शीर्षक बृहत् निबन्ध स्तुत्य है। उससे ज्ञात

होता है कि भृगुवंशीय ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादन के फल-स्वरूप शताब्दियों में *भारत* को *महाभारत* का स्वरूप प्राप्त हुआ। महाभारत के व्याख्याता या निर्माता कुलपति *शौनक* स्वयं भार्गव थे।

यह सत्य है कि मूल *भारत-संहिता* के उस विशुद्ध रूप का, जिसका आविर्भाव हिमवत्-पृष्ठ के बदरी वन में हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई भी नहीं कर सकता, तौभी सहस्रों वर्षों की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके उत्तम है। इस दृष्टि से पूना के *भारत* चिन्तकों का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ *डा० सुकथनकर* इस कार्य में हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हुए।

रामायण-तथा महाभारत की तुलनात्मक समीक्षा

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से तुलना—

(क)—*दोनों का वैषम्य*—

(१)—*रामायण* तथा *महाभारत* की कथावस्तु पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि *रामायण* आदि महाकाव्य है और *महाभारत* इतिहास। *रामायण* में कथावस्तु की अपेक्षा काव्य-चमत्कार अधिक मात्रा में है एवं एक ही *राम* का चरित्र तथा *रावण* के युद्ध की घटना ही सब प्रकार से मुख्य है, किन्तु *महाभारत* में कुछ अंशों को छोड़कर काव्यत्व नहीं के बराबर है। इसकी मुख्य कथा में युद्धों के वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन राजाओं के इतिवृत्त का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसमें प्राचीन काल की अनेक अवान्तर कथायें मुख्य कथा की घटना से विशेष रूप से सम्बद्ध न होकर अपना पृथक् अस्तित्व भी रखती हैं और वे अत्यधिक संख्या में विद्यमान हैं।

(२)—इन दोनों महाकाव्यों में से *रामायण* एक कवि की कोमल-

भावपूर्ण लेखनी का चमत्कार है। उसकी कविता में स्निग्धता, मृदुता, शब्द एवं अर्थ की मञ्जुलता तथा सरसता का सामञ्जस्य है। उसमें एक ही कवि के उद्गार हैं, जब कि *महाभारत* में अपने *जय*, *भारत* तथा *महाभारत* तक के रूप निर्माण में कितने ही लेखकों का योग रहा है। इसमें काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता का ही प्राधान्य है तथा वर्णनात्मक शैली अधिक अपनाई गई है। सच तो यह है कि *महाभारत* काव्य की अपेक्षा कवितावद्ध इतिहास है।

(ख)—*दोनों का साम्य*—

(१)—दोनों महाकाव्यों में *कोशल* तथा *विदेह* एवं *पञ्जाब* के रीति-रिवाजों का वर्णन समान रूप से मिलता है।

(२)—दोनों काव्यों में *सीता* तथा *द्रौपदी* की जन्म कथा का अलौकिक चित्रण है।

(३)—दोनों काव्यों में *सीता* तथा *द्रौपदी* इन दोनों का विवाह स्वयंवर की रीति से हुआ है, किन्तु वर का चुनाव दोनों में किसी की इच्छा से न होकर निर्धारित शर्तों की पूर्ति के फल स्वरूप हुआ।

(४)—दोनों में *नायकों* को वनवास होता है एवं दोनों में नायिकाओं का खल नायकों द्वारा अपहरण होता है।

(५)—दोनों में अधिकांश वैदिक-कालीन कथायें भी आई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में साम्य भी पर्याप्त मात्रा में है।

रचनाकाल की दृष्टि से तुलना—

रचनाकाल की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों में कौन प्राचीन है, इस विषय मे विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ लोग रामायण को प्राचीन मानते है और कुछ महाभारत को, जिनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

(१)—डा० बेबर का कथन है कि रामायण में सुन्दर पादविन्यास तथा सुबोध रचना के दर्शन होते हैं, जो महाभारत की अपेक्षा रामायण को अर्वाचीन सिद्ध करते हैं। इनके मत में *रामायण* से *महाभारत प्राचीन* है।

(२)—*विण्टरनिज* के मतानुसार अवतारवाद का सिद्धान्त कृष्ण के युग से ही प्रचलित हुआ है। अतः राम यदि विष्णु के अवतार हैं तो वे कृष्ण के बाद में ही हुए होंगे। इसलिये इनका कहना है कि रामायण महाभारत के बाद की रचना है। अपने मत के समर्थन में वे कुछ और भी युक्तियाँ देते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क)—*रामायण* में महाभारत की अपेक्षा काव्याङ्गों का वर्णन विशेष रूप में है, जिसमें कालिदास की सी काव्यछटा विद्यमान है।

(ख)—*महाभारत* में प्राचीनता के प्रत्यायक "उवाच" आदि गद्य-वाक्य मिलते हैं, जब कि रामायण में इनका सर्वथा अभाव है।

(ग)—*महाभारत* के वर्णन में सर्वत्र क्षत्रियत्व का आभास मिलता है—कुन्ती, द्रौपदी आदि सभी वीर क्षत्राणियाँ हैं। वे भी दर्पपूर्ण युक्तियाँ बोलती हैं, जब कि रामायण में रावण सीता को दुर्वचन बोलता है तथा उसके साथ दुर्व्यवहार भी करता है, इसपर भी सीता एक अत्यन्त सभ्य हिन्दू स्त्री की भाँति चुपचाप रहती हैं।

(घ)—महाभारत का युद्ध उसके लेखक की स्वयं देखी हुई घटना प्रतीत होती है, किन्तु वाल्मीकि सुनी-सुनाई कथा को कहते हैं।

विण्टरनिज कहते हैं कि ये सब युक्तियाँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि महाभारत का निर्माण सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक-काल में हुआ था तथा रामायण का निर्माण तब हुआ जब कि सभ्यता पूर्ण विकसित हो चुकी थी। अतः रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना प्राचीन है।

परन्तु प्रो० जैकोबी का मत यह है कि महाभारत की अपेक्षा रामायण ही प्राचीन है और महाभारत की रचना रामायण के आधार पर हुई है।

भारतीय विचार धारा तो पूर्ण रूप से इसी मत की समर्थक है कि रामायण महाभारत की अपेक्षा प्राचीन है। अपने इस मत के समर्थन तथा विपक्षियों के मतों का खण्डन करने के लिए वे निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

(क)—वाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं और व्यास उनके बाद हुए हैं।

(ख)—युग की दृष्टि से भी वाल्मीकि त्रेता युग के कवि हैं और व्यास द्वापर के।

(ग)—अवतारों के हिसाब से भी राम के बाद ही कृष्ण का अवतार माना जाता है।

(घ)—महाभारत के पात्रों में व्यावहारिकता अधिक है। द्यूत तथा राज्य-लाभ के कारण युद्ध आदि की घटनायें व्यावहारिकता एवं विश्वास के क्षेत्र में आज के युग से दूर नहीं हैं, जब कि रामायण में रीछ-वानरों की सहायता से विजय प्राप्त करना, पानी में पत्थरों का पुल बांधना, रावण का दश शिर वाला होना आदि कुछ घटनायें ऐसी हैं जो मानव संस्कृति की उस प्राथमिकी अवस्था की ओर संकेत करती हैं जब कि ऐसी घटनाओं में विश्वास करना स्वाभाविक था।

(ङ)—*रामायण* में आर्य सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में वर्णित है। उसमें म्लेच्छों का जरा भी संकेत नहीं, किन्तु *महाभारत* में लाक्षागृह पुरोचन नामक म्लेच्छ द्वारा बनाया गया है एवं कौरव-पाण्डवों के युद्ध में दोनों ओर से अनेकों म्लेच्छों ने भाग लिया था।

(च)—भौगोलिक दृष्टि से भी रामायण का महाभारत से प्राचीन

होना सिद्ध होता है। रामायण में दक्षिण भारत एक जंगली प्रदेश के रूप में वर्णित है, जब कि महाभारत में दक्षिण के राजाओं का उपहार लेकर *राजसूय-यज्ञ* में उपस्थित होने का वर्णन किया गया है।

(छ)—रामायण की अपेक्षा महाभारत में युद्ध कला की भी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। रामायण में लोग ईंट, पत्थर, वृक्ष आदि से ही लड़ते थे, किन्तु महाभारत मे सेनापतियों की देख रेख में अनेक प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित व्यूहरचना आदि का वर्णन है।

(ज)—रामायण का समाज आदर्शवादी है। पिता, पुत्र, भ्राता आदि सभी आदर्श के पोषक हैं, जब कि महाभारत में इस आदर्श का अभाव है। उदाहरणार्थ-भीम अपने बड़े भाई की आज्ञा मानने को तैयार नहीं।

(झ)—रामायण की अपेक्षा महाभारत में नैतिक स्तर काफी गिर गया है। रामायण में नैतिक स्तर काफी ऊँचा है। रामायण में सीता की चरित्र शुद्धि के लिए अग्नि परीक्षा होती है, किन्तु द्रौपदी जब काम्यक बन में हरण कर ली जाती है तो उसे पुनर्ग्रहण करने में न तो कोई परीक्षा होती है और न कोई विरोध ही खड़ा होता है। अतः इस भावना के आधार पर भी रामायण की प्राचीनता सिद्ध होती है।

(ञ)—महाभारत में रामोपाख्यान आया है, किन्तु रामायण में महाभारत की कथा का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

उपसंहार—

उपरोक्त साम्य एवं वैषम्य तथा अन्यान्य युक्तियों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण महाभारत की अपेक्षा प्राचीन है। दोनों के प्रक्षिप्त अंशों ने आज दोनों के मूल रूपों में पर्याप्त मात्रा मे विकृति पैदा करदी है। इसी कारण उनका समय निर्धारित करना सर्वथा कठिन प्रतीत होता है, किन्तु वाल्मीकि

एवं व्यास, राम एवं कृष्ण के कालक्रम में भारतीय विद्वानों को कोई भ्रान्ति नहीं। इसी कारण रामायण का रचना काल ५०० या ६०० ई० पू० तथा महाभारत का रचना काल ४०० या ५०० ई० पू० माना जाता है। अतः रामायण को ही महाभारत की अपेक्षा प्राचीन मानना सर्वथा उचित एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है।

"पुराण-साहित्य"

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का स्थान—

प्राचीन भारतीय साहित्य में रचना काल एवं वर्ण्य-विषय की दृष्टि से पुराणों का स्थान निर्धारित करना बहुत कठिन है। वस्तुतः इनका स्थान जितना महत्त्वपूर्ण *इतिहास* में है उससे भी अधिक *धार्मिक-साहित्य* में है; क्योंकि वैदिक-साहित्य के बाद जिन ग्रन्थों ने हिन्दू धर्म को सबसे अधिक मात्रा में प्रभावित किया है, उनमें प्रथम स्थान पुराणों का ही है। इन पुराणों में सर्वत्र शिव तथा विष्णु की महिमा का ही गान किया गया है। प्राचीनता की दृष्टि से तो पुराणों के आख्यान वैदिक-कालीन कथाओं एवं कहानियों को ही कुछ परिवर्तित या परि-वर्द्धित रूप में लिए हुए हैं।

पुराण शब्द का अर्थ—

अथर्ववेद और *ब्राह्मणों* में *पुराण* शब्द *सृष्टि-मीमांसा* के अर्थ में आया है। *महाभारत* में इसका प्रयोग *"पुराणमाख्यानम्"* कह कर प्राचीन आख्यान के अर्थ में हुआ है।

पुराण की उत्पत्ति—

पुराण की उत्पत्ति के विषय में वायु, ब्रह्माण्ड तथा विष्णु पुराण से अवगत होता है कि चारों वेदों का निर्माण करने के पश्चात् *व्यास* मुनि

ने आख्यायिकाओं, कहानियों, गीतों एवं परम्परागत-जनश्रुतियों को लेकर एक *पुराण* की रचना की और *इतिहास* के साथ उसे अपने पाँचवें शिष्य *लोमहर्षण* को पढ़ाया इस प्रकार पुराने आख्यानों, गाथाओं एवं कल्पनाओं को लेकर पुराणों की सृष्टि हुई।

पुराणों का लक्षण--

यद्यपि विष्णु एवं मत्स्य आदि पुराणों में पुराणों का लक्षण यह दिया गया है—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्" ॥

तथापि सभी पुराणों में उपरोक्त पाँचों बातें नहीं उपलब्ध होतीं।

रचना-काल—

पुराणों के रचना काल का पता चलाने में हमें भीतरी तथा बाह्य प्रमाणों का सहारा लेना आवश्यक है। पुराणों के काल के बारे में विभिन्न मत हैं।

बाह्य-प्रमाण—

वैदिक-काल से लेकर ११ वीं शदी तक के ग्रंथों में पुराण शब्द का उल्लेख पाया जाता है। अथर्ववेद, बौद्धों के सुत्तनिपात, छान्दोयोग्य-उपनिषद्, शतपथ-ब्राह्मण, सूत्र-ग्रन्थ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्डपुराण, बाण की कादम्बरी, कुमारिल भट्ट के ग्रन्थ, शंकराचार्य के ग्रन्थ एवं अलबरुनी के लेख आदि में तत्तत्समयों में पुराणों का उल्लेख हुआ है।

भीतरी-प्रमाण—

अन्तः प्रमाणों की ओर दृष्टि डालने पर मालूम होता है कि *स्मिथ*

के कथनानुसार पुराणों में कलियुग के राजाओं का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ विष्णुपुराण में मौर्यवंश के राजाओं का, मत्स्यपुराण में आन्ध्र-वंश के राजाओं का, वायुपुराण में गुप्त-वंश के राजाओं का एवं शक, यवन, तुषार, हूण आदि म्लेच्छ-वंशीय राजाओं का भी वर्णन मिलता है। इसके अलावा इन पुराणों में भविष्यवाणी के रूप में कलियुग का भी वर्णन आया है। इन कलियुग के राजवंशों के वर्णनों के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि संस्कृत के प्राचीन साहित्य का अन्तिम रूप पुराण ही हैं। इनमें तीसरी शताब्दी के राजाओं का भी वर्णन मिलता है।

उपरोक्त अन्तर्वाह्य प्रामाणों के आधार पर इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि ये पुराण गुप्तकाल के बाद के नहीं हैं। अतः ६०० ई० पू० से लेकर ७०० ई० तक इन पुराणों के निर्माण का अनुमान किया जाता है। इन १३०० वर्षों की अवधि में ही इस लोक-साहित्य एवं इतिहास का रूप निर्माण हुआ होगा, क्योंकि इन पुराणों में हर्ष तथा उसके बाद के राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता।

वर्ण्य-विषय—

वायुपुराण में एक स्थल पर लिखा है कि पहले केवल पाँच ही पुराण थे, किन्तु आज कल १८ पुराण मिलते हैं। इन पुराणों में कोई एक शैली नहीं है। इनमें से कुछ के अन्दर वर्णाश्रम, ब्राह्मणधर्म, श्राद्ध, व्रत, साँख्य तथा योग संबन्धी वर्णन मिलते हैं और कुछ पुराणों में महाभारत काल के राजवंशों तथा गुप्तकालीन राजाओं का इतिहास मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ही पुराणों का विशेष महत्त्व है। इनकी ऐतिहासिकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनमें वर्णित राजकुलों तथा व्यक्तियों का वर्णन जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलता हैं।

रूप में क्यों न हो, किन्तु ब्राह्मणों के प्राचीन काल का द्योतक है। आशा है जब पुराणों को ऐतिहासिक ग्रंथ मानकर उनका अधिकाधिक मनोयोग के साथ अध्ययन किया जायगा तब प्राचीन भारत की अनेक उपयोगी बातों का ज्ञान प्राप्त होगा। भारत के प्राचीन इतिहास का एक विस्तृत भाग इन पुराणों में सुरक्षित है, जो भारतीय जीवन की क्रमिक विकास-धारा को अच्छी तरह समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

"संस्कृत नाटकों का उदय एवं प्रसार"

सामान्य परिचय—

संस्कृत-साहित्य में *नाटक* के लिए *रूपक* शब्द का प्रयोग होता है। रूपक दश प्रकार का होता है। रूपक का सर्व-प्रथम एवं सर्व श्रेष्ठ भेद नाटक कहलाता है। आजकल रूपक के लिए नाटक का ही प्रयोग प्रायः लोग किया करते हैं। सभी प्रकार के रूपकों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इन नाटकों का उद्भव अत्यन्त प्राचीन काल में ही हो गया था। भारतवर्ष में जितने प्राचीन नाटक उपलब्ध होते हैं उन सब में महाकवि "कालिदास" के *"अभिज्ञान-शाकुन्तल"* ने पाश्चात्य विद्वानों को इतना प्रभावित कर दिया था कि वे बड़ी उत्कण्ठा के साथ भारतीय नाट्यकला का अध्ययन करने के लिए प्रवृत्त हुए और उन्होंने अनेक नये-नये तत्त्वों को खोज निकाला।

नाटकों की उत्पत्ति—

नाटकों की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भारतीय विद्वानों की अपेक्षा पाश्चात्य विद्वानों ने

महत्त्व—

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन पुराणों का महत्त्व राजनैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से अधिक माना गया है। (१)–*धार्मिक-दृष्टि* से तो इनमें वेदोक्त-धर्म का अत्यन्त सुबोध भाषा में वर्णन मिलता है। (२)–शिलालेखों तथा विदेशियों के यात्रा वर्णन के आधार पर इनका *राजनैतिक* महत्त्व भी कम नहीं है। (३)–इनमें तत्कालीन *समाज का* भी अत्यन्त सुन्दर एवं भव्य शैली में विस्तृत वर्णन मिलता है। (४)–इनमें आए हुए तीर्थों के वर्णन से तत्कालीन *भौगोलिक* स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

वेदों से सम्बन्ध एवं निर्माण का प्रयोजन––

वेदों तथा पुराणों में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। पुराण वेदों के सहायक ग्रंथ हैं। इनका निर्माण संस्कार-विहीन निम्न जाति (स्त्री, शूद्र तथा अन्त्यज आदि) के लोगों के लिए किया गया था, क्योंकि ये वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं थे। पुराणों से पता चलता है कि पुराणों के पहले कर्ता या रक्षक-सूत, चारण आदि ही थे। सभी पुराणों का वर्णन सूत ही करते थे, जो ब्राह्मण नहीं थे। इन्हें वेद से कोई मतलब न था। इनके अतिरिक्त पुरोहितों का भी पुराणों पर काफी प्रभाव था। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय पुराणों को ही है।

उपसंहार––

अब तक पुराणों के बारे में यही समझा जाता रहा है कि इनमें कही गई बातें विश्वसनीय नहीं, किन्तु अब शनैः २ इनकी घटनाओं के वर्णन में लोगों का विश्वास होता जा रहा है। अतः पुराणों में जो परम्परागत बातों का उल्लेख मिलता है, वह चाहे कितना ही विकृत

इस विषय में अधिक प्रयास करते हुए अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अपने अनेक मत स्थापित किए हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

(१)—द्युलोकवाद—

साम्प्रदायिक मतों के आधार पर भारत की धर्मप्राण जनता का विश्वास है कि नाटकों की उत्पत्ति *द्युलोक* से हुई, क्योंकि *सतयुग* में तो सभी लोग पूर्ण सुखी थे। अतः उन्हें किसी प्रकार के मनोविनोद की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु त्रेता युग के आते ही भूतल पर दुःखों का आविर्भाव हुआ। अतः इन्द्र के नेतृत्व में सब देव-दानव मिलकर इस दुःख से छुटकारा दिलाकर कुछ क्षणों के लिए सांसारिक कष्टों को भुलाकर आनन्दानुभव की प्रदातृ-मनोविनोद की कोई सामग्री उपलब्ध करने के हेतु *ब्रह्माजी* के पास याचना करने गए। ब्रह्माजी ने ध्यानावस्थित होकर संसार के प्राणियों के लिए *नाट्यवेद* की उत्पत्ति की। इसके निर्माण में उन्होंने चारों वेदों का सहारा लिया। ऋग्वेद से कथावस्तु (भाषा-शैली आदि), *सामवेद* से सङ्गीत *यजुर्वेद* से अभिनय तथा *अथर्ववेद* से रस लेकर नाट्यकला की सृष्टि करके इसे पञ्चम वेद के नाम से पुकारा—

"जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सम्यग् गृथितो वेदसत्तमः ॥"

भरत-मुनि के उपरोक्त पद्य भी इस बात के समर्थक हैं। *विश्वकर्मा* ने दानावों से इसकी सुरक्षा करने के हेतु ब्रह्माजी की आज्ञानुसार एक सुन्दर रङ्गमञ्च का निर्माण किया, जिस पर नाटकों का अभिनय होने लगा। शिव ने नाट्य में ताण्डव-नृत्य का तथा पार्वती ने लास्य-नृत्य

का समावेश करके नाट्य कला में सहयोग प्रदान किया। सबसे प्राचीन नाटक *त्रिपुरदाह* तथा *समुद्रमन्थन* थे, जो इन्द्रध्वज पर्व पर खेले गये थे। इन नाटकों के अभिनय में पुरुषों का अभिनय पुरुषों ने तथा स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों ने किया था। इस कला को द्युलोक से मर्त्यलोक में पहुँचाने का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया था। इस प्रकार से यह नाट्यकला द्युलोक से मृत्युलोक में आई। भारतीय परम्परा तथा भरत-मुनि इसी मत के समर्थक हैं।

(२)-मृतक पूजावाद—

डा० *रिजवे* का मत है कि समस्त विश्व में नाटकों की उत्पत्ति मृत आत्माओं के प्रति प्रकट की जाने वाली श्रद्धा से हुई। यह श्रद्धा प्रकट करने की प्रथा भारत, ग्रीक आदि सभी प्राचीन देशों में चिरकाल से ही विद्यमान है। रामलीला तथा कृष्णलीलाओं में यही भावना निहित है। अतः नाटकों का अभिनय मृतात्माओं की प्रीति तथा उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने की भावना से होने के कारण यही मृतक-पूजा नाटकों की उत्पत्ति का मूल कारण है।

(३)-मे पोलवाद (May pole)—

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि नाटकों का उद्भव *मे पोल-नृत्य* से हुआ। पाश्चात्य देशों में मई का महीना अत्यन्त आनन्द-प्रद होता है। इस माह में वे लोग एक लम्बा बाँस गाड़कर उसके नीचे एकत्र होकर सब स्त्री-पुरुष मिलकर साथ-साथ नाचते हैं। भारतवर्ष में भी इन्द्रध्वज का उत्सव प्रायः इसी प्रकार का होता था। अतः नाटकों की उत्पत्ति बसन्त में मनाये जाने वाले त्योहारों के आधार पर हुई होगी।

(४)–कृष्णोपासनावाद—

इस मत के अनुसार नाटकों की उत्पत्ति केवल कृष्ण की उपासना से बतलाई गई है। इसी मत के आधार पर कुछ विद्वानों का कहना है कि संस्कृत-नाटक का विकास सर्वप्रथम कृष्णोपासना के आधार पर उसके प्रमुख स्थान शूरसेन प्रदेश में हुआ।

(५)–लोकप्रिय स्वाँगवाद—

प्रो० हिलब्रैण्ट तथा *स्टेनकेनो* के अनुसार भारतवर्ष में पहले लोकप्रिय स्वाँगों का अधिक प्रचलन था। इन स्वाँगो से ही नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं स्वाँगों में *रामायण* तथा *महाभारत* के आख्यान मिलाकर नाटकों की कथावस्तु तैयार हुई होगी।

(६)–पुत्तलिका-नृत्यवाद—

जर्मनी-विद्वान् *डा० पिशल* ने नाटकों की उत्पत्ति कठपुतली के नाच से होना सिद्ध किया है।

(७)–छायानाटकवाद—

डा० लूडर्स के मतानुसार नाटक की उत्पत्ति एवं विकास में छाया-नाटकों का बहुत हाथ रहा है। पहले प्रायः छाया द्वारा बहुत से खेल दिखलाने की प्रथा प्रचलित थी। इन्हीं छाया नाटकों से सर्व प्रथम नाटकों का विकास हुआ।

(८)–संवादसूक्तवाद—

ऋग्वेद में १५ से अधिक *संवादसूक्त* ऐसे मिलते हैं जिनमें धार्मिक भावनाओं के अलावा *लोकव्यवहार* से सम्बद्ध संवाद आए हैं। सन् १८६९ में *मैक्समूलर* का ध्यान इन सूक्तों की ओर गया और उन्होंने इन सूक्तों को नाटकों की उत्पत्ति का मूल बतलाया।

(९)–वैदिकानुष्ठानवाद—

संवादसूक्तों के अतिरिक्त वैदिकानुष्ठानों में कुछ विद्वान् नाटकों की उत्पत्ति के बीज देखते हैं। वैसे देखा जाय तो वैदिक अनुष्ठानों में नाटक के सभी उपादान तत्त्व मिल सकते हैं। वैदिक काल में *महाव्रतानुष्ठान* प्रचलित था। यह अनुष्ठान एक प्रकार का नाटक सा ही था। यदि इस विचार को उपयुक्त माना जाय तो यह कहना असङ्गत न होगा कि नाटकों के मूलश्रोत यही वैदिक अनुष्ठान हैं।

(१०)–समन्वयवाद—

उपरोक्त विभिन्न वादों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि नाटकों की उत्पत्ति में प्राचीन नृत्य, गीत एवं संवादों का योग रहा है। सभी जातियों में ये नृत्य-गीत आदि अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित थे। भारत में सभ्यता के विकास के साथ-साथ इन नृत्य-गीत आदिकों का भी विकास हुआ और इनका विकसित रूप ही नाटक कहलाया, जिसमें अभिनय ने और भी जीवन डाल दिया। इस प्रकार सर्व प्रथम नाटकों का सूत्रपात भारत में ही हुआ।

यह कहा जा चुका है कि सर्व प्रथम नाटक *त्रिपुरदाह* तथा *समुद्र-मन्थन* थे। इनके बाद भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति, नारायण-भट्ट आदि अनेक कवियों ने विभिन्न नाटकों का निर्माण किया। विस्तार के भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

संस्कृत-नाटकों की विशेषतायें—

संस्कृत-साहित्य में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति, नारायण भट्ट, श्रीहर्ष आदि उच्च कोटि के नाटककार माने जाते हैं। इनके नाटकों का अध्ययन करने पर संस्कृत नाटकों की निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं।

(१)—संस्कृत-नाटकों में प्रायः नान्दी, प्रस्तावना तथा भरतवाक्य का प्रयोग हुआ है।

(२)—कुछ नाटकों में अङ्कावतार, विष्कम्भक आदिका भी प्रयोग मिलता है।

(३)—प्रायः सभी नाटक अङ्कों में विभाजित हैं और प्रत्येक अङ्ककी समाप्ति पर सभी पात्र रङ्गमञ्च को छोड़ कर चले जाते हैं।

(४)—मृच्छकटिक आदि कुछ नाटक परिमाण में बृहद् आकार वाले भी हैं।

(५)—इन नाटकों में संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

(६)—इनमें विदूषक की कल्पना अद्वितीय है। यह राजा का मित्र होता है।

(७)—नाटकों की कथावस्तु मौलिक या भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों से ली गई है।

(८)—नाटकों में रङ्गमञ्च पर वध, विवाह, युद्ध आदि नहीं दिखाये जाते।

(९)—इनमें देश तथा काल के सङ्कलन की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

(१०)—इनमें गद्य एवं पद्य का सफल एवं सुन्दर मिश्रण है।

(११)—इन नाटकों में रस-परिपाक की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

(१२)—यहाँ के नाटक प्रायः सुखान्त ही हुआ करते हैं।

(१३)—संस्कृत नाटकों का प्रधान लक्ष्य लोकानुरञ्जन रहा है।

(१४)—इनके द्वारा नाटककार के समय की सामाजिक स्थिति का भी ज्ञान होता है।

(१५)—इनमें मानव-जीवन के साथ २ प्राकृतिक जीवन का भी सफल चित्रण मिलता है।

(१६)—उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों की और भी अनेक नाट्यकला सम्बन्धी विशेषतायें हैं, जिनके कारण आज भी विश्व-साहित्य में भारत के संस्कृत-नाटकों का विशिष्ट स्थान है। अकेले "*अभिज्ञानशाकुन्तल*" ने ही विश्व में हलचल पैदा करदी है। अतः भारतीय संस्कृत-नाटक-साहित्य अत्यधिक उत्कृष्ट है।

रूपकों के भेद तथा भेदकतत्त्व—

अंग्रेजी में जिस अर्थ में *ड्रामा* (Drama) शब्द का प्रयोग पाया जाता है उसी अर्थ में संस्कृत-साहित्य में *रूपक* शब्द का प्रयोग पाया जाता है। काव्य मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—(१)-*श्रव्यकाव्य* तथा (२)-*दृश्यकाव्य*। दृश्यकाव्य को ही रूपक कहा जाता है, क्योंकि इसमें नट में तत्तत्पात्रों (रामादि) का आरोप किया जाता है—"रूपकं तत्समारोपात्" आज रूपक के लिये नाटक शब्द प्रचलित है।

मुख्यतया रूपक के दश भेद होते हैं—"दशधैव रसाश्रयात्" जो इस प्रकार हैं—(१)—प्रकरण, (२)—भाण, (३)—प्रहसन, (४)—डिम, (५)—व्यायोग, (६)—समवकार (७)—वीथि, (८)—ईहामृग, (९)—अङ्क तथा (१०)—नाटक।

"नाटकं सप्रकरणं भाणं प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति"॥

इनके सिवाय १८ उपरूपकों के नाम तथा लक्षण नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलते हैं, किन्तु *धनञ्जय* तथा *धनिक* ने इन उपरूपकों का उल्लेख नहीं किया है। सिर्फ दशरूपक के तृतीय प्रकाश में प्रसङ्ग वश उपरूपक के एक प्रमुख भेद "*नाटिका*" का उल्लेख उन्होंने किया है।

रूपकों के उक्त दश भेद *कथावस्तु*, *नेता* (पात्र-नायकादि) तथा रस के आधार पर किये जाते हैं—"वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः"। किसी एक रूपक के भेद की कथावस्तु, उसका नायक, नायक की प्रकृति तथा उसका प्रतिपाद्य रस उसे रूपक के अन्य भेदों से पृथक् करता है। इस प्रकार इन रूपकों के भेदक तत्त्व तीन हैं—वस्तु, नेता तथा रस।

संस्कृत नाटकों का महत्त्व—

नाटक संस्कृत-साहित्य के एक गौरवपूर्ण अङ्ग हैं। नाटकों ने इस साहित्य को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्ति-कौमुदी संसार भर में चमकने लगी। जिस ग्रन्थने भारतीय साहित्य के सौन्दर्य को, कोमल कल्पना को तथा मनोहर रस-परिपाक को संसारके विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत किया वह महाकवि *कालिदास* का "अभिज्ञानशाकुन्तल" ही है। काव्य में रसानुभूति के लिये अर्थका समझना नितान्त आवश्यक होता है, किन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं होती इसी लिये नाटक की समता चित्र से की गई है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलङ्कारिक *वामन* ने श्रव्यकाव्यों की अपेक्षा दृश्यकाव्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

श्रव्यकाव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है, किन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिये वातावरण स्वयं तैयार हो जाता है। अतः साधारण व्यक्तियों के लिये भी श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। अतएव नाटक कवित्त्व की चरम सीमा माना जाता है—"नाटकान्तं कवित्त्वम्"।

संस्कृत नाटकों का उद्देश्य—

नाटकों का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है। *भरत* ने नाट्य को सार्ववर्णिक वेद कहा है, क्योंकि अन्य वेद केवल द्विज मात्र के लिए ही उपादेय

हैं, किन्तु नाट्य का प्रयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। यह शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का सञ्चार करता है, शूरों को उत्साह प्रदान करता है, अज्ञानियों को ज्ञान देता है, विद्वानों में विद्वत्ता को बढ़ाता है। यह *भरत-मुनि* के अनुसार लोकवृत्त का अनुकरण है—"लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति"। इस विशाल विश्व के पट पर सुख दुःख की जो प्रवृत्तियाँ अपना खेल दिखाया करती हैं तथा मानव जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाया करती हैं उनका चित्रण करना ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है।

मानव में स्वभाव से ही अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। छोटे बच्चों की अविकसित चेतना में भी इसका बीजरूप देखा जाता है। मानव ही नहीं कई पशुओं में भी, विशेषतः बन्दरों में हम अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पाते हैं। अनुकरण की प्रवृत्ति का लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना तथा मनोरञ्जन करना माना जाता है। काव्य एवं कला में भी मूलकारण अनुकरण-वृत्ति ही है। नाटक में तो अनुकरण स्पष्टतः दिखाई देता है। नाटक का उद्देश्य मानव तथा मानवेतर प्रकृति का चित्रण ही है। अतः भरत मुनि का कहना है--

"नतज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥"

इसीलिए कालिदास ने भी भिन्न भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए नाटक को एक सर्व-सामान्य मनोरञ्जन का साधन बताया है—

"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।"

संस्कृत नाटकों का विकास--

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हो चुकी थी। वैदिक युग में भी नाट्य के अस्तित्व का पता चलता है। वेदों के बाद रामायण, महाभारत, जैन तथा बौद्धों के ग्रन्थ, वात्सायन

के कामसूत्र एवं पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि में नाटक का संकेत मिलता है। इन सब उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि वैदिक-काल से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक नाटकों का प्रचलन सामान्य रूप में था। इसके बाद अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रक, नारायण-भट्ट, भवभूति एवं श्रीहर्ष आदि ने नाटक-साहित्य का खूब प्रचार एवं प्रसार किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाटकों ने अपने क्रमिक विकास में कुछ तत्त्व वैदिक-साहित्य से, कुछ रामायण-महाभारत से, कुछ इतिहास पुराणों से एवं कुछ लोक गीतों से ग्रहण किए। धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से भी इसे प्रेरणा मिली। पतञ्जलि के समय में तो उसका पूर्ण विकसित रूप में अभिनय होने लगा था। इस तरह भारत में संस्कृत-नाटक का पूर्ण विकास कई शताब्दियों में जाकर हुआ और उसकी उत्पत्ति एवं अभ्युदय में अनेक तत्त्वों का उपयोग हुआ।

नाट्यकला भारत की निजी-सम्पत्ति—

नाट्यकला भारत की निजी सम्पत्ति है, किसी बाहरी देश से उधार लिया हुआ धन नहीं। संस्कृत नाटकों की अक्षुण्ण-परम्परा में ग्रीक नाटकीय बीजों को ढूंढना हठधर्मिता मात्र है। संस्कृत-साहित्य का नाटक अङ्ग इतना समृद्ध है कि, मात्रा तथा गुण दोनों दृष्टियों से विश्व के नाटक-साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि नाटकों की रचना अनेक कवियों ने की जिनका नामोल्लेख आगे किया गया है, तथापि अन्य नाटककारों की चर्चा यत्र तत्र उपलब्ध होने से, विस्तार के भय से तथा परीक्षार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से यहाँ संक्षेप में प्रसंगवश केवल *अश्वघोष*, *भास*, तथा शूद्रक के जीवन एवं कार्यों पर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

"अश्वघोष"

महत्त्व—

बौद्ध आचार्यों में अश्वघोष का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट है। महायान सम्प्रदाय के आचार्यों में इनका नाम सर्व प्रथम है। अभी तक संसार इनकी दार्शनिक कृतियों से ही (जिनका अनुवाद चीनी, तिब्बती आदि अनेक भाषाओं में हजारों वर्ष पूर्व हो चुका है) परिचित था, किन्तु नई खोजों के आधार पर इनका नाम संस्कृत-साहित्य के महाकवियों में भी उल्लेखनीय हो गया है। नई खोजों से न केवल इनके महाकाव्यों का ही पता लगा है, बल्कि मध्य-एशिया में की गई खुदाई से इनके एक अपूर्ण फिर भी महत्त्वपूर्ण नाटक का भी पता लगा है। अब ये केवल *बौद्ध-दार्शनिक* के रूप में ही नहीं, बल्कि उच्चकोटि के *महाकवि* एवं *नाटककार* के रूप में भी विद्वानों द्वारा सम्मानित किए जाते हैं।

जीवन-वृत्त—

अश्वघोष एक बौद्ध भिक्षु थे। जनश्रुति के अनुसार ये *कनिष्क* के समसामयिक माने जाते हैं। ये बौद्ध धर्म के एक बहुत बड़े आचार्य थे। अश्वघोष के एक जीवन चरित के आधार पर पता चलता है कि ये *मध्यभारत* के रहने वाले थे। तिब्बती बुद्धचरित के आधार पर ये साकेत (अयोध्या) के रहने वाले थे। कुछ लोग इन्हें *पार्श्वजी* का शिष्य मानते हैं और कुछ उनके शिष्य *पूर्णयश* जी का शिष्य इन्हें मानते हैं। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनका भाषण इतना मधुर था कि घोड़े (अश्व) भी चरना छोड़कर इनका भाषण सुनने लगते थे। कुछ लोगों का कहना है कि *कनिष्क* के समय में जो *बौद्ध-सङ्गीति* संगठित की गई थी, उसके सञ्चा-

लन का भार इन्हीं को सौंपा गया था। ये पहले *सर्वास्तिवादी* दार्शनिक थे, किन्तु बाद में *महायान* शाखा के प्रवर्तकों में इनका नाम सर्व-प्रथम गिना जाने लगा। कनिष्क के समकालीन होने से इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। ये आचार्य *भगदन्त* की उपाधि से भी विभूषित किए गए थे। *इत्सिङ्ग* के अनुसार ये उच्चकोटि के शिक्षक एवं उपदेशक थे।

ग्रन्थ (अश्वघोष के कार्य)—

अश्वघोष के अभी तक सात ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं--(१)-गण्डिस्तोत्रगाथा, (२)–सूत्रालङ्कार, (३)–बुद्धचरित, (४)–सौन्दरानन्द, (५)–शारिपुत्र-प्रकरण, (६)–वज्रसूचि तथा (७)–महायानश्रद्धोत्पाद। इन समस्त ग्रन्थों में तीन ही प्रमुख माने जाते हैं, जिनमें दो महाकाव्य हैं तथा तीसरा प्रकरण। इन महाकाव्यों के नाम *बुद्धचरित* तथा *सौन्दरानन्द* हैं एवं तीसरा प्रकरण *शारिपुत्र* नाम से प्रसिद्ध है। ये तीनों ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही लिखे गए हैं। अतः अश्वघोष संस्कृत-साहित्य के पुष्पोद्यान में एक परमलोचनासेचनक कुसुम तुल्य है। इनके उक्त तीनों ग्रन्थरत्न इनके यश के प्रख्यापक हैं। इन्हीं का यहाँ परिचय दिया जाता है--

बुद्धचरित—

यह अश्वघोष का अत्युत्तम महाकाव्य है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति *शारदा-लिपि* में लिखी हुई मिली है। इसमें १३ सर्ग पूर्ण तथा १४ वें सर्ग के केवल चार पद्य मिले हैं। इसका चीनी तथा तिब्बती भाषा में भी अनुवाद हुआ है। इसमें भगवान् बुद्ध के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया गया है। यह एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं। इसमें प्रेम-

कथा के दृश्य, नीति-शास्त्र के सिद्धान्त एवं सांग्रामिक घटनाओं के भी वर्णन हैं। कमनीय कामिनियों की केलियाँ, सिद्धार्थ को गृह पुरोहितों का उपदेश आदि बड़ी विशद कल्पना एवं रमणीय शैली में चित्रित हुए हैं।

यह सारा काव्य वैदर्भी रीति में लिखा गया है। इसमें लम्बे-लम्बे समास कहीं नहीं मिलते। भाषा सरल, सुन्दर एवं मधुर है। सर्वत्र प्रसाद गुण विद्यमान है। वर्णन रोचक एवं प्रभावोत्पादक है। सर्वत्र रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। करुण-रस का वर्णन तो अत्यन्त हृदय द्रावक है। सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के अवसर पर यशोधरा, माया एवं शुद्धोधन के विलाप अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं।

सौन्दरानन्द—

इसमें ऐतिहासिक महाकाव्य की पद्धति का अनुसरण करते हुए बुद्ध के सौतेले भाई नन्द एवं सुन्दरी की प्रेमगाथा का चित्रण किया गया है साथ ही यह भी बतलाया गया है कि भगवान् बुद्ध ने नन्द को, जो कि सुन्दरी के प्रेम में लीन था किस प्रकार अपने धर्म का अनुयायी बनाया। इसमें २० सर्ग हैं जो प्रारम्भ से अभी तक सुरक्षित हैं। यह ग्रन्थ निःसन्देह अश्वघोष की कृति है।

शारिपुत्र-प्रकरण—

प्रो० लूडर्स को मध्य-एशिया में कुछ ग्रन्थ प्राप्त हुए, जिनमें तीन नाटक भी थे। इन नाटकों में से एक *शारिपुत्र-प्रकरण* भी है। यह प्रकरण अश्वघोष का लिखा हुआ माना गया है, क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में "सुवर्णाक्षी पुत्र अश्वघोष" यह नामोल्लेख किया गया है। यह प्रकरण संस्कृत के प्रकरण मृच्छकटिक तथा मालतीमाधव की ही तरह लिखा गया है। इसमें ६ अङ्क हैं तथा प्रकरण के सभी लक्षण इसमें मिलते हैं।

शारिपुत्र प्रकरण के अतिरिक्त जो दो नाटक और प्रो० लूडर्स को प्राप्त हुए हैं वे भी अश्वघोष के ही द्वारा निर्मित माने जाते हैं। ये खण्डित रूप में हैं। अश्वघोष के उपरोक्त सभी ग्रन्थ बौद्धधर्म के प्रचारार्थ ही रचे गए हैं।

अश्वघोष की शैली तथा भाषा--

अश्वघोष की शैली पर दृष्टि पात करने से पता चलता है कि कविवर ने सर्वत्र वैदर्भी रीति को ही अपनाया है। इनके ग्रन्थों की भाषा सरल, सुगम एवं प्रसाद-गुण पूर्ण है। शैली परिष्कृत एवं चमत्कार पूर्ण है। इनका शब्द-विन्यास सर्वत्र विशद एवं शोभायुक्त है। इसका कारण यह है कि कवि की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य सरल एवं मधुर भाषा में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का जन-साधारण में प्रसार करना था। इसी लिए शैली में सरलता के साथ-साथ माधुर्य भी विद्यमान है। अश्वघोष के ग्रन्थों में कहीं भी दीर्घ समास नहीं मिलते। इनकी शैली कृत्रिमता एवं अस्वाभाविकता से सर्वथा दूर है। गम्भीर दार्शनिक विचारों को भी अश्वघोष ने अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। इनकी भाषा में सरलता के साथ-साथ सुबोधता भी है। इनकी उपमायें बिलकुल घरेलू हैं और शीघ्र ही समझ में आजाती हैं। कुछ विद्वानों की राय में तो अश्वघोष की उपमायें कालिदास से भी बढ़कर हैं।

अश्वघोष ने सुन्दरी के सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त सरलता के साथ बड़े प्रभावपूर्ण ढङ्ग से किया है। आदर्श-प्रेम के चित्रों में इन्होंने सजीवता उत्पन्न कर दी है। इतना होने पर भी अश्वघोष अकृत्रिम एवं सुबोध यमकों के बड़े ही प्रेमी थे। उदाहरणार्थ--"उदारसख्यैःसचिवैरसंख्यैः।" वह एक उच्चकोटिके वैयाकरण भी थे। अतएव उन्होंने व्याकरण के अप्रचलित प्रयोगों को भी अपने काव्यों में स्थान दिया है।

रामायण, महाभारत तथा अन्य बौद्ध लेखकों के प्रभाव से प्रभावित होकर कविवर ने कहीं २ व्याकरण विरुद्ध प्रयोग भी किये हैं। जैसे "*किमउत*" के स्थान पर "*किमूवत्*" "चेद् के स्थान पर सचेद्" का प्रयोग किया गया है। छन्दों के प्रयोग में तो अश्वघोष सिद्धहस्त ही हैं। अप्रसिद्ध छन्दों का भी सफलतापूर्वक प्रयोग इन्होंने किया है। कुछ भी हो अश्वघोष की गणना संस्कृत के महाकवियों में की जाती है। वे काव्य, नाटक तथा गीतिकाव्यों के निर्माता हैं।

कालिदास और *अश्वघोष* के *काव्यों में बहुत कुछ समानता है,* किन्तु अभीतक यह निर्णय नहीं हो सका कि दोनों में कौन पहले हुआ था। वैसे कुछ विद्वान् कालिदास से एक शताब्दी बाद अश्वघोष का होना निश्चित करते हैं, किन्तु आजकल अधिक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् कालिदास को ई० पू० प्रथम शताब्दी का न मानकर गुप्तकाल का मानते हैं। अतः इनके अनुसार अश्वघोष ही कालिदास से प्राचीन ठहरते हैं। अश्वघोष बौद्ध थे। इनके काव्य, नाटक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में बौद्धों की देन भी अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है।

"नाटककार भास"

संस्कृत साहित्य में भास का स्थान—

संस्कृत के नाटक-साहित्य में *महाकवि भास* का स्थान महत्त्वपूर्ण है। साधारण नाटककार ही नहीं, बल्कि स्वयं *कालिदास* तक ने भास की महत्ता स्वीकार की है। *मालविकाग्निमित्र* की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से कालिदास ने स्पष्ट करवाया है कि प्रख्यातनामा *भास, सौमिल्ल* आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर *कालिदास* की कृति का अधिक आदर क्यों हो रहा है? इस प्रश्न से सुस्पष्ट है कि कालिदास के समय

में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनके सामने जनता कालिदास की कमनीय रचना को भी आदर की दृष्टि से नहीं देखती थी।

कालिदास के परवर्ती कवियों ने भी भास के रूपकों का आदर किया है। *बाणभट्ट* ने हर्ष चरित के प्रारम्भ में भास की बहुत प्रशंसा की है। राजशेखर ने भी भास के नाटकों की अग्निपरीक्षा एवं *स्वप्नवासवदत्ता* के न जलने की बात लिखी है। इससे सुस्पष्ट है कि संस्कृत नाटक-साहित्य में भास का स्थान अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है।

दुर्भाग्यवश ऐसे प्रसिद्ध नाटककार के विषय में भी हम पूर्णतया कुछ नहीं जानते थे, क्योंकि इनके नाटक अभीतक अज्ञानान्धकार में छिपे हुए थे। अकस्मात् एक ही स्थान पर अनन्तशयन के म० म० श्री *गणपति शास्त्री* को १९०६ में दश रूपकों की उपलब्धि हुई। इसके बाद और भी तीन नाटकों का पता लगा। गणपति शास्त्री ने इन तेरह रूपकों को *अनन्तशयन-संस्कृत-ग्रन्थावली* में प्रकाशित किया है।

इस नाटक समूह के कर्ता के विषय में गहरा मतभेद है। प्रो० कीथ, जैकोबी, स्टेनकेनो, विण्टरनिज आदि विद्वानों ने इन तेरह के तेरह नाटकों को भास की रचना स्वीकार किया है। स्वयं गणपति शास्त्री का भी यही मत है।

किन्तु वार्नेट, सिलवनलेवी, स्वर्गीय पं० रामावतार शर्मा आदि उक्त विचार से सहमत नहीं। पं० रामावतार शर्मा का कहना है कि कुछ नाटकों के कतिपय अंश अवश्य भास कृत हैं, किन्तु सभी नाटकों के कर्ता भास नहीं हो सकते। किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशो की पूर्ति की है। इनके अलावा और भी कुछ भारतीय विद्वान् इन्हें भास की रचना न मानकर किसी केरलदेशीय कवि की रचना मानते हैं। इस विवाद के समाधानार्थ पहले यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिनके आधार पर इन नाटकों का एक ही कवि द्वारा रचित होना सिद्ध होता है। इसके बाद यह बताया जायगा कि वह एक कर्ता भास ही है।

(१)—इन सभी नाटकों का एक ही कर्ता है, इस बात के साधक प्रमाणों में सबसे पहला प्रमाण यह है कि इन सभी नाटकों में हम एक पारिभाषिक शब्द के लिये दूसरे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग पाते है। जैसे *प्रस्तावना* के लिये *स्थापना* शब्द।

(२)—दूसरी बात यह है कि कम से कम चार नाटकों की नान्दी में *मुद्रालङ्कार* (नान्दी में नाटक के मुख्य पात्रों के नाम) समान रूप से पाया जाता है।

(३)—ये नाटक परस्पर में अनेक प्रकार से सम्बद्ध हैं।

(४)—इन नाटकों में एक ही ढंग की कवि-कल्पनायें उपलब्ध होती हैं।

(५)—इन नाटकों में कुछ विचारों की पुनरावृत्ति भी पाई जाती है।

(६)—इन सभी नाटकों में प्रयुक्त शब्दावली एवं शैली प्रायः एक सी है।

(७)—करीब ६ नाटकों में मरता हुआ आदमी *"आपस्तावत्"* कहकर पानी माँगता है।

(८)—इन नाटकों में प्रायः मृत्यु के समय के करुण-दृश्य समान रूप से मिलते हैं।

(९)—इन सभी नाटकों की भूमिकायें छोटी-छोटी हैं।

(१०)—इन नाटकों में गौण पात्रों के भी नामों की आवृत्ति पाई जाती है।

(११)—पाणिनीय-व्याकरण के नियमों का उल्लंघन सभी में प्रायः समान ही है।

(१२)—एक ही भरत-वाक्य का प्रयोग कई नाटकों में मिलता है।

इन उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन सभी नाटकों का कर्ता एक ही व्यक्ति है। जो इन्हें भास की रचना

मानते हैं उनके विषय में तो कुछ कहना नहीं है, किन्तु जो इन्हें भास-कृत नहीं स्वीकार करते इतना तो उन्हें भी मानना ही पड़ेगा कि ये सब किसी एक ही कवि की रचनायें हैं। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इनका रचयिता वह एक व्यक्ति कौन है? इस प्रश्न के समाधानार्थ नीचे कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनके आधार पर विपक्षियों को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनका रचयिता *भास* ही है।

वाह्यप्रमाण—

(१)-यद्यपि स्वप्नवासवदत्ता (नाटक) एक ही साधारणतया भास की रचना ज्ञात होती है, तथापि प्राचीन काल में *भास* के एक से अधिक रूपकों के होने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जिनमें सर्व प्रथम यह है कि *वाणभट्ट* ने—"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः" इस पद्य में "नाटकैः" इस बहुवचन शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ७ वीं शदी में *भास* के अनेक नाटक प्रचलित थे।

(२)—दूसरा प्रमाण यह है कि राजशेखर ने भास के *नाटकचक्र* का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(३)—*अभिनवगुप्त* ने "स्वप्न-नाटक" तथा "दरिद्रचारुदत्त" का उल्लेख किया है।

(४)—*वामन* ने "प्रतिज्ञा-नाटक, दरिद्रचारुदत्त तथा स्वप्नवासवदत्ता" के कतिपय पद्यों को अपनी "काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति" में उद्धृत किया है।

(५)—*भामह* ने भी अपने "*काव्यलङ्कार*" में *भास* के अनेकों नाटकों का उल्लेख किया है।

अन्तःप्रमाण—

(१)—उपरोक्त वाह्य प्रमाणों के अलावा कुछ अन्तः प्रमाण भी ऐसे मिलते हैं, जो इन नाटकों को *भास* की रचना सिद्ध करते हैं। जिनमें पहला प्रमाण यह है कि साधारणतया नान्दी के बाद *सूत्रधार* का प्रवेश होता है, किन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से आरम्भ न होकर सूत्रधार द्वारा आरम्भ होते हैं। यह विशेषता भास के ही नाटकों की है।

(२)—*वाक्यपतिराज* ने "गउडवहो" नामक अपने प्राकृत-महाकाव्य में *ज्वलनमित्र* (अग्निमित्र) शब्द का प्रयोग किया है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि *वासवदत्ता* के जलने की झूठी खबर फैलाकर *भास* को नाटकीय वस्तु के विकास को दिखाने का उचित अवसर मिलता है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को ही वाक्यपति ने *ज्वलनमित्र* से सम्बोधित किया है।

(३)—जयदेव ने भास को कविता-कामिनी का हास कहा है। इस विशेषण से हास्यरस के वर्णन में भास की प्रवीणता सिद्ध होती है। उपलब्ध नाटकों में भी हास्यरस के प्रसंग अच्छे ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। अतः जयदेव का कथन इन नाटकों के कर्ता के विषय में भी पूर्णरूप से घटित होता है।

उपरोक्त वाह्य एवं अन्तः प्रमाणों के आधार पर विद्वानों को इन नाटकों को भास की रचना मानने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति (विरोध) नहीं है।

किन्तु इधर इस विषय की और भी खोज तथा परीक्षा करने पर "स्वर्गीय पं० रामावतार शर्मा" का कथन ही उचित प्रतीत होता है कि "इन नाटकों के कुछ अंश भास कवि के हो सकते हैं, परन्तु इनके समग्र रचयिता प्रसिद्ध भास नहीं, बल्कि इनके रचित अंशों को किसी केरल

कवि ने पूर्ण किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल में ही अधिक प्रचलित हैं।" आजकल लोगों की यही धारणा हो रही है, फिर भी अभी तक यह विषय सिद्धान्त रूप से निश्चित नहीं हुआ है।

आविर्भाव काल--

भास के आविर्भाव काल के विषय में ऐतिहासिकों में काफी मत-भेद हैं। अभी तक किसी ऐसे सिद्धान्त की उद्भावना नहीं हुई है जो सर्वमान्य हो। अतः यहाँ विभिन्न मतों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

(१)-भास-नाटकचक्र के आविष्कारक तथा सम्पादक *गणपति शास्त्री* ने भास को *चाणक्य* तथा *पाणिनि* से भी प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। शब्दों के अपाणिनीय प्रयोग इस बात के साक्षी हैं कि पाणिनि के सर्वमान्य होने के पूर्व ही इन नाटकों की रचना हुई है। अतएव भास का समय लगभग ५०० ई० पू० होना चाहिये।

(२)-डाक्टर-बार्नेट इस नाटकचक्र के "कल्पित भास" को सातवीं शताब्दी का केरलदेशीय कवि सिद्ध करते हैं, क्योंकि उसी समय लिखे गये *महेन्द्रवीरविक्रम* द्वारा निर्मित "मत्तविलास-प्रहसन से इन नाटकों की भाषा तथा शब्दों का पूर्णतया साम्य है।

(३)-*डाक्टर लेस्नी*, *प्रिण्टज*, *बैनर्जी शास्त्री*, *सुकथनकर* आदि पश्चिमी तथा पूर्वी पण्डितों ने इन नाटकों की आन्तरिक परीक्षा करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि *भास*, *कालिदास* (५ वीं शदी) से पुराने तथा चाणक्य (२ शदी) से अर्वाचीन हैं। अतः भास का समय अश्वघोष तथा कालिकास के बीच अर्थात् तीसरी शदी होना चाहिये, क्योंकि अश्वघोष की प्राकृत का विकास भास में दीखता है। अधि-कांश विद्वान् इसी मत को स्वीकार करते हैं।

उपसंहार—

भास ने केवल रूपकों की ही रचना की। उपलब्ध रूपकों की संख्या तेरह हैं। इनमें से केवल दो का विषय रामायण से लिया गया है एवं पाँच नाटकों की कथावस्तु महाभारत से ली गई है। कुछ नाटकों की कथा प्राचीन अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध है। परन्तु इन सब में भास की मौलिकता एवं कल्पना शक्ति का वैचित्र्य प्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक पाठक को अनुभव हो सकता है। इन विभिन्न विषयों पर नाटक लिखना भास की विलक्षण प्रतिभा एवं अपूर्व नाट्य-कौशल का प्रत्यायक है । इनके नाटक निम्नांकित हैं—(१)–प्रतिमा-नाटक, (२)–अभिषेक-नाटक, (३)–पंचरात्र, (४)–मध्यमव्यायोग, (५)–दूत-घटोत्कच, (६)–कर्णभार, (७)–दूतवाक्य, (८)–उरुभङ्ग, (९)–बाल-चरित, (१०)–दरिद्र-चारुदत्त, (११)–अबितारक, (१२)–प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण तथा (१३)–स्वप्न-वासवदत्ता।

"शूद्रक"

प्रस्तावना—

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में बहुत से ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं जिन्होंने कवियों तथा पण्डितों को आश्रय देकर ही केवल सरस्वती की सेवा नहीं की, बल्कि स्वयं कमनीय काव्यरत्नों का निर्माण कर सरस्वती की पर्याप्त सेवा की। *शूद्रक* भी ऐसे राजाओं में से एक हैं।

परिचय—

शूद्रक ने अपने सुशासन से ही जनता को प्रसन्न नहीं किया, बल्कि अपनी कमनीय नाट्यकला के प्रदर्शन से भी सहृदय जनों को आल्हा-

दित किया। शूद्रक की प्रसिद्ध कृति *मृच्छकटिक* है। जिसके आरम्भ के कुछ पद्यों से रचयिता के विषय में कुछ वृत्त ज्ञात होता है। इसमें लिखा है कि शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणितशास्त्र, कला, नृत्य, गायन, हस्तिशास्त्र आदि में परम प्रवीण थे। भगवान् शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। दशदिन तथा एक सौ वर्ष की आयु भोगने के अनन्तर अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठाकर शूद्रक ने अग्नि में प्रवेश किया था। वे युद्धप्रेमी, प्रमादरहित, तपस्वी एवं वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे। बड़े-बड़े हाथियों के साथ इन्हें बाहु-युद्ध करने का शौक था। इनका रूप अति सुन्दर था।

प्रसिद्धि—

शूद्रक नामक राजा की संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रसिद्धि है। संस्कृत-साहित्य में इनके विषय में अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं, किन्तु अभी तक निश्चित रूप से इनके व्यक्तित्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। कादम्बरी, हर्षचरित, कथासरित्सागर, वेतालपञ्चविंशतिका, राजतरङ्गिणी तथा स्कन्धपुराण आदि ग्रन्थों मे शूद्रक का उल्लेख मिलता है। *मृच्छकटिक* (मिट्टी की गाड़ी) की प्रस्तावना के दो पद्यों में भी शूद्रक का परिचय दिया गया है, किन्तु प्रस्तावना के श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं।

मृच्छकटिक का कर्ता—

मृच्छकटिक के कर्त्ता के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१)-*पिशेल* के मतानुसार मृच्छकटिक के निर्माता *दण्डी* हैं। इनका कहना है कि दण्डी ने तीन कृतियाँ लिखी थीं—(१)-दशकुमारचरित, (२)-काव्यादर्श तथा मृच्छकटिक—"त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च" किन्तु इनका कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि दण्डी *मृच्छकटिक* के कर्त्ता होते तो वह शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध क्यों होता।

(२)–डाक्टर-सिलवां-लेवी के मतानुसार मृच्छकटिक के कर्त्ता शूद्रक नहीं, अपितु किसी कवि ने इसे शूद्रक की कृति इसलिये कहा कि इसका सम्मान और प्राचीनता व्यक्त हो सके।

(३)–डाक्टर *कीथ* का मत है कि *रामिल* तथा *सौमिल्ल* दोनों कवियों ने मिलकर *भास* के *चारुदत्त-नाटक* को परिवर्धित कर उसे मृच्छकटिक यह नाम दिया और शूद्रक के नाम से उसे प्रचारित किया। ये शूद्रक को कल्पित मानते हैं, ऐतिहासिक नहीं। किन्तु इनका शूद्रक को कल्पित मानना असंगत है, क्योंकि *बाण*, *दण्डी*, *राजशेखर* आदि ने शूद्रक का उल्लेख किया है।

(४)–*केनो* स्कन्धपुराण में वर्णित *शूद्रक* को ही मृच्छकटिक का कर्त्ता मानते हैं तथा आन्ध्र-वंशीय राजा *सिमुक* से उन्हें अभिन्न मानते हैं।

(५)—पंडित बलदेव उपाध्याय शूद्रक को ही इसका कर्त्ता मानते हैं।

(६)—नवीन मतवाले जिनमें डा० भोलाशंकर व्यास भी सम्मिलित हैं, शूद्रक को तो ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं, किन्तु *मृच्छकटिक* को किसी दूसरे कवि की कृति मानते हैं। इनका कहना है कि "भास" के *दरिद्रचारुदत्त* की अपूर्णता देखकर किसी कवि ने आवश्यक परिवर्तन कर, *आर्यक* तथा *पालक* आदि की कहानियाँ इसमें जोड़कर इसे मृच्छकटिक नाम दिया। इसके कर्त्ता ने शैव-योगी-वर्णव्यवस्था आदि का पक्षपाती, श्रद्धालु एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय का आदर करने वाला होने पर भी इसमें तत्कालीन *राजवर्ग* तथा *समाज* की अवस्था का चित्रण करते हुए उनकी खिल्ली उड़ाई है। अतः राजदण्ड के भय से क्रान्तकारी कवि ने अपना नाम छिपाकर इसे प्रसिद्ध शूद्रक के नाम से प्रचारित किया होगा।

मृच्छकटिक के कर्त्ता का समय—

मृच्छकटिक के कर्त्ता के समय-निरूपण के विषय में पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस विषय में भी विद्वानों के विभिन्न

मत हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। पुराणों में आन्ध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा सिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् *सिमुक* के साथ *शूद्रक* की अभिन्नता स्वीकार कर शूद्रक को ही मृच्छकटिक का कर्त्ता मानकर उक्त नाटककार का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं। किन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में अनेक विद्वानों को आपत्ति है। अतः *वहिरङ्ग* तथा *अन्तरङ्ग* प्रमाणों के आधार पर मृच्छकटिक के कर्त्ता का समय-निर्धारण किया जाता है—

वहिरङ्ग-प्रमाण—

वामन (८०० ई०) तथा *दण्डी* (७ वीं शदी) ने मृच्छकटिक के—"लिम्पतीवतमोऽङ्गानि०" इस पद्यांश का उल्लेख किया है। अतः इन वहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक की रचना सातवीं शदी से पूर्व हुई होगी।

अन्तरङ्ग-प्रमाण—

(क)—मृच्छकटिक के नवम-अङ्क में बसन्तसेना की हत्या का अभियोग शकार ने चारुदत्त पर लगाया था, जिसका फैसला न्यायाधीश मनुस्मृति के प्रमाण के आधार पर करता है—

(९।३९)—"अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥"

यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है। भगवान् मनु का भी यही कथन है कि—

(मनु०अ०८-३८०)—"न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपिस्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥"

अतः यह प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के बाद हुई होगी। मनुस्मृति का रचना काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है। इसी के बाद मृच्छकटिक का समय होना चाहिये।

(ख)—*भास* कवि के "दरिद्रचारुदत्त" तथा शूद्रक के मृच्छकटिक में अत्यन्त समता पाई जाती है। यदि मृच्छकटिक को भास के अनुकरण पर रचा हुआ माना जाय, तो शूद्रक का समय भास के बाद अर्थात् ईसा की तीसरी शदी के बाद का होना चाहिये।

(ग)—मृच्छकटिक के नवम-अङ्क में कवि ने बृहस्पति को मङ्गल का विरोधी बताया है, किन्तु *वाराहमिहिर* जिसका मत आज भी मान्य है, ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना है। *वाराहमिहिर* का परवर्ती कोई भी ज्योतिषी बृहस्पति को मङ्गल का विरोधी नहीं कह सकता। अतः शूद्रक वारहमिहिर (छठी शदी का उत्तरार्ध) से पूर्व के ठहरते हैं, जब बृहस्पति को मङ्गल का विरोधी माना जाता रहा होगा।

(घ)—मृच्छकटिक में वर्णित सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ, गुप्तों के बाद तथा हर्ष के पूर्व जब कि कोई सार्वभौम राजा न था एवं राजाओं का चारित्रिक अधः पतन हो चुका था, के समय की ओर संकेत करती हैं।

उपरोक्त वहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर हम *मृच्छकटिक* को ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध या छठी शती के पूर्वार्ध की रचना कह सकते हैं।

ग्रन्थ—

शूद्रक के नाम से अभी तक एक ही ग्रन्थ *मृच्छकटिक* उपलब्ध हुआ है। यह दश अङ्कों का प्रकरण है। इसके अलावा हाल ही में शूद्रक के नाम से "*पद्मप्राभृतक*" नाम का *भाण* मिला है। भाण का कथानक बहुत ही सुन्दर है और उसमें वर्णित विषयो की प्राचीनता

स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। अतः इसको भी शूद्रक की कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

मृच्छकटिक का वर्ण्यविषय

मृच्छकटिक १० अङ्कों का प्रकरण है। उसके कथानक का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है कि उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या *वसन्तसेना*, जिसे लक्ष्मी का अवतार कहा जाता है, *चारुदत्त* नामक एक आदर्श नागरिक ब्राह्मण पर अनुरक्त है। गुणशाली ब्राह्मण चारुदत्त अपनी दानशीलता के कारण दरिद्र हो गया। इतने पर भी उसने अपने पुण्यकर्म का परित्याग नहीं किया। उसके गुणों के कारण *वसन्तसेना* उस पर मुग्ध थी। उधर राजा का श्यालक–*शकार* बसन्तसेना को अपने वश में करना चाहता है। एक दिन अन्धेरी रात में वह उसका पीछा करता है, किन्तु बसन्तसेना उसे चकमा देकर चारुदत्त के घर में घुस जाती है। शकार से बचने के लिये बसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के घर रख आती है।

बसन्तसेना की दासी मदनिका को मुक्त कराने के लिये उसका प्रेमी *शार्विलक* चारुदत्त के घर मे सेंध लगाता है और बसन्तसेना के उन्हीं आभूषणों को चुरालेता है। उन आभूषणों को देखकर मदनिका को बसन्तसेना अपनी सेवा से मुक्त कर देती है। चारुदत्त की पत्नी *धूता* अपनी बहुमूल्य रत्नावली, उन आभूषणों के बदले में बसन्तसेना को दे देती है, किन्तु बसन्तसेना को चोरी का सारा रहस्य विदित हो जाता है।

जब चारुदत्त का पुत्र *रोहसेन* अपनी मिट्टी की गाड़ी लेकर रोता हुआ बसन्तसेना के पास जाता है तो बसन्तसेना उसके रोने का कारण रदनिका (चेटी) द्वारा मालूम कर अपने गहनों से उसकी मिट्टी की गाड़ी भर देती है और उससे कहती है कि इनसे सोने की गाड़ी खरीद लेना।

सुहावनी वर्षा के समय बसन्तसेना प्रणय-मिलन के लिये चारुदत्त के घर जाती है। दूसरे दिन चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में जाता है। बसन्तसेना उससे मिलने वहाँ जाती है, किन्तु भ्रम से चारुदत्त की गाड़ी के बजाय समीप में खड़ी हुई शकार की गाड़ी में बैठ जाती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की इस भविष्य वाणी पर विश्वास करके कि "उसके बाद गोपाल का पुत्र *आर्यक* राजा बनेगा", *आर्यक* को कैद में डाल देता है, किन्तु आर्यक कैद से भागकर चारुदत्त की गाड़ी में बैठ जाता है। लौह-शृंखला की आवाज को आभूषणों की झनकार समझ कर गाड़ीवान् गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में पुलिस के दो सिपाही गाड़ी रोक देते हैं। उनमे से एक आर्यक को उसकी रक्षा का वचन देता है और अपने साथी से झगड़ा कर बैठता है।

आर्यक बगीचे में चारुदत्त से मिलकर *गायक* बन जाता है। उधर जब बसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है तो उसे वहाँ चारुदत्त के बजाय दुष्ट शकार मिलता है। बसन्तसेना उसके अनुचित प्रणय-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। शकार क्रुद्ध होकर बसन्तसेना का गला घोट देता है। सम्बाहक नामक एक बौद्ध-भिक्षु के उपाचार से वह पुनरुज्जीवित हो जाती है। इधर शकार न्यायालय में चारुदत्त पर बसन्तसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। कितना करुण दृश्य है? चारुदत्त को उस सुन्दरी की हत्या का दोषी ठहराया जाता है जिसे वह प्राणों से भी प्रिय मानता है। न्यायाधीश के पूछने पर चारुदत्त ने स्वीकार किया कि बसन्तसेना उसकी प्रेयसी है। चारुदत्त के लिये शकार के बाध्य करने पर न्यायाधीश ने प्राणदण्ड का फैसला दिया।

इसी बीच में बसन्तसेना, जो होश में आचुकी थी दौड़ती हुई शूलीस्थान पर पहुँचती है और चारुदत्त के प्राण बचा लेती है। इसी अवसर पर राजधानी में एक क्रान्ति हो जाती है। आर्यक (चारुदत्त ने जेल से मुक्त होने में जिसकी सहायता की थी) उस समय के शासक

राजा-पालक को गद्दी से उतारकर उज्जैन का राजा हो जाता है। वह भूतपूर्व उपकार का स्मरण करते हुए चारुदत्त को अपने राज्य का एक उच्च अधिकारी नियुक्त कर देता है। अन्त में बसन्तसेना और चारुदत्त का विवाह हो जाता है।

मृच्छकटिक का रूपकत्व—

मृच्छकटिक *प्रकरण* नामक रूपक का भेद है। प्रकरण का नायक *धीरप्रशान्त* होता है। मृच्छकटिक का नायक ब्राह्मण चारुदत्त भी धीर-प्रशान्त है। प्रकरण की कथावस्तु कल्पित होती है। मृच्छकटिक की कथावस्तु भी नाटककार की निजी कल्पना है, इतिहास-पुराण आदि में प्रसिद्ध नहीं। वस्तु तथा नेता के अलावा प्रकरण के और भी सभी लक्षण इसमें मिलते हैं।

मृच्छकटिक नाम क्यों !—

इस प्रकरण का "*मृच्छकटिक*" नाम पड़ने के विषय में भी विद्वानों के विभिन्न मत हैं, उनमें से सर्वोत्तम मत यही जान पड़ता है कि "मृच्छ-कटिक" यह नाम प्रकरण की एक घटना से लिया गया है। चारुदत्त का पुत्र मिट्टी की गाड़ी से खेलना मना कर देता है, वह भी पड़ोसी के लड़के की तरह सोने की गाड़ी से खेलना चाहता है। रोते-रोते वह रदनिका के साथ बसन्तसेना के पास आता है, बसन्तसेना अपने सोने के आभूषणों से उसकी गाड़ी भर देती है और कहती है कि इनसे सोने की गाड़ी खरीद लेना। ये गहने ही बाद में विदूषक के पास पकड़े जाते हैं, और चरुदत्त के द्वारा सुवर्ण के लिये बसन्तसेना की हत्या किये जाने का प्रमाण मिल जाता है। इसी के आधार पर न्यायाधीश चारु-दत्त का फैसला सुनाता है। यह घटना इस रूपक मे बड़े महत्व की है। अतः इसी के कारण इस रूपक का यह नामकरण किया गया है।

मृच्छकटिक का वैशिष्ट्य—

संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिक अपने ढङ्ग का अनूठा नाटक है। उसमें नाटककार ने बड़ी कुशलता से *प्रेम के कथानक* को *राजनीतिक-घटनाओं* के साथ सम्बद्ध किया है। संस्कृत में यही एक मात्र *चरित्र-चित्रण-प्रधान* नाटक कहा जा सकता है। शूद्रक ने अपनी कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि करके तत्कालीन *समाज* का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। मृच्छकटिक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस रूपक में संस्कृत-नाटक-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम राजाओं की कथा को छोड़कर मध्यमवर्ग से कथावस्तु चुनी गई है। उज्जयिनी के मध्यमवर्ग के समाज की दिनचर्या को रूपक का आधार बनाकर कवि ने इसे अत्यधिक स्वाभाविकता दी है। *मृच्छकटिक* संस्कृत का एक मात्र यथार्थवादी नाटक है।

"कौटिल्य का अर्थशास्त्र"

महत्व—

कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* राजनिति एवं अर्थशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसे लिखकर कौटिल्य (चाणाक्य) ने संस्कृत-साहित्य का बड़ा उपकार किया है। दाक्षिणात्यों के उल्लेखनीय ग्रन्थों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सर्वाधिक महत्व है, क्योंकि जब से इस ग्रन्थ का पता चला है तब से प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति के सम्बन्ध में कितनी ही अद्भुत बातों का पता चलता है। इस ग्रन्थ के मिलने से पूर्व भारत-वासी राज-नीति-शास्त्र में बिलकुल शून्य समझे जाते थे। साधारणतया पाश्चात्य विद्वान् यही समझते थे कि भारतवासियों ने विचारक्षेत्र में तो पर्याप्त दौड़ लगाई है, किन्तु क्रियाक्षेत्र में वे बिलकुल असफल रहे हैं; परन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने राजसिद्धान्तों का ही नहीं बल्कि राजप्रबन्ध सम्बन्धी उन सूक्ष्मतम तथ्यों का भी वर्णन किया है जिनका अध्ययन

कर आज संसार के बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञ दाँतों तले उँगली दबाते हैं। इस शास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हमें सिद्धान्त एवं क्रिया का सामञ्जस्य मिलता है। इसी कारण आज इस ग्रन्थ का महत्व ग्रीक के दार्शनिक विद्वान् *अरस्तु* एवं *अफलातून* के ग्रन्थों से भी अधिक है।

इस ग्रन्थ के रचयिता सम्राट चन्द्रगुप्त के आमात्य विष्णुगुप्त या चाणक्य माने जाते हैं। इनके और भी अनेक नाम हैं। चणक का पुत्र होने से इन्हें *चाणक्य* एवं कुटिलनीति का पक्षपाती होने के कारण *कौटिल्य* कहा जाता है।

अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता में सन्देह—

इस ग्रन्थ में लगभग ७२ बार "इति चाणक्यः" ऐसा प्रयोग मिलता है। अतः *श्रीहैलब्रैण्ट* का कथन है कि ऐसा प्रयोग बारम्बार आने से यह *कौटिल्यीय-अर्थशास्त्र* चाणक्य का नहीं हो सकता। यह तो चाणक्य को मानने वाले विद्वानों का बनाया हुआ ग्रन्थ हो सकता है।

प्रामाणिकता के साधक प्रमाण—

(१)—उपरोक्त शङ्का का समाधान करते हुए *जैकोबी* ने इस ग्रन्थ को चाणक्य कृत ही माना है। जैकोबी का कथन है कि भारत में अनेक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अपने नाम का प्रयोग प्रथम पुरुष में ही किया है। हिन्दी में भी कबीर, सूर, तुलसीदास आदि ने भी ऐसा किया है।

(२)—इसके अलावा चाणक्य ने स्वयं ही ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि—"स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च।"

(३)—कामन्दक भी इस ग्रन्थ को एक ही लेखक की रचना स्वीकार करते हैं।

(४)—ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थ का विशेष उद्देश्य-"पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि

प्रायस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् " लिखा है। इसमें कहीं भी व्याघात दोष का न होना ग्रन्थ की प्रामाणिकता का प्रत्यायक है।

(५)—यदि चाणक्य के बाद का कोई लेखक इस ग्रन्थ का निर्माता होता तो " इति चाणक्यः, नेति चाणक्यः, एवं-इत्याचार्याः " इत्यादि वाक्यों का कुछ अर्थ न होता, क्योंकि तब तो चाणक्य भी स्वयं एक आचार्य होते।

(६)—इस ग्रन्थ में लगभग ११४ बार चाणक्य ने अपने पूर्वाचार्यों का उल्लेख करके उनके सिद्धान्तों की समालोचना की है।

(७)—अर्थशास्त्र के आरम्भ में जो अनुक्रमणिका तैयार की गई है, प्रायः उसी के आधार पर आगे ग्रन्थ का भी निर्माण किया गया है।

उपरोक्त सभी प्रमाण इस बात को सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण *कौटिल्यीय-अर्थशास्त्र* एक ही लेखक की रचना है और वह चाणक्य ही है।

रचनाकाल—

(१)—*डा० फ्लीट, प्रो० जैकोबी, डा० टामस* आदि कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र का निर्माणकाल ३२१-२९६ ई० पू० सिद्ध किया है।

(२)—*प्रो० जौली, प्रो० विएटरनिज, प्रो० कीथ* आदि अधिक पाश्चात्य विद्वान् कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचनाकाल ईसा की चौथी शताब्दी मानते हैं। इनका कहना है कि यह ग्रन्थ *कामसूत्र* से मिलता जुलता है। और कामसूत्र का निर्माण ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ है। अतः यह अर्थशास्त्र भी चौथी शताब्दी में बना होगा।

अपनी सम्मति—

वास्तव में प्रथम मत (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी-३२१-२९६ ई० पू०) ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि भारत में पुरोहित तथा राजनीतिज्ञ दोनों एक ही होते आये हैं। जैसे-*सायण* तथा *माधव*। चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण भी यही

सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ ई० पू० चौथी शताब्दी में बना होगा। यदि कुछ रूप-परिवर्तन आज दिखाई देता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश मिलते हैं। फिर भी इसकी रचनाशैली को देख कर प्रक्षिप्त अंश का समावेश नहीं दिखाई देता।

रचनाक्रम तथा वर्ण्यविषय—

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचनाशैली सूत्र-ग्रन्थों की शैली के अधिक निकट है। इसमें गद्य तथा पद्य दोनों का सम्मिश्रण है। गद्य तथा पद्य परस्पर में एक दूसरे के पूरक हैं। इस ग्रन्थ के सूत्र तथा भाष्य दोनों एक ही लेखक के लिखे हुए हैं। सारा कौटिलीय-अर्थशास्त्र १५ बड़े-बड़े अधिकरणों तथा १८० प्रकरणोंमे विभक्त है। सारे अर्थशास्त्र में राजनीति एवं ब्राह्मण-कालीन विचारों का प्राधान्य है। इस ग्रन्थ के रचयिता ने धर्म, अर्थ, काम को ही जीवन का उद्देश्य बतलाया है। इनमें भी अर्थ पर अधिक जोर दिया है। इसके लेखक को वेद, वेदाङ्ग, महाकाव्य, इतिहास, पुराण, आख्यायिका तथा विभिन्न धातु-विज्ञान, सेना-विज्ञान आदि का अच्छा ज्ञान था।

कहने का अभिप्राय यह है कि चाणक्य ने अपना यह ग्रन्थरत्न लिखकर तत्कालीन राजनैतिक-विज्ञान के उत्कर्ष की सूचना दी है। इस ग्रन्थ में प्राचीन भारत की सभ्यता तथा संस्कृति का भी वर्णन मिलता है। साथ ही इसमें राजा के विविध कर्त्तव्यों, गावों के बसाने की योजना, भूमि, खेती-तथा व्यापार की समस्याओं का सुन्दर विवेचन होने के कारण भारतीयों के व्यावहारिक ज्ञान की महत्ता का पता चल जाता है। इसमें कलाओं एवं शिल्पों को समुन्नत बनाने की विधियाँ बताई गई हैं। मद्य आदि नशीली वस्तुओं पर नियन्त्रण रखने, जङ्गल और खानों से लाभ उठाने, सिंचाई के साधनों को अपनाने आदि का तथा दण्ड-विधान एवं अन्य रीति-नीति सम्बन्धी बातों का बड़े ही व्यावहारिक आचरण के आधार पर वर्णन किया गया है।

" मनु एवं मनुस्मृति "

मनु—

आर्य महा-प्रजाओं के युगान्त-व्यापी जीवन की स्थिर आधार शिला का न्यास करने वाले जो अनेक महापुरुष हुए हैं उनमें मनु का नाम अप्रतिम तेज से प्रकाशित है। मनु आदि प्रजापति कहे जाते हैं। प्रजाओं के सम्वर्धन के लिये जिन प्रशस्त नियमों और उदार जीवन-क्रम की आवश्यकता होती है, उन सब के लिये मनु का नाम एक सुन्दर प्रतीक बन गया है। हमारे सहस्रमुखी जीवन-क्रम को नियन्त्रित करने में जो श्रेय मनु को प्राप्त है वह और किसी को नहीं।

मनु हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम से परे की वस्तु हैं। अतः मनु-स्मृति का काल निर्णय अशक्य है। मनु का नाम आते ही हमें अपनी सभ्यता के उस धुँधले प्रभात का स्मरण हो आता है, जिसमें सूर्य की उषःकालीन किरणों के प्रकाश में देव और मानव दोनों साथ-साथ विचरते हुए दिखाई पड़ते हैं।

भारतीय-साहित्य में १४ मनु कहे गये हैं जिनके नाम से मन्वन्तरों के काल विभाग प्रचलित हैं। सबसे प्रथम *स्वयम्भूमनु* हैं, जिनको मानव-धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) में धर्म का प्रवक्ता कहा गया है। हमारा वर्तमान मन्वन्तर जिन मनु के नाम से प्रसिद्ध है उन्हें *वैवस्वतमनु* कहते हैं।

मनुस्मृति—

वर्तमान *मनुस्मृति* या *मानवधर्मशास्त्र* १२ अध्यायों में अनुष्टुब् श्लोकों में निबद्ध है। इसी मनुस्मृति के भीतरी प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि एकाग्र बैठे हुए धीमान् महात्मा मनु से ऋषियों ने धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। किन्तु कुछ दूर तक धर्मशास्त्र का निरूपण करने के बाद भगवान् मनु अपने शिष्य भृगु को आगे के

निर्वचन का कार्य सौंपकर स्वयं चले जाते हैं। शेष ग्रन्थ का व्याख्यान भृगु के द्वारा होता है। वस्तुतः वर्तमान मनुस्मृति का संस्करण भृगु-वंशीय आचार्यों ने किया। इसमें एक प्रमाण यह है कि मनुस्मृति एवं महाभारत में पूर्ण साम्य है।

इस प्रश्न के उत्तर में कि "मनुस्मृति का पूर्व रूप क्या था?" विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में है कि मनुस्मृति के पहले एक "मानव-धर्मसूत्र" था, जिसमें प्रातिशाख्यों की तरह श्लोक और सूत्र दोनों मिले हुए थे। यह मानवधर्मसूत्र अब उपलब्ध नहीं होता, परन्तु किसी समय इसका सम्बन्ध *कृष्णयजुर्वेद* की *मैत्रायणी* शाखा से था। इसी मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत मानवों का एक चरण था। प्राचीन परिभाषा में चरण *वैदिक-परिषद्* को कहते थे। इस परिषद् द्वारा जिस धर्मसूत्र की रचना हुई उसी के आधार पर वर्तमान मनुस्मृति का अधिकांश भाग बना हुआ है।

धर्म का स्वरूप एवं महत्व—

इस मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र में मनु या उनके शिष्य भृगु ने मानवधर्म के जिस उत्कृष्ट स्वरूप का उल्लेख किया है, उसका स्वरूप संक्षेप में *कालिदास* ने रघुवंशीय राजाओं के चरित्र की मीमांसा करते हुए बताया है—

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"

मनु ने जिस धर्म का उपदेश दिया है वह वीर्य और शक्ति का धर्म है। वे थोथे परलोकवाद के कट्टर विरोधी थे। मनु की मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि मनु वैदिक-कर्मयोग के प्रतिपादक हैं। उस कर्मयोग का मूल दृढ़ संकल्प है। मनु के अनुसार मानव-धर्म खोखले साधुओं का धर्म नहीं, जिन्हें संसार से उपेक्षा हो। मनु ने कहा है—

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।"

अर्थात् देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण से मुक्त होने के बाद मनुष्य को यह अधिकार मिलता है कि वह केवल अपने अध्यात्म जीवन के चिन्तन में लगे।

मनुस्मृति के अनुसार मनु का धर्म गणित के अङ्कों की तरह बहुत ही सीधा सादा है। उसमें जीवन से मृत्युपर्यन्त मनुष्य-जीवन का एक पूरा नक्शा हमें प्राप्त होता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थ, देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण रूपी तीन आवश्यक कर्तव्य, सोलह संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, चारों आश्रम एवं चारों वर्णों का सङ्गठन यही संक्षेप में मनु के धर्म के अन्तर्गत हैं। मनु का यह आदर्श जीवन में लोक एवं परलोक, संग्रह एवं त्याग, भोग एवं वैराग्य दोनों को साथ लेकर चलता है। मनु का धर्म और *महाभारत* में प्रतिपादित धर्म एक ही हैं। मनु का धर्म मुख्यतया आचार मूलक है। *रामायण* के द्वारा रामचरित का जो आदर्श बाल्मीकि ने रखा है वही—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

(मनुस्मृति ६-६२)

दश लक्षणों वाला आचार प्रधान धर्म मनु ने भी मनुस्मृति में कहा है—"आचारः परमो धर्मः।" इस प्रकार धर्मशास्त्र के साहित्य में मनुस्मृति का बहुत ही महत्व है।

"संस्कृत-साहित्य में गद्य का विकास"

संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत गद्य का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है। गद्य के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—

(१)—*वैदिककाल* का सीधा-साधा बोल चाल का गद्य तथा—

(२)—*लौकिक-संस्कृत* का प्रौढ़, समास-बहुल एवं गाढबन्ध वाला गद्य। दोनों प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य एवं मोहकता है।

कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषद् आदि अधिकांश *वैदिक-साहित्य* गद्य में ही है। इसके बाद *महाभारत* के अन्तर्गत भी गद्य का प्रयोग मिलता है। लगभग ७०० ई० पू० *यास्कमुनि* ने अपना निरुक्त भी गद्य में ही लिखा था। *पतञ्जलिका-महाभाष्य* गद्य मे ही लिखा गया है। ओल्डनबर्ग का तो यहाँ तक कहना है कि ऋग्वेद के अन्तर्गत पहले गद्य विद्यमान था, परन्तु कालान्तर में गद्यभाग विस्मृत हो जाने के कारण कण्ठाग्र करने की सुविधा से केवल पद्यभाग ही ऋग्वेद-संहिता में शेष रह गया। संस्कृत-साहित्य में काव्यात्मक गद्य का विकास कब और कैसे हुआ? यह कहना सर्वथा असम्भव है। आजकल सुमधुर गद्य का स्वरूप केवल *दंडी, सुबन्धु* तथा *बाण* की कृतियों मे ही दिखाई देता है जो कि इनमें पूर्ण विकसित रूप में विद्यमान है। इनके ग्रन्थों में व्यवहृत प्रौढ़ एवं प्राञ्जल गद्य को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इनसे पूर्व गद्य के लेखक और भी रहे होंगे, परन्तु आज वे सभी अन्धकार के गर्त में है।

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में तीन *आख्यायिकाओं* का उल्लेख किया है--(१)-वासवदत्ता, (२)-सुमनोत्तरा एवं (३)-भैमरथी। इनके अतिरिक्त बृहत्कथा, पञ्चतन्त्र एवं अन्य *तन्त्र-आख्यायिकायें* भी मिलती है। जिनमे गद्य का उत्कृष्ट प्रयोग किया गया है। किन्तु काव्यात्मक, प्रौढ़ एवं प्राञ्जल गद्य के दर्शन हमें *दण्डी, सुबन्धु* तथा *बाणभट्ट* के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं।

संस्कृत-गद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शब्दलाघव मिलता है। जो बात अन्य भाषा के गद्य में बड़े लम्बे वाक्यों में प्रकट की जाती है। वह यहाँ एक ही पद्य में सरलता के साथ प्रकट की जाती है। इसकी लाघव प्रवृत्ति के कारण ही इसमें समासबाहुल्य दिखाई पड़ता है।

इस समासबहुल गद्य का अविर्भाव प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी के शिला लेखों मे भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस प्रौढ़ एवं समास-बहुल गद्य से पूर्व *दर्शन-ग्रन्थों* में सीधा एवं सरल गद्य मिलता है। दर्शन पर ये शास्त्रीय-ग्रन्थ सभी गद्य में ही लिखे गए थे। इन शास्त्रीय-गद्य के लेखकों में *पतञ्जलि, शबरस्वामी, शङ्कराचार्य* तथा *जयन्तभट्ट* ये चार प्रसिद्ध हैं।

इसके बाद गद्यात्मक कथा-साहित्य मिलता है। इस साहित्य का उद्भव विक्रम के लगभग ४०० वर्ष ई० पू० हो चुका था। इस कथा-साहित्य का आभास *कात्यायन* तथा *पतञ्जलि* के ग्रन्थों में मिलता है। इस कथा-साहित्य के आविर्भाव का कुछ भी निश्चित पता नहीं चलता। यह कथा-साहित्य संस्कृत-साहित्य मे दो रूपों में मिलता है—(१)-कथायें तथा (२)-आख्यायिकायें। इन कथाओं एवं आख्यायिकाओं में ही गद्य का कमनीय रूप दृष्टिगोचर होता है। इन गद्य-काव्य निर्माताओं में तीन ही लेखक अधिक प्रसिद्ध हैं—(१)-*दण्डी*, (२)-*सुबन्धु* तथा (३)-*बाणभट्ट*। इन तीनों के काल-निर्णय में विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वान् दण्डी से पहला गद्य का लेखक सुबन्धु को बतलाते हैं और कुछ विद्वानो का मत है कि रचना, शैली आदि आन्तरिक तथा बाह्य प्रमाणो के आधार पर दण्डी सुबन्धु से पहले हुए थे। अनेक प्रमाणों के आधार पर दोनों का समय छठी शताब्दी निश्चित होता है। इतना अवश्य है कि बाणभट्ट इन दोनों के बाद सातवीं शताब्दी में हुए हैं। यहाँ तीनों कवियो की रचनाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है--

दण्डी--

परम्परा के अनुसार दण्डी तीन ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं—(१)-*काव्यादर्श* (२)-*दशकुमारचरित* तथा (३)-*मृच्छकटिक*। इनमें भी मृच्छकटिक को अब दण्डी की रचना नहीं माना जाता। इनका *काव्या-*

दर्श अलंकार का ग्रन्थ है एवं *दशकुमारचरित* गद्य-काव्य है। इसमें दश-कुमारों ने अपने-अपने पर्यटन, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन किया है। व्यंग और विनोद का पुट देकर इसमें तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण किया गया है।

दण्डी मनोरम-वैदर्भी-गद्य-शैली के आचार्य हैं। इनकी वर्णन-प्रणाली सरल और प्रसादगुण पूर्ण है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से चित्र-विचित्र बनाने का प्रयत्न नहीं करते। "दण्डिनः पदलालित्यम्" तो प्रसिद्ध ही है। दण्डी का गद्य प्रतिदिन के व्यवहार-योग्य गद्य का रूप प्रस्तुत करता है। ये जनता के कवि हैं।

सुबन्धु—

दण्डी के बाद सुबन्धु के प्राञ्जल गद्य का स्वरूप मिलता है। इनका लिखा हुआ "*वासवदत्ता*" नामक एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है। सुबन्धु की यह कृति संस्कृत-गद्य के उस रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें कथानक तो अत्यन्त लघु रहता है, परन्तु वर्णन-विस्तार का प्राधान्य रहता है तथा पाण्डित्य कल्पना का स्थान लेता है। सुबन्धु की शैली में अतिशयोक्ति, अनुप्रास, तथा समास की प्रधानता है। इनकी रचना-शैली गौड़ीरीति का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। इनकी यह गर्वोक्ति तो पूर्ण सत्य है—

"प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्ध्यनिधिप्रबन्धम्।
सरस्वतीदत्तवरप्रसाद श्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः॥"

बाणभट्टः—

महाकवि बाण सरस्वती के वरद पुत्र थे। इन पर लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों की समान कृपा थी। ये थानेश्वर के महाराज हर्षवर्धन के सभा-पण्डित थे। इनके रचित ग्रन्थ ५ हैं—*चण्डीशतक, पार्वती-परिणय, मुकुटताडितक, हर्षचरित* एवं *कादम्बरी*। किन्तु इनकी कीर्ति-

पताका को फहराने वाले इनके अन्तिम दो ग्रन्थ हैं (*हर्षचरित, कादम्बरी*)। इनमें हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी गद्यकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

हर्षचरित—

इसमें आठ उच्छ्वास हैं। पहले तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपनी आत्म-कथा लिखी है और शेष में सम्राट हर्षवर्धन का जीवनचरित अंकित किया है। ऐतिहासिक विषय पर गद्यकाव्य लिखने का बाणभट्ट का यह प्रथम प्रयास है।

कादम्बरी—

यह बाणभट्ट की ही नहीं अपितु समस्त संस्कृत-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्यरचना है। बाण की इस कथा का बीज गुणाढ्य की वृहत्कथा में मिलता है। यह संस्कृत-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है।

दण्डी, सुबन्धु तथा *बाण* के ग्रन्थों के अलावा संस्कृत के कुछ और भी गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। जो इन तीनों के बाद लिखे गये हैं। इनमें बाणभट्ट की शैली का ही अनुकरण किया गया है। इन गद्य-ग्रन्थों में *धनपाल* की *"तिलकमञ्जरी"* (१० वीं शदी) *वादीभसिंह* की *"गद्यचिन्तामणि"* (१० वीं शदी) *सोड्ढल* की *"उदयसुन्दरी"* (११ वीं शदी) तथा *वामनभट्ट* का *"वेमभूपालचरित"* (१५ वीं शदी) एवं *अम्बिकादत्तव्यास* का *"शिवराजविजय"* (१६०१ ई०) आदि गद्य-ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि गद्यसाहित्य का विकास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, तथापि काव्यात्मक लौकिक कथाओं का प्रौढ़ स्वरूप दण्डी, सुबन्धु तथा बाण की रचनाओं में देखा जाता है। इनमें कथानक को गौण स्थान मिला है तथा भावसौष्ठव, वर्णन-निपुणता एवं कल्पना-वैचित्र्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐसी अलंकृत-उदात्त एवं परिष्कृत गद्य-

शैली कदाचित् ही दूसरे साहित्य में देखने को मिले। इस प्रकार यद्यपि वैदिक काल से लेकर मध्यकाल (७ वीं शताब्दी) तक ही गद्य-साहित्य का विकास-काल माना जाता है, फिरभी यह कहना असंगत न होगा कि इसके बाद भी २० वीं शदी के आरम्भ तक यह प्रक्रिया सामान्य रूप से चालू रही है।

"कहानी-साहित्य का उद्गम एवं विकास"

सामान्य-परिचय—

संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत कहानी-साहित्य अत्यन्त प्राचीनकाल से मिलता है। ऋग्वेद के दशम-मण्डल में कितने ही ऐसे आख्यान आये है, जिनका विकसित रूप आगे चलकर *ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों* तथा *रामायण-महाभारतादि* ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता हैं। रामायण-महाभारत के बाद संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत लोक-प्रचलित घटनाओं के सहारे कहानी-साहित्य निर्माण करने की प्रवृति पाई जाती है। वैसे तो *बौद्धकाल* में कहानी-साहित्य अधिक समृद्ध हो गया था, किन्तु उसके पश्चात् भी बराबर कहानियाँ लिखी जाती रहीं, जो इतिहास एवं पुराण की अपेक्षा लौकिक जीवन की घटनाओं को लेकर रची गई थीं। और जिनमें नीति, धर्म, शिक्षा एवं मनोरञ्जन की ही प्रधानता थी। ऐसे समस्त कहानी-साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है—*(१)-नीतिकथा के रूप में* तथा *(२)-लोककथा के रूप में*।

(१)-नीतिकथा के रूप में—

इन नीतिकथाओं में सर्वाधिक जन्तु-कथाओं का ही प्राधान्य रहा है। ये उपदेशपूर्ण जन्तु कथायें बहुत प्राचीन है। वेदों में तो ये नहीं मिलती, किन्तु उपनिषदों में तो ये पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। महाभारत में ये जन्तुकथायें अपने प्रारम्भिक रूप में हैं। वहाँ एक

पुण्यात्मा बिल्ली की कहानी तथा एक चालाक गीदड़ की कहानी आई है, किन्तु बौद्ध-साहित्य में इन जन्तुकथाओं का विकसित रूप मिलता है। संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र में सबसे पहले जन्तुकथायें लिखी गईं हैं, जिनमें नीति का सफल सम्मिश्रण हैं।

(क)—पञ्चतन्त्र—

प्रथम नीतिकथा का ग्रन्थ विष्णुशर्मा कृत *पञ्चतन्त्र* है। इसका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ हैं। आज भी *जावा* से लेकर *आइरलैण्ड* तक इसका पठन-पाठन होता है। आज यह अपने परिवर्द्धित रूप में मिलता है। इस ग्रन्थ का निर्माण *राजा अमरशक्ति* के तीन पुत्रों को राजनीति पढ़ाने के लिये हुआ था। इसमें *पांच-अध्याय* हैं जो *तन्त्र* कहलाते हैं और उन्हीं के आधार पर इसे *"पञ्चतन्त्र"* नाम दिया गया है।

(ख)—तन्त्राख्यायिका—

दूसरा नीतिकथा का ग्रन्थ *"तन्त्राख्यायिका"* है। इसे कुछ विद्वान् पञ्चतन्त्र का ही विकृत रूप मानते हैं।

(ग)—सरलग्रन्थ—

यह ग्रन्थ *पञ्चतन्त्र* तथा *तन्त्राख्यायिका* के आधार पर ही रचा गया है। इसमें अधिकांश पञ्चतन्त्र की कहानियाँ हैं। परन्तु कुछ पञ्चतन्त्र से भिन्न भी हैं।

(घ)—हितोपदेश—

यह भी पञ्चतन्त्र का ही एक विकृत रूप है। इसमें १७ नवीन कथायें हैं, बाकी सब पञ्चतन्त्र की कथायें ही हैं।

(२)–लोककथा के रूप में—

संस्कृत के कहानी-साहित्य का दूसरा भाग लोककथाओं से सम्बद्ध है। इनका आरम्भ भी अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था। भारतीय साहित्य में जिन लौकिक कथाओं का उल्लेख मिलता है, उनमें सबसे पुराना ग्रन्थ *गुणाढ्य* कृत बृहत्कथा है।

(क)–बृहत्कथा—

यह ग्रन्थ गुणाढ्य द्वारा रचा गया है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ मूलरूप में *पैशाची-भाषा* में लिखा गया था, किन्तु वह मूल-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता। आज केवल इसका संस्कृत रूपान्तर मिलता है। गुणाढ्य राजा–"*सातवाहन*" का कृपापात्र था। उसने इस *बृहत्कथा* नामक ग्रन्थ का निर्माण ईशा की छठी शताब्दी से पहले किया था, क्योंकि दण्डी के काव्यादर्श मे इसका उल्लेख मिलता है। लोकप्रिय कहानियों का यह एकमात्र प्राचीनतम ग्रन्थ है। उत्तरकालीन *संस्कृत* के *कथा-साहित्य* पर इसी ग्रन्थ का प्रभाव पड़ा है। बाण की *कादम्बरी* भी इसी के आधार पर लिखी गई है। इसमें ऐसी कहानियाँ आई हैं जो भारत के अत्यन्त प्राचीन काल के सामाजिक जीवन की ओर संकेत करती है। इसमें चरित्र-चित्रण अत्यन्त सुन्दर एवं सफल किया गया है। यह भारतीय साहित्य-कला को सामग्री प्रदान करने वाला एक विशाल भण्डार है। इस प्रकार के और भी ग्रन्थ लोकप्रिय-साहित्य के लिये लिखे गये हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

(ख)–बृहत्कथामञ्जरी—

यह क्षेमेन्द्र ने लिखी है तथा बृहत्कथा का ही संक्षिप्त रूप है जैसा कि इसके नाम से ही सुस्पष्ट है।

(ग)-कथासरित्सागर—

यह *सोमदेव* ने लिखा हैं। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना कास्मीर की रानी *सूर्यमती* के विनोदार्थ हुई थी।

(घ)-वेतालपञ्चविंशतिका—

इस ग्रन्थ में २५ कहानियाँ हैं। इन कहानियों का वक्ता *बेताल* तथा श्रोता राजा *त्रिविक्रमसेन* है। आजकल यह ग्रन्थ बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर में सम्मिलित मिलता है।

(ङ)—शुकसप्तशति—

इसमें ७० कथायें हैं। इनका वक्ता एक तोता तथा श्रोता एक मैना है जो पति को सन्देह की दृष्टि से देखती है। इन कहानियों में नारियों की धूर्तता तथा कपटाचरण का सुन्दर चित्रण है।

(च)—सिंहासनद्वात्रिंशिका—

इसमें ३२ कहानियाँ हैं। इन कहानियों को विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी हुई ३२ पुत्तलिकायें सुनाती हैं।

उपरोक्त जिन कथाओं का उल्लेख किया गया है वे सभी ब्राह्मण-साहित्य से सम्बद्ध हैं। इन कथाओं के अतिरिक्त कुछ लौकिक कथायें जैनों तथा बौद्धों ने भी बनाई हैं। जिनमे नीति, आचार-विचार तथा धर्म सम्बन्धी बातों को कहानी के रूप में समझाया गया है। इन कथओं का मुख्य उद्देश्य अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करना ही था, किन्तु साथ ही सर्वसाधारण के कल्याणार्थ भी कुछ नैतिक आधार लेकर कहानियाँ रची गई। जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। ये जैनियों के दो कहानियों के ग्रन्थ हैं—(१)-सिद्धर्षि की "*उपमितिभवप्रपञ्चकथा*" तथा (२)—हेमचन्द्रकृत "*परिशिष्टपर्व।*"

उपरोक्त जैन कहानियों के अतिरिक्त कुछ बौद्ध कहानियाँ भी मिलती हैं जो लोक-साहित्य के अन्तर्गत ही हैं। इन कहानियों मे मनुष्य के कर्मों की व्याख्या तथा बौद्ध धर्म की विशेषता बताने का प्रयत्न किया गया है। इन कहानियों के ग्रन्थ हैं—(१)–*अवदानशतक* (२)–*दिव्यावदान* तथा *आर्यशूर* कृत (३)–*जातकमाला* आदि।

"कालिदास, माघ तथा श्रीहर्ष के काव्यों की-आलोचनात्मक समीक्षा—"

महाकाव्य का स्वरूप—

महाकाव्य एक विशिष्ट गुणयुक्त बृहद् आकार वाला ग्रन्थ होता है। जिसमे आठ या आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उसका नायक उदात्त-गुण युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृंगार या शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता रहती है और अन्य रस गौण होते हैं। इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है। प्रत्येक सर्ग की रचना एक प्रकार के छन्द में होती है किन्तु सर्ग के अन्त मे छन्द बदल जाता है। महाकाव्य में संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन होता है।

संस्कृत-साहित्य मे महाकाव्यों की उत्पत्ति कब हुई इसका पता चलाना सर्वथा कठिन है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर वस्तुतः देखा जाय तो लौकिक-संस्कृत में आदिकवि वाल्मीकि हैं और उनकी *रामायण* आदि महाकाव्य है। *वाल्मीकि* की शैली रसमय-पद्धति कहलाती है।

कालिदास—

रामायण के उपरान्त यदि इस शैली का अनुकरण किसी महाकवि ने किया है तो वे कविकुल-मुकुट "*कालिदास*" ही हैं। इनकी शैली

में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। इन्हें पाश्चात्य विद्वान् भारत का शेक्सपेयर कहते हैं। इनके समय के विषय में विभिन्न मत हैं। ई० पू० प्रथम शतक में होना इनका अधिक संगत प्रतीत होता है, किन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें गुप्तकालीन मानते हैं। इनकी रचनायें हैं—*मालविकाग्निमित्र*, *विक्रमोर्वशीय*, *अभिज्ञानशाकुन्तल* (ये तीनों नाटक हैं) *ऋतुसंहार*, *मेघदूत* (ये दोनों गीतिकाव्य हैं) *कुमारसम्भव* तथा *रघुवंश* (ये दोनों महाकाव्य हैं)। इनकी सर्वाधिक ख्याति "*अभिज्ञान-शाकुन्तल*" नाटक से हुई। वैसे इनके सभी ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। इनके हृदय में काव्य-कला को पुष्ट करने के लिए वाल्मीकि की रामायण अधिक सहायक सिद्ध हुई है।

इनके सम्पूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन करने पर पता लगता है कि इनकी कविता में माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सर-स शैया, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मञ्जुल रसमय प्रयोग आदि समस्त उन्नत काव्य की विशेषतायें विद्यमान हैं। *कालिदास* देववाणी के शृंगार एवं संस्कृत-साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। आपके महाकव्यों में भारतीय संस्कृति का सफल चित्रण मिलता है। आपकी कविता सच्चे हृदय के मार्मिक उद्गारों का समुच्चय है। आप की सभी रचनायें सरस, सरल, स्वाभाविक एवं लोकप्रिय है। आपने बाद के कवियों की तरह अलंकारों के भार से अपनी कविता-कामिनी को बोझिल नहीं बनाया है। कृत्रिमता आपकी कविता से बहुत दूर है। सर्वत्र आपकी रचना में नैसर्गिकता है। जो बाद के कवियों मे क्षीण होती गई। कालिदास ने अपने समस्त चित्रणों द्वारा मानव जीवन के आदर्श की स्थापना की है। उनके काव्यों का एकामात्र संदेश है—*त्याग*, *तपस्या एवं तपोमय-जीवन*।

माघ—

महाकवियों की परम्परा में महाकवि *माघ* का स्थान भी अत्यन्त उच्च है। माघ की कीतिलता एक ही महाकाव्य "*शिशुपालवध*" पर

अवलम्बित है। संस्कृत के प्रमुख पांचकाव्यों में उसकी भी गणना होती है। जिनके नाम हैं—*रघुवंश*, *कुमारसम्भव*, *किरातार्जुनीय*, *शिशुपालवध* एवं *नैषधचरित*।

महाकवि माघ का यह काव्य २० सर्गों में विभक्त है। इसमें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ से लेकर श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के बध तक का वर्णन है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। इनके शिशुपालवध में महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं।

इनके महाकाव्य का अध्ययन करने पर पता लगता है कि व्याकरण, न्याय, वेदान्त, मीमांसा, सांख्य आदि अनेक शास्त्रों के उद्भट विद्वान् होते हुए भी इनकी रचनाशैली कृत्रिम एवं आडम्बरपूर्ण है। *कलात्मक-कविता* के युग (सं० ३००-११००) में उत्पन्न होने के कारण इन पर भी युग का पूर्ण प्रभाव पड़ा और इन्होंने भी युग के अनुरूप कल्पना की उच्च उड़ान, कृत्रिमता एवं वर्णन-कौशल की प्रबलता तथा दुरूढ़भावनाओं को अपनी रचना में स्थान दिया। इनकी रचना सरलता, स्वाभाविकता एवं सुबोधता से सर्वथा दूर रहकर कल्पना की उच्च उड़ान से ओतः प्रोत है। माघ से पहले *महाकवि-भारवि* ने ही इस दुरूढ़ कल्पनायुक्त आडम्बर-पूर्ण शैली में महाकाव्य लिखने का श्रीगणेश कर दिया था। महाकवि माघ उनसे भी एक कदम आगे बढ़े। इनकी रचना में क्लिष्टता, कृत्रिमता, समासों का बाहुल्य, विकट-वर्णों की उदारता, प्रगाढ़-बन्धों की मनोहरता भव्यरूप में विद्यमान है। माघ ने चित्रालङ्कारों की कृत्रिम शैली का खूब प्रयोग किया है इसी से कहीं-कहीं इनका काव्य अत्यन्त दुर्बोध हो गया है। इन्होंने अपने युग की समस्त प्रचलित प्रणालियों को अपनाया और कथानक की अपेक्षा काव्यकी वाह्य साज-सज्जा में अधिक समय व्यय किया। इनकी कविता में कालिदास जैसी सरलता, सरसता एवं नैसर्गिकता का अभाव है।

श्रीहर्ष—

श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य "*नैषधीयचरित* में अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार इनके पिता का नाम श्रीहीर तथा माता का नाम मामल्ल देवी था। ये कन्नौज के राजा जयचन्द के दरबार में रहा करते थे। ये उद्भट विद्वान् थे। इन्हें *चिन्तामणिमन्त्र* सिद्ध था। कुछ विद्वानों के मत में ये *माघ* तथा *भारवि* से भी बढ़े चढ़े थे और उन्होंने यहाँ तक लिखा कि—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्वच भारविः।" इतने विद्वान् एवं पण्डितप्रवर कवि के उपरान्त ८५० वर्षों में केवल पण्डितराज *जगन्नाथ* को छोड़कर कोई भी संस्कृत का महाकवि नहीं हुआ। ये *पंडित-कवि* के साथ-साथ एक प्रचण्ड साधक भी थे। इन्होंने ६ ग्रन्थों का निर्माण किया। किन्तु इनकी ख्याति विशेष रूप से दो ग्रन्थरत्नों के कारण हुई—*नैषधीयचरित* (महाकाव्य) तथा *खंडनखंडखाद्य* (वेदान्त का उत्कृष्ट ग्रन्थ)।

श्रीहर्ष की प्रसिद्धि का मुख्य ग्रन्थ "नैषधीयचरित" है। यह महाकाव्य निषध देश के राजा नल का इतिवृत्त लेकर लिखा गया है। इसमें २२ सर्ग हैं। इसका कथानक भी महाभारत से लिया गया है। यद्यपि इस काव्य में काव्य-सौन्दर्य तथा शोभातिशायी अलंकारों का मणिकाञ्चन संयोग, भावों का समुचित निर्वाह, सुन्दर-पदविन्यास, कल्पना की उच्च उड़ान, तथा प्रकृतिचित्रण की सजीवता सर्वत्र लक्षित होती है, तथापि कवि ने माघ से भी आगे बढ़कर अपनी रचना को कृत्रिमता, अलंकारों के बाहुल्य, समासों की गाढ़बन्धता, अर्थ की क्लिष्टता एवं विलास-वासना से रंग दिया है। नैषध की विलास-वाटिका में जीवन के जटिल वट-वृक्षों को कोई स्थान नहीं था। इनके काव्य में कृत्रिमता एवं आडम्बर-प्रियता के अतिरिक्त मानव-जीवन की समग्रता का अङ्कन नहीं है।

केवल शृङ्गार का एकदेशीय चित्रण अधिक है। चरित्र-चित्रण तथा

कथानक की कलात्मक सृष्टि के माने में भी श्रीहर्ष निपुण नहीं दिखाई देते। इनमें मौलिक भावों का अभाव है। अतः एक ही भाव भिन्न-भिन्न शब्दों में कितनी ही बार दुहराया गया है। सर्वत्र दुरारूढ़ कल्पना एवं अत्युक्ति की ही प्रबलता है और कृत्रिमता के कारण काव्य जटिल हो गया है। कहीं-कहीं पर अश्लीलता भी आगई है।

उपसंहार—

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो सरसता, सरलता, मधुरता एवं नैसर्गिकता रामायण और उसके बाद महाकवि कालिदास के काव्यों में मिलती हैं उनका—उत्तरोत्तर भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि बाद के कवियों के काव्यों में ह्रास होता गया है और क्लिष्टता, कृत्रिमता एवं कल्पना का बाहुल्य होता गया है। यहीं संक्षेप में इनके काव्यों की शैली का स्वरूप है।

द्वितीय–खण्ड

"प्राचीन भारतीय संस्कृति"।

सिन्धुघाटी की सभ्यता

(Indus Valley Civilisation)

सामान्य-परिचय—

भारतीय इतिहास में सिन्धुघाटी की सभ्यता ही पहली सभ्यता है जिसके अस्तित्व के विपुल प्रमाण हम अपनी आँखों से देख सकते हैं। पञ्जाब के माण्टगोमरी जिले के अन्तर्गत हड़प्पा एवं सिन्धप्रान्त के लारकाना जिले के अन्तर्गत मोहनजोदड़ो नामक स्थानों की खुदाई में अभी हाल ही में इतनी अधिक सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे सिन्धु-घाटी के निवासियों की सभ्यता एवं संस्कृति का पूर्ण ज्ञान होता है। पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व *अध्यक्ष—सर - जॉन-मार्शल* द्वारा प्रकाशित मोहनजोदड़ो के विवरण पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व के वैज्ञानिक रीति पर बसे हुए एक सुन्दर नगर का ज्ञान कराते हैं। यह सभ्यता सिन्धु-नदी की घाटी से लेकर सिमले की पहाड़ियों तक फैली हुई थी। उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर सिन्धुघाटी की सभ्यता की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

निर्माणकला या वास्तुकला—

मोहनजोदड़ो नामक स्थान पर खुदाई में एक पूरा का पूरा नगर मिला है। इसको देखने से पता लगता है कि यहाँ के लोग बड़े बड़े नगरों में रहते थे तथा भवन-निर्माण कला में बड़े चतुर थे। नगर निश्चित योजना के अनुसार बनाये जाते थे। उनमें स्वास्थ्य की दृष्टि से सभी बातों का ध्यान रखा जाता था। रास्ते और नालियाँ सुन्दर ढंग से बनाई जाती थीं। घरों की दीवारें पक्की ईंटों की बनी होती थी जिनमें नीव के लिये कच्ची ईंटें काम में लाई जाती थीं। मकानों में

खिड़कियों एवं रोशनदानों का उचित प्रवन्ध था। घरों में कुएँ एवं स्नानागार भी थे। घर कई मञ्जिल ऊँचे होते थे। ऊपर की मञ्जिलों में जाने के लिये सीढ़ियाँ भी होती थीं। गन्दे पानी को बाहर निकालने के लिये नालियाँ भी बनी होती थीं। नालियाँ कहीं पर बन्द और कहीं पर खुली होती थीं। नगर की सड़क और गलियाँ सीधी बनी हुई होती थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती थी। मकानों के मुख्यद्वार सड़कों की ओर होते थे।

खुदाई में एक विशाल जलकुण्ड भी मिला है जो नगर के मध्य में स्थित था। इसकी लम्बाई २९ फीट, चौड़ाई २३ फीट तथा गहराई ८ फीट थी। इसमें उतरने के लिये सीढ़ियाँ थीं और जल कुएँ से आता था। इसके चारों ओर बरामदे थे जो स्नानोपरान्त वस्त्रादि बदलने के काममें लाये जाते थे। एक ऐसा हाल भी मिला है जिसमें कई खम्भे लगे हैं। विद्वानों का अनुमान है कि यह प्रार्थनाघर रहा होगा।

(१)–सामाजिक जीवन—

मोहनजोदड़ों के निवासियों का सामाजिक जीवन अति उन्नतिशील एवं सुखी था। नगर में प्रायः मध्यम श्रेणी के ही लोग रहते थे। सबके मकान एक से ही थे जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि न तो कोई अधिक धनी था और न कोई अधिक निर्धन।

(२)–खेती—

खुदाई में कुछ पाषाणीभूत गेहूँ और जौ के दाने मिले हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ये लोग खेती भी करते थे।

(३)–खाद्यपदार्थ—

अन्न, फल, दूध, अण्डे, साक, मांस, मछली आदि इनके खाद्य पदार्थ थे।

(४)–पशु—

बैल, भैंस, सुअर, भेड़, ऊँट इत्यादि पशु पाले जाते थे। इनके अलावा बन्दर, शेर, गैंडा, खरगोश आदि भी जंगलों में रहते थे। इस समय घोड़ों और कुत्तों के अस्तित्व का पता नहीं चलता।

(५)–धातु—

सोना, चाँदी, शीशा, ताम्बा आदि धातुओं का प्रयोग इनके यहाँ बराबर होता था। इन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था।

(६)–आभूषण—

कुण्डल, भुजबन्ध, करधनी इत्यादि इस समय के प्रमुख आभूषण थे। अपनी आर्थिक अवस्था के अनुसार ये लोग सोना, चाँदी, हाथी-दाँत कीमती पत्थर, ताँबा, सीप, हड्डियाँ तथा मिट्टी तक के भी अलंकारों को इस्तेमाल करते थे।

(७)–बर्तन—

बड़े-बड़े कटोरे, थालियाँ, थाल, गिलास इत्यादि इनके यहाँ थे। ये बर्तन मिट्टी और पत्थर के भी बनते थे।

(८)–शस्त्र—

आक्रमणात्मक तथा संरक्षणात्मक दोनों प्रकार के शस्त्र इनके पास थे। जैसे—गदा, भाले, परशु, धनुष-बाण, ढाल, शिरस्त्राण तथा कवचादि।

(९)–खेल—

चौपड़ का खेल इनके यहाँ विशेष मान्य था। इसके अलावा बच्चों के लिये सुन्दर मिट्टी के खिलौने भी बनाये जाते थे। इन खिलौनों में अनेक पशु-पक्षि तथा अनेक स्त्रियों के चित्र पाये गये हैं।

(१०)–कातना-बुनना–

रुई और ऊन दोनों प्रकार के वस्त्र काम में लाये जाते थे। इनकी कताई-बुनाई के भी प्रचुर प्रमाण मिलते हैं।

(११)–वेश-भूषा—

स्त्री और पुरुष दोनों अधोवस्त्र एवं उत्तरीय का उपयोग करते थे। पुरुष टोपी की जगह एक फीता बांधते थे। दुशाला भी ओढ़ा जाता था जिस पर प्रायः फूल पत्तियाँ कढ़ी हुई होती थीं।

(१२)–धर्म—

ये लोग मुख्य रूप में भूदेवी के उपासक थे जिसे प्रकृति-पूजा का ही एक रूप मानते हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि पशुपति (शिव) का भी ये लोग पूजन करते थे। इसके लिये लिङ्ग और मूर्तियाँ भी काम में लाई जाती थीं। वृक्ष-पूजा एवं पशुपूजा के भी प्रमाण मिलते हैं। संक्षेप मे भारतीय पूजा-पद्धति के सभी प्रकार बीज रूप में यहाँ पर निहित थे।

(१३)–अन्तेष्टी क्रिया–

शव को गाड़ना, उसे पशु-पक्षियों द्वारा खाये जाने के लिए छोड़ना या जलाना तथा दाहोपरान्त बचे हुए अवशेषों को भूमि में गाड़ना ये सब प्रकार इस सभ्यता में प्रचलित थे।

(१४)–कला-कौशल–

इस समय की शिल्पकला, पात्र-निर्माणकला, नृत्य एवं संगीतकला तथा लेखनकला उच्चकोटि की थीं। इन कलाओं का परिज्ञान खुदाई में मिली हुई लगभग साढ़े पाँच सौ मुद्राओं से होता है। इन मुद्राओं की लिपि अभीतक पढ़ी नहीं गई है। किन्तु अनुमान किया जाता है कि यह चित्र-लिपि है ।

(१५)–आर्थिक-जीवन–

इस युग के लोगों का आर्थिक-जीवन सुखमय था। खेती, पशु-पालन एवं व्यापार इस समय के प्रमुख आर्थिक साधन थे, व्यापार भी उच्चकोटि का था।

समय–

यहाँ की खुदाई में सात स्तर या तहें भूमि की मिली हैं। प्रत्येक स्तर के ऊपर लोगों के रहने के प्रमाण भी मिले हैं। उत्खनन-शास्त्रियों के अनुमान से एक स्तर के बनने-विकसित होने तथा नष्ट होनेमें लगभग५०० वर्ष अपेक्षित हैं। इस प्रकार सात तहों के बनने विकसित होने तथा नष्ट होने तक में ३५०० वर्ष लगे होंगे। यदि अन्तिम स्तर के लिये भी ५०० वर्ष का समय माना जाय तो यह अनुमान होता है कि इस सभ्यता का प्रथम-युग लगभग ई० पू० ४००० वर्ष प्राचीन होना चाहिये।

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि द्रविड़ों की तरह यह लोग भी मिश्र तथा मेसोपोटोमिया के पास से आये थे। जहाँ इस सभ्यता के अवशेष प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। किन्तु भारतीय विद्वानों का कथन हैं कि यह शाखा द्रविड़ों की ही एक सुधरी हुई शाखा थी।

नष्ट होने के कारण–

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इतनी महाती सभ्यता का विनाश कैसे हुआ? इस विषय में दो मत हैं—*कुछ-विद्वानों* का मत है कि सिन्धु-नदी में तीव्रतम बाढ़ आ जाने से इन नगरों के निवासी दूर देशों में भाग गये अथवा यहीं नष्ट हो गये। दूसरे *कुछ-विद्वानों* का मत है कि अनावृष्टि के कारण दुःखी होकर यहाँ के लोग दूसरे नगरों में जा बसे और पुनः कुछ वर्षों में ही यहाँ मनुष्यों के न रहने के कारण विनाश-लीला फैल गई। जो भी हो इतना तो सत्य है कि यहाँ के निवासी अत्यन्त विकासशील सभ्यता के अनुयायी थे।

पूर्ववैदिक-कालीन सभ्यता एवं संस्कृति

पूर्ववैदिक-कालीन सामाजिक-जीवन—

कुटुम्ब—

वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार राजनीतिक व्यवस्था के समान कुटुम्ब था। कुटुम्ब को ही समाज एवं राजनीति की इकाई माना जाता था। एक कुटुम्ब के व्यक्ति एक घर में रहते थे। यह गृह लकड़ी या घास-फूँस द्वारा निर्मित होता था। कुटुम्ब पैतृक होता था और कुटुम्ब का प्रधान गृहपति या दम्पति कहलाता था। परिवार के ऊपर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता था। गृहपति सबके प्रति प्रेम एवं दया का व्यवहार करता था किन्तु आवश्यकता पड़ने पर वह कठोरता का भी व्यवहार करता था। पिता का पुत्र एवं पुत्री के विवाह में पूर्ण अधिकार था। कुटुम्ब में तीन पीढ़ी के लोग रहते थे, किन्तु पिता के मरने पर कुटुम्ब प्रायः विभाजित हो जाता था।

विवाह-पद्धति—

वैदिक-काल के पूर्व स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध नियमों से बँधा हुआ नहीं था। सर्वप्रथम श्वेतकेतु ने विवाह की नींव डाली। वैदिक काल में इन नियमों का पूरा रूप दिखाई देता है। निकट सम्बन्धियों में विवाह कदापि नहीं होते थे। धन एवं प्रेम के आधार पर भी विवाह होते थे। विवाह बन्धन को पवित्र माना जाता था। विवाह परिपक्व आयु में ही होते थे। युवक युवतियों को अपना जीवन-साथी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। एक-पत्नीव्रत उस समय का सामान्य नियम था, परन्तु राजकुलों एवं कुलीनों में बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी, किन्तु इसको अच्छा नहीं समझा जाता था। सती-प्रथा नहीं थी। विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार था। यह प्रायः देवर के साथ होता था। दहेज

की प्रथा भी थी और धन लेकर भी कन्या दी जाती थी। गान्धर्व-विवाह एवं स्वयंवर भी होते थे, किन्तु ब्राह्मविवाह पद्धति को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था।

आर्थिकस्थिति--

इस समय के मुख्य व्यवसाय पशुपालन, कृषि, शिकार-करना, मछली मारना, तथा शस्त्रों का निर्माण करना ही थे। येही जीविका के साधन थे। इसके अलावा व्यापार भी होता था।

व्यापार--

स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। वस्तु के मूल्य का मापन गाय द्वारा होता था। बढ़ई, लोहार, कर्मकार, सुनार इत्यादि वर्ग भी व्यापार में पूर्ण हाथ बँटाते थे।

वस्त्र एवं आभूषण—

ऋग्वेद से पता चलता है कि इस समय साधारणतया तीन वस्त्र—अधोवस्त्र, उत्तरीय एवं चोली या अँगरखा प्रचलित थे। ऊनी, जरीदार तथा रंगीन वस्त्रों का भी प्रचलन था। उष्णीश का भी प्रयोग बराबर होता था। आभूषणों में बालियाँ (कर्णशोभन), ग्रैवेयक (गले का हार), रुक्म (छाती पर लटकने वाला एक आभूषण) इत्यादि प्रचलित थे।

भोजन—

आर्यों का भोजन अत्यन्त साधारण होता था। शाकाहार एवं मांसाहार दोनों ही प्रचलित थे। साधारणतया गाय को पवित्र और न मारने योग्य समझा जाता था, परन्तु क्वचित अवसरों पर उसका हनन भी होता था।

पेय-पदार्थ—

दूध और जल के सिवाय आसव पान भी चलता था। धार्मिक अवसरों पर सोमरस पान किया जाता था। साधारणतया सुरापान अयोग्य समझा जाता था।

आमोद-प्रमोद—

मनोरंजन के भी अनेक साधन थे। नृत्य एवं गान जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों भाग लेते थे विनोद के प्रमुख साधन थे। रथदौड़, घुड़दौड़ तथा आखेट रणवीरों के खेल थे। द्यूत का भी बड़ा प्रचार था किन्तु लोग इसके दुष्परिणाम से भी परिचित थे।

धर्म—

वैदिक-कालीन धर्म बहु दैविक होते हुए भी सादा था। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ ही आर्यों के प्रमुख उपास्य देवी-देवता थे। यह देवसंघ तीन भागों में विभक्त था-*पार्थिव*, *आकाशस्थ* एवं *स्वर्गस्थ*। वैदिक-धर्म तथा देवताओं के सम्बन्ध में आगे इतिहास वाले खण्ड में देवताओं के परिचय के प्रकरण में लिखा जा चुका है। अतः यहाँ विशेष रूप से धर्म के विषय में लिखना अपेक्षित नहीं।

चरित्र—

इस युग के लोगों का आदर्श चरित्र था। अतिथि-सत्कार अधिक होता था। सत्य-भाषण एक धार्मिक कृत्य माना जाता था। परस्त्री-समागम पाप समझा जाता था।

जातिभेद—

इस युग में आज के युग का सा जातिभेद न था। ऊँच-नीच, परस्पर भोजन और विवाह न करना एवं अस्पृश्यता की भावनाओं

को कोई स्थान न था। सबसे बड़ा भेद केवल आर्य एवं अनार्य (दास) का था।

स्त्रियों का स्थान—

जितनी ऊँची स्त्रियों की स्थिति वैदिक-काल में थी, इतनी इसके बाद कभी नहीं रही। पर यह भी सत्य है कि उन्हें अपने जीवन में क्रमशः पिता-पति एवं पुत्र के नियन्त्रण में रहना पड़ता था। किन्तु उसकी कन्या-स्त्री एवं माता के रूप में बहुत प्रतिष्ठा थी। *कन्या के रूप* में उसका प्रेम से पालन पोषण होता था और उसे उच्चत्तम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। *घोषा, लोपामुद्रा, विश्ववारा* आदि स्त्रियों की गणना ऋषियों में थी और इन्होंने वैदिक-सूत्रों की रचना की। वह *स्त्री के रूप* में गृहस्वामिनी होती थी। उसे वही धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त थे, जो कि उसके पति को। वह पर्दे में नहीं रहती थी। उसे घूमने-फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वह स्वेच्छा से पति को चुनती थी। वह रणक्षेत्र में भी अपने पति के साथ जाती थी। कोई भी शुभ-कार्य उसके बिना पूर्ण नहीं समझा जाता था। *माता के रूप* में वह पुत्रों को शिक्षा देती एवं परिवार का संचालन करती थी। परन्तु स्त्रियों की इतनी ऊँची स्थिति होने पर भी पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की कामना अधिक की जाती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्ववैदिक-काल में जनसाधारण का जीवन पर्याप्त सुखी था, स्त्रियों का सम्मान था, आमोद-प्रमोद के साधन थे और समाज ऊँच-नीच की भावनाओं से किसी भी प्रकार दूषित न था।

पूर्ववैदिक-कालीन राजनैतिक स्थिति—

पूर्ववैदिक-कालीन राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध में आगे इतिहास वाले खण्ड में *"ऋग्वेद में राजनीति"* शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार पूर्वक

विवेचन किया जा चुका है। अतः यहाँ पिष्ट-पेषण न करके राजनैतिक जीवन के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वेदों में राजनैतिक विकास की कई सीढ़ियाँ पाई जाती हैं। मूल राजनैतिक इकाई इस समय *कुल* या *परिवार* था। अनेक कुलों के समूह को *गोत्र* कहते थे। गोत्र से बड़ी इकाई *जन* और जन से बड़ी *विश* कही जाती थी। सम्पूर्ण विशों से विकसित राष्ट्र था। इस प्रकार आर्य लोग राष्ट्र की कल्पना और निर्माण करने में सफल हुए, किन्तु उस काल में इसका स्वरूप जातीय था। राष्ट्र की कल्पना के बाद साम्राज्य एवं सार्वभौम-राज्य की कल्पना एवं स्थापना की गई थी।

"उत्तरवैदिक–(ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्) कालीन सभ्यता एवं संस्कृति"

सामान्य-विवरण—

महाभारत के युद्ध के बाद का इतिहास पुराणों के अतिरिक्त ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् एवं सूत्रग्रन्थों से जाना जाता है। ये ग्रन्थ *वैदिक-संहिताओं* के बनने के पश्चात् रचे गये थे। *ब्राह्मण*, *आरण्यक*, एवं *उपनिषद्* वैदिक-साहित्य के ही अंग माने जाते हैं। इसलिये इस काल को उत्तरवैदिक-काल कहा जाता है। वैदिक-काल के अन्तर्गत ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक का समय आता है।

संहिताओं के काल में जिस राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का चित्रण किया गया है, उसकी अपेक्षा ब्राह्मण-आरण्यक एवं उपनिषदों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। जैसे-जैसे ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का विकास हुआ वैसे ही वैसे सभ्यता एवं संस्कृति में भी परिवर्तन हुआ और उसी अनुपात में राजनैतिक एव सामाजिक स्थिति में भी परिवर्तन हुए।

महाभारत युद्ध का प्रभाव सारे देश के ऊपर बुरा पड़ा, किन्तु इसने विशेष रूप से मध्यदेश एवं पञ्जाब के राज्यों को क्षीण कर दिया। इस युद्ध ने उत्तर-भारत के राज्यों की राजनैतिक उत्तेजना शान्त कर दी थी। लोग भौतिक जीवन के संघर्ष और नश्वरता को समझ कर जीवन के अदृश्य और ऊँचे प्रश्नों पर विचार करने लगे थे। विराज्य इत्यादि प्रजातन्त्र नष्ट हो गये थे और राज्यतन्त्र का बोलबाला हो गया था। फिर भी कुछ गणतन्त्र-राज्य इस समय भी विद्यमान थे। पाण्डव साम्राज्य के टूट जाने पर देश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। पूर्व-वैदिक-काल में आर्यों के राज्य एवं सभ्यता का विस्तार पञ्जाब से पूर्व की ओर सरस्वती तथा ईषद्वती नदियों के मध्य भाग की भूमि तक ही सीमित था, किन्तु इस समय इस सभ्यता का केन्द्र कुरुक्षेत्र हो गया था और आर्यों के राज्य के अन्तर्गत कुरु-पाञ्चाल के साथ मध्यदेश भी आ गया था। सम्मिलित कुरुपाञ्चाल राज्य इस काल की विद्या एवं सभ्यता का केन्द्र था।

राजनैनिक-स्थिति

(क)—राजनैतिक-संस्थायें—

इस समय में पूर्ववैदिक-काल की तरह कई प्रकार के राज्य थे। ऐत्तरेय-ब्राह्मण में साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, समन्तपर्यायी, सार्वभौम आदि राज्यों के नाम आते हैं।

(ख)—राजा और उसके अधिकार—

इस काल में आकर राजा का पद पैतृक हो गया था। वह बहुत कुछ स्वच्छन्द हो गया था। फिर भी उसके ऊपर कई नियन्त्रण थे। अभी

उसके निर्वाचन का सिद्धान्त नष्ट नहीं हुआ था। राज्याभिषेक के समय वह धर्मानुकूल प्रजा के पालन करने की प्रतिज्ञा करता था तथा *समिति*, *सभा* और *मन्त्रिमण्डल* का भी उसके ऊपर प्रभाव था।

(ग)--शासन-व्यवस्था—

राजा मन्त्रियों की सहायता से राज्य का शासन करता था। इनका पद परम्परा एवं जनमत से अनुमोदित था। इस समय मन्त्रिमण्डल में निम्नलिखित व्यक्ति सम्मिलित थे—

पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता (प्रियरानी), परित्यक्ता-रानी, सूत (बन्दी या चारण), सेनानी, ग्रामणी, क्षत्रि (राजप्रासादों का रक्षक), संगृहीतृ (कोषाध्यक्ष), भागदुघ (राजकर ग्रहण करने वाला प्रमुख अधिकारी) आदि।

इनके अतिरिक्त एक और अधिकारी था जो *स्थपति* कहलाता था। यह प्रान्तपति या न्यायाधीश था। इस समय प्रायः राज्यों की शासन-व्यवस्था उत्तम थी और उनमें अपराध बहुत कम होते थे। शेष *राजनैतिक-स्थिति* पूर्ववैदिक-काल की ही तरह थी—(पुरोहित, राजा आदि के कर्त्तव्य, सेना आदि)।

सामाजिक-अवस्था

(क)-सामान्य-परिचय—

पूर्व-वैदिक-काल में सामाज में कई वर्गों और व्यवसायों की उन्नति हो चुकी थी, किन्तु वे अभी तरल अवस्था में थे और उनमें परिवर्तन सम्भव था। उत्तरवैदिक-काल में स्थाई वर्गों का निर्माण हुआ। ऋग्वेद के वर्ण-गुण, कर्म पर अवलम्बित थे, परन्तु इस काल का वर्ण जन्म पर अवलम्बित होकर पैतृक हो गया था। वर्ण एक सामाजिक व्यवस्था

थी। उसके ऊपर आदिम संस्था जाति का प्रभाव-जिसका आधार जन्म था, स्पष्ट दिखाई पड़ा। ऐत्तरेय-ब्राह्मण में ब्राह्मण को सोमपान करने वाला, अदायी, अव्यवसायी, सदा-भ्रमणशील, स्वेच्छानुकूल गमन करनेवाला तथा राज्याश्रयी कहा गया है। राजा की आज्ञा से वैश्य कभी भी राज्य से बाहर निकाला जा सकता था, शूद्र भी सदैव दण्ड्य था, परन्तु ब्राह्मणों के लिये कोई दण्डविधान नहीं मिलता। धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणों का पूरा-पूरा अधिकार था। राजाओं पर भी इनका पूर्ण प्रभाव था।

(ख)--वर्णव्यवस्था—

समाज के संगठन का आधार वर्ण था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण वैदिक-काल में भी थे। इस समय इन वर्णों के कई उपविभाग हो गये थे। जैसे—*ब्राह्मण में*—पुरोहित, मन्त्री, शिक्षक, उपदेशक आदि। *क्षत्रियों में*—शुद्धराजवंश, राजपुरुष, सैनिक, शासक आदि। कृषि, व्यापार और उद्योग के विस्तार से *वैश्य-वर्ण में भी* अनेक वर्ग हो गये थे। *शूद्रों में*—दास, नौकर आदि उपविभाग हो गए थे।

जातियाँ तो भारतीय समाज में पहले से ही थीं। इस समय इनमें कई उपजातियाँ हो गईं। यह वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्मपरक न रहकर जाति-परक एवं पैतृक हो गईं।

(ग)–आश्रम-व्यवस्था—

वर्ण के साथ इस काल में आश्रम-व्यवस्था का भी विकास हुआ। चिन्तनशील समाज-शास्त्रियों ने जीवन के चार भाग किये जो चार आश्रम कहलाये—*ब्रह्मचर्य*, *गार्हस्थ्य*, *वानप्रस्थ* एवं *सन्यास*। मानव जीवन के महान् पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की क्रमशः प्राप्ति के लिये चारों आश्रमों का विकास हुआ।

(घ)–सामाजिक-सम्बन्ध—

यद्यपि इस समय सामाजिक संस्थायें रूढ़ हो रही थीं, किन्तु अभी समाज में गतिशीलता बनी हुई थी। वैसे तो समाज की कल्पना सेन्द्रिय थी, किन्तु *ब्राह्मण-क्षत्रियों* का तथा *वैश्य-शूद्रों* का आपस में निकट सम्पर्क स्थापित होने लगा। इस प्रकार समाज के ऊपरी एवं निचले स्तरों में भेद होने लगा। इस युग में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से ब्राह्मणों का समाज में प्राधान्य था।

(ङ)–विवाह–

ऋग्वेद में अन्तर्जातीय विवाह का अर्थ–भाई-बहन, पिता-पुत्री आदि के पारस्परिक विवाह से था, किन्तु *शतपथ-ब्राह्मण* में विवाह दो तीन गोत्रों को छोड़कर विहित बतलाया गया है। यद्यपि अब सवर्ण विवाह प्रचलित हो गये थे, तोभी अन्तर्जातीय विवाह अभी सम्भव था।

(च)--कृषि—

पूर्ववैदिक-काल की अपेक्षा इस समय कृषि में उत्तरोत्तर विकास होने लगा था। हल भी क्रमशः बढ़ गया था। पहले हल कम बैल खींचा करते थे किन्तु इस समय २४ बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हल का भी उल्लेख मिलता है। *शतपथ-ब्राह्मण* में कर्षण,—वपन, कर्त्तन, मर्दन आदि का भी उल्लेख मिलता है। गोबर की खाद का भी उल्लेख मिलता है।

(छ)–खान-पान, वेश-भूषा, आभूषण, आमोद-प्रमोद एवं व्यापार आदि प्रायः पूर्ववैदिक-काल की ही तरह थे। इस समय स्त्रियाँ प्रायः रंगाई का कार्य करती थीं। साथ ही कादना, चटाई बुनना, डलिया-बनाना आदि भी स्त्रियों के कार्य थे।

"धर्म और दर्शन"

(क)-वेदवाद और कर्मकाण्ड—

उत्तर-वैदिककाल में एक विशेष परिवर्तन हुआ। वैदिक-काल में धार्मिक जीवन बड़ा सरल था। इस पूजा-पद्धति में आत्म-समर्पण और भक्ति की भावना प्रधान थी। उत्तर-वैदिक-काल में यह मनोवृत्ति बदली। मनुष्य ने प्रकृति से कुछ स्वतंत्र होकर अपने अहंकार और शक्ति को सम्भाला। लोगों ने अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये मन्त्रों के बल पर देवताओं को वश में करना चाहा। अतः इस समय वैदिक मन्त्रों का महत्व बढ़ा। इस युग मे वेदबाद के साथ-साथ कर्म-काण्ड का भी महत्व बढ़ा।

(ख)-देवमण्डल—

इस समय देवमण्डल प्रायः वही था जो पूर्व-वैदिककाल में, परन्तु उसमें कई देवताओं का उत्थान और पतन हुआ। वरुण, इन्द्र आदि की प्रधानता जाती रही उनके स्थान पर प्रजापति, विष्णु एवं शिव की प्रधानता हो गई।

(ग)-दर्शन का उदय—

अभी तक मनुष्य वहिर्मुखी था। उसके सामने जीवन और जगत् की समस्यायें उठ चुकी थी, किन्तु मनुष्य उनका उत्तर प्राकृत-जगत् में ढूँढ़ता था। परन्तु इस समय विचारशील मनुष्य अधिक ध्यान से सोचने लगा और अन्तर्मुख हो गया। इसी चिन्तन का फल आरण्यकों और उपनिषदों में दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में प्रकट हुआ।

(घ)-नीति का उदय—

ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में यद्यपि बाहरी आडम्बर बहुत था, फिर

भी उनमें नीति के सिद्धान्त छिपे हुए थे। इसी युग में पञ्च-महायज्ञों तथा तीन ऋणों की कल्पना हुई। इनके अतिरिक्त सत्य, ईमानदारी, यम, नियम, दया, मैत्री आदि गुणों की भी प्रशंसा की गई।

(ङ)–यज्ञ विरोधी आन्दोलन—

कर्मकाण्ड की जटिलता एवं नये देवताओं के महत्व-स्थापन के अतिरिक्त *उत्तर-वैदिककालीन-धर्म* की *तीसरी* विशेषता यज्ञों के विरुद्ध आन्दोलन का प्रादुर्भाव है। यह उपनिषदों के समय से प्रारम्भ हुआ। मुण्डकोपनिषद् ने यज्ञ को फूटी नाव की तरह बताया। उपनिषदों के समय में अमृतत्त्व की प्राप्ति, मुक्ति, कर्मवाद और पुनर्जन्म-वाद के विचार जो इस समय के हिन्दू-धर्म की प्रधान विशेषतायें हैं स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

स्त्रियों की स्थिति—

इस युग में स्त्रियों की स्थिति में अन्तर आने लगा। इस युग के अन्त तक उनकी अवस्था काफी गिर चुकी थी। इसका सबसे बड़ा कारण स्त्रियों को शूद्रतुल्य समझा जाना था। इस युग में कर्मकाण्ड की जटिलता के कारण अब स्त्रियाँ पति के साथ बैठकर समूची यज्ञ-क्रिया नहीं कर सकती थी। उनकी कुछ क्रियायें पुरोहित करने लगे। पवित्रता के विचार से भी कुछ कट्टरपन्थी ऋतु-धर्म के कारण उन्हें अपवित्र मानने लगे थे। इस समय आर्य अनार्य-स्त्रियों से विवाह करने लगे थे। अनार्य स्त्रियाँ यज्ञ-कार्य को ठीक नहीं कर सकतीं थीं। अतः शास्त्रकारों ने उनसे यह अधिकार छीनने के लिये उन्हें शूद्र के तुल्य वेदों का अनधिकारी बताया, इससे स्त्रियों का वैदिक अध्ययन बन्द हो गया और अध्ययन के अभाव में उनका बाल-विवाह होने लगा। किन्तु ये व्यवस्थायें अभी सर्वमान्य नहीं हुई थीं। मैत्रेयी, गार्गी आदि कुछ स्त्रियाँ इस युग में भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं और बड़े-से-बड़े विद्वानों के साथ विवाद करने की योग्यता रखती थीं।

"सूत्र-कालीन सभ्यता एवं संस्कृति"

सामान्य-परिचय—

वैदिक-साहित्य के बाद जो भारतीय उत्तर-कालीन साहित्य मिलता है उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। *सूत्र, इतिहास* तथा *स्मृति*। इस उत्तरकालीन साहित्य का श्रीगणेश ई० पू० ८०० के लगभग हो गया था। यह साहित्य तत्कालीन हिन्दू, बौद्ध एवं जैन सभ्यता का अध्ययन करने के लिये नितान्त महत्वपूर्ण हैं।

किसी विषय को कण्ठाग्र रखने की सुविधा के लिये अत्यन्त सूक्ष्म वाक्यों में किया हुआ संग्रह ही *सूत्र-साहित्य* कहलाता है। यह सूत्र-साहित्य षड्-वेदाङ्ग के नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी सूत्र-ग्रन्थों अथवा वेदाङ्गों में तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनैतिक स्थिति का पर्याप्त मात्रा में संकेत मिलता है।

राजनैतिक विशेषतायें—

पाणिनि के अनुसार इस काल में राज्यों को जनपद कहा जाता था। पाणिनि ने ऐसे २७ राज्यों का उल्लेख किया है जिनमें कैकेय, गान्धार, कम्बोज, मद्र, अवन्ति, कुरु, पाञ्चाल, बङ्ग आदि प्रसिद्ध हैं। ये राजा *जनपति* कहलाते थे और इन राज्यों के नागरिक *राजानपद* कहलाते थे। इन राज्यों के प्रति जनता में उतनी ही श्रद्धाभक्ति होती थी जितनी स्वदेश के प्रति होती है। इससे तत्कालीन देशभक्ति का परिचय मिलता है।

शासन-प्रबन्ध—

शासन की दृष्टि से इन जनपदों में वैदिक काल की भाँति विश, नगर, ग्र.म, आदि विभाग हुआ करते थे। ग्रामों के नाम प्रायः मुखिया के नाम पर होते थे। शेष राजनैतिक व्यवस्था उत्तरवैदिक-काल के समान ही थी।

सामाजिक-जीवन

(क)-आचार—

पाणिनि के अतिरिक्त कल्पसूत्रों के प्रणेता ऋषियों ने अपने श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों में तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का भली प्रकार उल्लेख किया है। गृह्यसूत्रों में तत्कालीन पारिवारिक जीवन का स्पष्ट उल्लेख है। इन ग्रन्थों में गृहस्थ के जन्म से लेकर मरण तक के *षोडश-संस्कारों*, *आठ प्रकार के* (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच। इनमें प्रथम चार शुभ एवं अन्तिम चार अशुभ माने जाते थे) *विवाहों*, प्रत्येक गृहस्थ के लिये अनिवार्य *पाँच-महायज्ञों* (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ) का उल्लेख मिलता है। ये कृत्य सभी गृहस्थों के लिये अनिवार्य थे।

(ख)-वर्ण-व्यवस्था—

सूत्रकालीन वर्णव्यवस्था अत्यन्त कठोर थी। उस काल में जाति-व्यवस्था, जातीय-विवाह, स्पृश्यास्पृश्य आदि के विचार अत्यन्त बढ़े चढ़े थे। अन्तर्जातीय-विवाह तथा पारस्परिक भोज आदि प्रचलित न थे। प्राचीनकाल में इतनी कट्टरता न थी। *पाराशर-गृह्यसूत्र* में एक ब्राह्मण का शूद्रा के साथ भी विवाह करने का उल्लेख है, किन्तु उसकी सन्तान को द्विज नहीं माना गया है। इन सूत्रग्रन्थों में चारों वर्णों के पृथक-पृथक् कर्त्तव्यों का उल्लेख है। *ब्राह्मण* को अध्ययन, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह आदि का अधिकारी बताया गया है। *क्षत्रिय* को जनता की सुरक्षा, सैन्यसंगठन, कर-ग्रहण आदि का अधिकारी बताया गया है। *वैश्य* को कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि का अधिकारी बताया गया है तथा *शूद्र* को—पवित्रता, नम्रता तथा सत्यता का अभ्यास एवं तीनों वर्णों की सेवा करने आदि का अधिकारी बताया गया है। इतना होने पर भी उस काल में शूद्र अनादृत न थे। सेवा कार्य के अयोग्य हो जाने पर उनका स्वामी उनकी रक्षा करता था।

(ग)–आश्रम-व्यवस्था—

वर्ण-व्यवस्था की भाँति तत्कालीन *गृह्य-सूत्रों* में जीवन को चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास) में बाँटा गया है। उस समय प्रत्येक व्यक्ति को इन आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस आश्रम-प्रथा के अनुसार उस समय शिक्षा अनिवार्य थी। शेष सामाजिक अवस्थायें प्रायः उत्तर-वैदिककाल की तरह ही थी।

(घ)–न्याय-प्रणाली—

गौतम के मतानुसार इस काल में वेद, धर्मशास्त्र, स्मृति, तथा उपवेदों के अनुसार न्याय होता था। राजा को नियम बनाने का अधिकार न था। विभिन्न जाति के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा ही धर्म-नियम बनाये जाते थे।

राजा के कर्त्तव्य एवं अधिकार—

राजा का कर्तव्य, वर्णों, आश्रमों तथा जनपदों की देखभाल करना था। गौतम के अनुसार राजा को उपज का दशम, अष्टम या षष्ठम भाग मिलता था। महीने में एकबार लोगों से बिना कुछ दिये ही काम लिया जाता था। इससे उस काल की बेगार प्रथा का संकेत मिलता है।

विवाह—

विवाह अपने गोत्र तथा माता के ६ गोत्रों को छोड़कर ही किया जाता था।

उत्तराधिकार—

पुत्र के स्थान पर ६ गोत्र (पीढ़ी) तक के सपिण्डों को उत्तराधिकार ग्रहण करने का अधिकार था। पुत्रों के अभाव में कन्या को भी उत्तराधिकार विहित था। वैसे प्रायः बड़े पुत्र को ही उत्तराधिकार मिलता था।

स्त्रियों की स्थिति—

स्त्रियों की स्थिति उत्तर-वैदिककाल के ही समान थी। इसके अलावा उन्हें गृह-संस्कार एवं वैदिक श्रौत विधानों को करने का अधिकार भी था, किन्तु वे उत्तराधिकार तथा संस्कारों के लिये स्वतन्त्र न थीं।

दण्ड-विधान—

उस समय धोखे से आक्रमण करना, चोरी करना, व्यभिचार करना बड़े अपराध माने जाते थे। इन अपराधों के लिये शूद्रों की सम्पत्ति हरण कर ली जाती थी, किन्तु ब्राह्मणों को इन अपराधों के लिये केवल अन्धा करके छोड़ दिया जाता था।

"उपसंहार"

(सूत्रकालीन-जीवन)—

कल्पसूत्रों में जिस जीवन का वर्णन है वह ग्रामीण जीवन है, नागरिक जीवन नहीं। *आपस्तम्बसूत्र* में तो नगर में जाने का भी निषेध किया गया है। *बौधायन* का कथन है कि धूल से भरे नगरों में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। नगर और ग्रामों की सुरक्षा के लिये योग्य एवं बलशाली व्यक्ति रखे जाते थे। यदि किसी नगर या ग्राम में चोरी हो जाती थी तो उन लोगों से सारा माल वसूल किया जाता था। अतः सूत्रकाल में जीवन व्यवस्थित एवं नियन्त्रित हो गया था। उस काल में समुद्र-यात्रा या विदेश-यात्रा निषिद्ध थी।

इस प्रकार सूत्रकाल में भारतीय जीवन में एक ओर संकीर्णता तथा संकुचित भावनायें हृदय में घर करती जा रही थीं तो दूसरी ओर विकास भी हो रहा था। और भारतीय एक सीमित जीवन बिताते हुए निर्धारित नियमों का ही पालन करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझने लगे थे।

"रामायण तथा महाभारत कालीन सभ्यता एवं संस्कृति"

सामान्य-परिचय—

रामायण तथा महाभारत के जो संस्करण आज प्राप्त हैं वे निस्सन्देह सूत्रकाल से सम्बद्ध हैं। उनका प्रतिपाद्य विषय अवश्य प्राचीन है परन्तु उनकी रचना-शैली एवं वर्तमान आकार को देखकर निश्चय ही उन्हें पीछे का विकसित रूप मानना पड़ता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का पर्याप्तरूपेण ज्ञान प्राप्त होता है।

"धार्मिक-दशा"

(क)—नये-देवता—

वैदिक-युग से महाकाव्य युग के धर्म में बड़ा अन्तर आ गया था। पहले युग की प्राकृतिक शक्तियों के सूचक—इन्द्र, वरुण, उषा आदि देवताओं का स्थान अब स्कन्द, विशाख और वैश्रवण जैसे देवता लेने लगे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति का उत्कर्ष बढ़ा। वैदिककाल में प्राकृतिक-शक्तियाँ देवता बनती थीं अब वीर-पुरुष इस पद को पाने लगे। *श्रीराम* रामायण के मूल अंश में मनुष्य हैं किन्तु बाद के अंशों में *विष्णु* के अवतार माने जाते हैं।

(ख)—भक्ति की प्रधानता—

इस युग की दूसरी विशेषता भक्ति की प्रधानता है। वैदिक-युग में कर्मकाण्ड पर अधिक बल दिया जाता था, उपनिषदों ने ज्ञान को

प्रधान बतलाया, किन्तु इस युग में भक्ति की महिमा बढ़ने लगी। इस आन्दोलन के नेता "*कृष्ण*" थे।

(ग)—आत्मयज्ञ—

पशु-यज्ञ के स्थान पर महाभारत में मुक्ति पाने के लिये *आत्मयज्ञ, आत्मसंयम* और *चरित्र-शुद्धि* पर बल दिया गया है। यद्यपि इस समय भी यज्ञों की काफी महत्ता थी, फिर भी विचारक लोगों ने स्पष्ट रूप से यह कहना शुरू किया कि क्रूरतापूर्ण-यज्ञ क्षणिक स्वर्गादि फल के देने वाले हैं, सच्चा यज्ञ तो-सत्य, अहिंसा, तृष्णा एवं क्रोध का परित्याग, संयम, वैराग्य और त्याग हैं। इनकी साधना करने वाला वह फल प्राप्त करता है जो हजारों यज्ञों से भी प्राप्त नहीं हो सकता।

(घ)—गीता का मध्यम मार्ग—

इस युग में भारतीय धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें भगवद्गीता में मिलता है। यह इतना महान् है कि इसमें सब अवस्थाओं, सब धर्मों, सब वर्णों और सब जातियों को अपने-अपने विश्वासों के अनुसार मोक्ष पाने की स्वतन्त्रता है। गीता से पूर्व *कर्मकाण्डी लोग* यज्ञों पर बल दे रहे थे और *तपस्वी* तप को महत्वपूर्ण समझते थे, किन्तु *श्रीकृष्ण* ने गीता के द्वारा मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया। गीता ने केवल स्वधर्म पालन पर ही बल नहीं दिया, बल्कि उसके साथ ही उसने सारे समाज के लिये मोक्ष का द्वार खोल दिया। *श्रीकृष्ण* ने इस क्षेत्र में स्त्री, पुरुष, आर्य, अनार्य आदि सभी प्रकार का भेदभाव मिटा दिया। *श्रीकृष्ण* ही सम्भवतः संसार में सार्वभौम धर्म के प्रथम प्रचारक थे।

(ङ)—धर्म का पालन—

गीता तथा महाभारत ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य धर्म-पालन है। धर्म का अभिप्राय पूजा ही नहीं बल्कि

ईमानदारी तथा नैतिकता पूर्वक जीवन यापन करना भी था। भारतीय दृष्टि से *आचार-शुद्धि* ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। गीता के अन्दर श्रीकृष्ण को विराट्-पुरुष, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी आदि माना गया है। इस समय पञ्चाग्नि-साधन तथा तीर्थाटन भी प्रचलित थे। सभी गृहस्थ लोग पञ्चमहायज्ञ करते थे। नैमित्तिक पर्वों के लिये भी बड़ी तैय्यारियाँ होती थीं और पर्व एवं उत्सव अच्छी तरह से मनाये जाते थे।

"सामाजिक-जीवन"

(क)-सामाजिक-संगठन—

इस काल में वर्णाश्रम-व्यवस्था का दृढ़ता के साथ पालन होता था किन्तु जात-पाँत नहीं थी। वर्णों का विभाग गुण-कर्मानुसार माना जाता था। *भगवद्गीता* में भी श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"मैंने गुण, कर्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था की है।" इस समय तक वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं थी। ब्राह्मण क्षत्रियों का काम करते थे और क्षत्रिय ब्राह्मणों का। द्रोणाचार्य विप्र होते हुए भी धनुर्वेद के सबसे बड़े आचार्य थे और भीष्मपितामह क्षत्रिय होते हुए भी सबसे बड़े तत्वज्ञान के उपदेष्टा थे।

(ख)-स्त्रियों की स्थिति और विवाह पद्धति—

तत्कालीन समाज में स्त्रियों को प्रतिष्ठित पद प्राप्त था और उन्हें समाज में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, किन्तु उत्तरवैदिक-युग की स्थिति में जो ह्रास होना आरम्भ हुआ था वह इस युग में भी बना रहा। नारी-विरोधी-वर्ग पुत्रियों के जन्म को बुरा मानता था। उन्हें सारी बुराइयों का मूल समझता था। किन्तु दूसरी ओर ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं थी जिनका यह सिद्धान्त था कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा से देवता लोग

प्रसन्न रहते हैं। स्त्रियों को ऊँची शिक्षा मिलती थी। उन्हें अपने पति चुनने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

महाभारत के समय में भी आठ प्रकार के विवाह होते थे। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच। धनियों और राजवर्ग में बहु-विवाह की प्रथा काफी प्रचलित थी। भारतीय साहित्यमें सती के उदाहरण भी इसी समय से मिलने प्रारम्भ होते हैं। *माद्री* पाण्डु के साथ सती हो गई थी। इस समय बाल विवाह की प्रथा भी शुरू हो गई थी।

प्रायः यह समझा जाता है कि पर्दा-प्रथा मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ हुई, किन्तु यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता *रामायण* एवं *महाभारत* दोनों में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्त्रियाँ सामान्य रूप से अलग रहती थीं और सर्वसाधारण के सामने नहीं आती थीं। फिर भी इस युग में मध्यकाल की सी परतन्त्रता एवं घोर पर्दा-प्रथा न थी। जीवन में पत्नी का स्थान वैदिक-काल की भाँति पति के बराबर समझा जाता था। वे पुरुष की अर्धाङ्गिनी और सब सुखों का श्रोत समझी जाती थी। वे पतिव्रता के ऊँचे आदर्श का पालन करती थीं। सीता, सावित्री और दमयन्ती आज भी भारतीय स्त्रियों के लिये अनुकरणीय हैं।

(ग)–जीवन के प्रति दृष्टि कोण—

वैदिक-युग की भाँति इस समय भी जीवन का दृष्टि कोंण आशावादी था। भाग्य की अपेक्षा पौरुष पर अधिक जोर दिया जाता था। इस समय *भारतीय* चरित्र और आचार को महत्ता देते थे। *मैगस्थनीज* वगैरह विदेशियों ने भी भारतीयों की चारित्रिक उच्चता और सत्यप्रियता का स्वाकार किया है।

(घ)–आर्थिक-दशा—

इस युग में अजीविकाओं के शास्त्र का सामान्य नाम "*वार्त्ता*" था। इसके तीन अंग थे (१)–*कृषि* (२)–*पशुपालन* तथा (३)–*शिल्प*। राजाओं का यह कर्त्तव्य था कि वे तीनों वृत्तियों की उन्नति के लिये योग्य पुरुष नियुक्त करें।

(ङ)–सामाजिक जीवन की अन्य विशेषतायें—

इस युग में आर्य एवं अनार्य का भेद उग्ररूप में विद्यमान था। अनार्यों को गावों या नगरों के अन्दर रहने की आज्ञा न थी। इनकी बस्तियाँ प्रायः गावों एवं नगरों के बाहर हुआ करती थीं। चारों वर्णों के अतिरिक्त उस समय एक *वर्णसङ्कर* जाति भी थी। इसकी गिनती भी शूद्रों में थी। परन्तु कोई भी वर्णसङ्कर अच्छे कर्मों द्वारा द्विजाति में भी मिला लिया जाता था। इस युग में ब्राह्मण की ही प्रधानता थी। चारों वर्णों के कर्म सूत्रकाल के समान निर्धारित थे। इस समय दास प्रथा भी प्रचलित थी। पिता को कुटुम्ब का नेता माना जाता था। सभी परिवार के लोग परस्पर सौहार्द रखते थे। संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली प्रचलित थी। बड़े भाई की पत्नी को माता के समान समझा जाता था तथा छोटे भाई की पत्नी को पुत्री के समान। *रामायण-काल* की अपेक्षा *महाभारत-काल* में यह आदर्शवादिता कुछ कम हो गई थी। भीम बड़े भाई की आज्ञा मानने को तैयार नहीं।

इसके अतिरिक्त खान-पान, वेश-भूषा, व्यापार, आमोद-प्रमोद, आभूषण आदि उत्तरवैदिक-काल एवं सूत्रकाल के ही समान थे। उत्तरोत्तर इन सभी क्षेत्रों में पहले की अपेक्षा विकास होता जा रहा था।

"राजनैतिक-जीवन"

(क)–सामान्य-विवरण—

इस समय अधिकांश भारत में राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी। राजा कुल-क्रमागत होते थे। उनका मुख्य कार्य प्रकृतिरञ्जन समझा जाता था। किन्तु उनकी शक्ति तथा अधिकार सर्वथा निरङ्कुश थे यह बात नहीं थी। राजा राजकीय कार्य सभा की सहायता से करता था, यही बात वैदिक युग में भी थी। इसमें या तो राज्य के सब क्षत्रिय होते थे या तो यह एक प्रकार की वृद्ध-परिषद् होती थी। राजा के प्रमाद या गलती करने पर उसके परामर्श दाता उसकी भर्त्सना करने में संकोच नहीं करते थे। अत्याचारी राजा के विरुद्ध विद्रोह कर उसे पदच्युत किया जाता था। जब राजा वेन ने प्रजा पर अत्याचार किए तब ऋषियों ने उसे गद्दी से उतार दिया।

(ख)–राजा के कर्त्तव्य—

महाभारत में राजा के लिये अनेक उच्च आदर्श और कर्त्तव्य बताए गये हैं। जैसे–उसे निर्बलों पर अत्याचार नहीं करना चाहिये; वचन, मन एवं शरीर से न्यायाचरण करते हुए अपने पुत्र का भी अपराध क्षमा नहीं करना चाहिये। राजा का कर्त्तव्य है कि जहाँ वह एक ओर साधारण प्रजा को सुखी करे वहाँ दूसरी ओर अभागे, अनाथ और बूढ़ों के भी आँसू पोंछे। उसका कर्त्तव्य अपनी सेना, कोष और व्यापार को बढ़ाना तथा प्रजा के कष्ट निवारण करना भी है। बेकार, निर्धन और अपाहिजों का पालन-पोषण भी राजा का धर्म है।

(ग)–कर-पद्धति—

राज्य की आय के प्रधान श्रोत भूमि की उपज, व्यापार, खानों, समुद्र तथा वनों की उत्पत्ति पर लगाये गये कर थे। कर-संग्रह के लिये

काफी जटिल व्यवस्था थी। एक, दश, बीस, सौ एवं हजार ग्रामों के अधिकारी अपने २ क्षेत्र का कर वसूल कर ऊपर पहुँचाते थे। करका उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि एवं रक्षा ही समझा जाता था।

(घ)-सैन्यप्रबन्ध—

विदेशी आक्रमणों से रक्षा तथा युद्धों के लिये राजा विशाल सेनायें रखते थे। यह स्थाई तथा स्वयंसेवक दोनों प्रकार की होती थीं। सेना के चार अंग होते थे—पदाति, अश्व, हाथी और रथ। उत्तर-वैदिक काल तक हाथियों का लड़ाई में प्रयोग नहीं था, यह सम्भवतः इसी युग में शुरू हुआ। भारतीयों से ही इसका प्रयोग यूनानियों, इरानियों तथा तुर्कों ने सीखा।

(ङ)-रक्षा-प्रबन्ध—

दुर्गों के चारों ओर समुद्र जैसी गहरी खाइयाँ होती थीं तथा नगर के चारों ओर सुरक्षा के लिये पहरेदार रहते थे। पहरे के लिये चौकियाँ बनी हुई थीं, जिनमें युद्धोपयोगी समस्त अस्त्र-शस्त्रादि सामान सजाकर रखे जाते थे। प्रायः बर्छियाँ लिए हुए सिपाही लोग नगरों का पहरा दिया करते थे। उस समय का शासन दशमलव प्रणाली से होता था।

(च)-मन्त्रि-मण्डल एवं शासन-प्रबन्ध—

राजा का एक मन्त्रिमण्डल होता था। जिसमें चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीश वैश्य तथा तीन शूद्र एवं एक सूत रहते थे। राजा का एक प्रधान मन्त्री होता था जिसे प्रधानामात्य या आमात्य कहते थे। इन समस्त मन्त्रियों में से ८ मन्त्रियों की एक अलग परिषद् होती थी, जो राजा की अन्तरङ्ग परिषद् कहलाती थी। राजा को प्रतिदिन मन्त्रि-गृह में सलाह लेने जाना पड़ता था। *सभा* एक प्रकार का न्यायालय ही होता था। इनके अलावा उस काल में १८ अधिकारी और होते थे जो

पृथक्-पृथक् विभागों का कार्य संचालन करते हुये शासन प्रबन्ध में राजा को सहयोग देते थे।

उपसंहार—

यह युग भारतीय इतिहास में स्वर्णयुगों में से है। *रामायण* एवं *महाभारत* हिन्दू आचार-विचार की आजतक आधार शिला बने हुये हैं। ये दोनों हमारे सामने उन धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक आदर्शों को रखते हैं जिनके अनुसार हमें अपना जीवन बिताना चाहिये। इनमें किसी सम्प्रदाय एवं जाति का बन्धन नहीं। सामाजिक जीवन का चरम विकास इस युग में दिखाई देता है। इस समय भौतिक-क्षेत्र में युद्ध-नीति, शस्त्रास्त्र, प्राकृतिक-विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य और व्यवसाय की दृष्टि से भारत ने बहुत उन्नति की, किन्तु सामाजिक आचार इस समय काफी अवनत था। युधिष्ठिर जैसे धर्मराज द्यूत जैसे दुर्व्यसनों के शिकार होते थे और नारी की स्थिति भी समाज में गिरने लगी थी। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक विचार, सभ्यता, संस्कृति आदि का अध्ययन करने के लिये उक्त दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय हैं।

"भारतवर्ष में जातिप्रथा का उद्गम एवं विकास"

सामान्य-विवरण—

हिन्दू-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता जाति व्यवस्था है। समस्त हिन्दू-जाति चार मुख्य जातियों में और लगभग ३००० उपजातियों (वर्गों) में विभक्त है, जिनका खान-पान एवं विवाह अपने ही वर्गों तक सीमित है। यही बात "नौ कनोजिया तेरह चूल्हे" आदि कहावतों में प्रतिबिम्बित हुई है। स्वामी विवेकानन्द ने इसी परिस्थिति से खीज-कर कहा था—"हमारा धर्म रसोई घर में है, हमारा ईश्वर खाना

बनाने के बर्तन में है और हमारा सिद्धान्त है—मुझे न छुओ, मैं पवित्र हूँ।"

ऋग्वेदिक काल से पूर्व जाति प्रथा न थी, वर्ण-व्यवस्था का श्रीगणेश उसी युग से हुआ। वर्ण शब्द का शाब्दिक अर्थ है रंग। *प्रो० रैयसन* के मतानुसार जाति व्यवस्था का प्रारम्भ वर्ण अथवा रंग के भेद के फलस्वरूप हुआ। प्रारम्भ में वस्तुतः दो ही वर्ण थे—*गोरे* (आर्य) और *काले* (अनार्य)। श्वेत रंग, लम्बी नाक लम्बे डीलडौल वाला एवं संस्कृत बोलने वाला वर्ग *आर्य* कहकर पुकारा जाता था। और काला, भद्दा, चपटी नाक वाला असभ्यवर्ग *अनार्य* कहलाता था। इन दोनों वर्गों को ही क्रमशः द्विज एवं शूद्र के नाम से कहा जाने लगा।

हिन्दुओं का विश्वास है कि जाति प्रथा अनादि काल से चली आ रही है। इसे ईश्वर ने निर्मित किया है, किन्तु वस्तुतः जातिप्रथा के उद्गम की ओर दृष्टि पात करने पर पता चलता है कि ऋग्वेद-काल में जाति प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। पुरुषसूक्त के अन्तर्गत जो चार वर्णों का उल्लेख मिलता है वह प्रायः सभी विद्वानों की राय में प्रक्षिप्त हैं। और बाद में ब्राह्मणों द्वारा जोड़ा गया है। हाँ इतना अवश्य है कि ऋग्वेद-काल में जैसा कि आगे भी कहा गया है—आर्य एवं अनार्य नाम के दो वर्ग अवश्य विद्यमान थे। आर्य लोग विजेता थे एवं अनार्य विजित तथा यहाँ के मूल निवासी थे।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो इस जातिप्रथा का प्रारम्भ निःसन्देह ब्राह्मणों द्वारा किया गया है, क्योंकि यह ब्राह्मण-धर्म के विकास के साथ ही साथ विकसित हुई। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये वर्ण क्यों बने ?

इस प्रश्न के बारे में विचार करने पर पता चलता है कि प्रत्येक समाज मे सामाजिक सुरक्षा एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त कुछ वर्ग बनाये जाते हैं जो समाज की सुव्यवस्था करने के लिये

आवश्यक होते हैं और जिनके बिना समाज का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। इन्हीं समाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इन वर्णों का निर्माण हुआ।

जब वैदिक-काल में यज्ञ आदि धार्मिक कर्मकाण्डों की अत्यधिक प्रबलता हुई, तो यज्ञानुष्ठान को सम्पादित करने वाले एक वर्ग की उत्पत्ति हुई जो पूर्ण रूप से यज्ञ सम्बन्धी समस्त क्रियाओं को स्मरण रखता था तथा यथावसर यज्ञ कराता या करता था। यह वर्ग पुरोहित के नाम से अभिहित होता था। इसी को *ब्राह्मण* के नाम से पुकारा जाने लगा।

जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकता के कारण ब्राह्मण-वर्ग की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार समाज की सुरक्षा, शत्रुओं से जनता को बचाने तथा नये-नये राज्य स्थापित करने के लिये कुछ बलशाली युद्धप्रिय लोगों के वर्ग का निर्माण हुआ। जो *क्षत्रिय* के नाम से-अभिहित हुआ।

जैसे-जैसे ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का निर्माण हो रहा था वैसे ही वैसे समाज में एक ऐसे वर्ग का भी निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था, जो कृषि-उत्पादन, पशुपालन, वाणिज्य एवं अन्य-अन्य व्यवसायों में व्यस्त रहता था। इस वर्ग को *विश* कहा जाता था। यही आगे *वैश्य* नाम से अभिहित हुआ।

चौथे *शूद्र* वर्ग के बारे में पहले ही कहा जा चुका है कि *आर्य* तथा *अनार्य* नाम के दो वर्ग भारत में आर्यों के आते ही स्थापित हो गये थे। यहाँ के मूल निवासियों को आर्यों ने *शूद्र-वर्ग* में रखा था, जिनका कार्य उक्त तीनों वर्गों की सेवा करना था।

इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना के अन्तिम समय तक चारों वर्ग (वर्ण) अपनी प्राथमिक अवस्था में स्थापित हो गये थे। शनैः शनैः इनमें संकीर्णता आती गई। अथर्ववेद के निर्माण तक यह वर्ण-भेद की भावना अपने विकसित रूप में उपस्थित हो गई थी और *ब्राह्मण*,

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पृथक्-पृथक् गिने जाने लगे थे। ब्राह्मण-काल में आकर इस वर्ण-भेद ने और भी उग्रता धारण की तथा सामाजिक विभाजन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

इस प्रकार *ब्राह्मण-युग* में ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता सर्वोपरि स्थापित रखने के लिये *वर्णभेद* तथा *जातिभेद* को जन्म दिया। ब्राह्मण-काल में पहले तो वर्ण-व्यवस्था हुई और पुनः वर्णों के आधार पर ही विभिन्न जातियों का सूत्रपात हुआ।

धीरे-धीरे प्रत्येक वर्ण के नियम, आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि जब स्थिर कर दिये गये तो उनमें भी वर्ग और उपवर्ग बनने लगे। जैसे ब्राह्मणों में अनेक जातियाँ बनी, वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य आदि में भी विभिन्न जातियाँ बनना प्रारम्भ हो गया। इस तरह वंश, धर्म तथा व्यवसाय के आधार पर जातियों का विकास हुआ। यही संक्षेप में जातियों के उद्भव तथा विकास का इतिहास है।

"जातिव्यवस्था के गुण"—

उपक्रम—

डा० *स्मिथ* ने लिखा है कि "जो संस्था सहस्रों बर्षों से चली आ रही है और जो समस्त भारत में फैली हुई है अवश्य कुछ गुणों से युक्त होगी।" इसके गुण निम्नलिखित है—

(१)—कार्यकुशलता—

इस जाति-व्यवस्था के फलस्वरूप प्राचीन काल में हिन्दू-समाज का कार्य अति सुचारु रूप से चलता था। प्रत्येक जाति के लोग अपने निर्दिष्ट कार्यों को करते थे। इस काल में शिक्षण संस्थाओं के अभाव में जाति-व्यवस्था के कारण लोग एक प्रकार की कला या शास्त्र सम्बन्धी (Technical) शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रथा के फलस्वरूप ही कला-कौशल की उन्नति हुई, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों के ही कार्य करता था।

(२)-सामाजिक-उन्नति—

जाति व्यवस्था के कारण एक जाति के लोगों में प्रेम एवं सहानुभूति देखने को मिलती थी। एक जाति के लोग एक दूसरे के सुख-दुःख में साथ देते थे। वे एक दूसरे की सहायता करना अपना धर्म समझते थे। जाति व्यवस्था के कारण ही प्राचीन परम्परायें तथा रीति-रिवाज सुरक्षित रह सके। अपनी-अपनी जाति में रहने के कारण रक्त की पवित्रता बनी रही।

(३)-धर्म की रक्षा—

जाति-प्रथा ने धार्मिक-संगठन में भी बड़ी सहायता की। जिस समय विधर्मियों ने हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिये बाध्य किया उस समय विभिन्न जातियों ने इन विधर्मियों का पूर्ण शक्ति से विरोध किया और अपने धर्म की रक्षा में सफलता प्राप्त की।

(४)-व्यक्तित्व का विकास—

इस प्रथा ने लोगों में आत्मत्याग की भावना जगाई, व्यक्ति को अपनी जाति के लिये संस्थागत नियन्त्रण में रहना सिखाया, व्यसनों को रोकने एवं आजीविका हीन होने से व्यक्तियों की रक्षा की। साथ ही इस जाति प्रथा के कारण जनता को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का भी अवसर प्राप्त हुआ।

"जाति-प्रथा के दोष"—

धीरे-धीरे हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था जटिल होती गई। उनमें बड़ा भेद-भाव हो गया और वे एक दूसरे को अपने से नीचा समझने लगे। वर्णों का विभाजन कर्म के स्थान पर जन्म से किया जाने लगा। शूद्रों का पतन प्रारम्भ हो गया। इस प्रथा के दोष इस प्रकार से हैं—

(१)—यह प्रथा प्रजातन्त्रवादी है और मनुष्य के दृष्टिकोण को संकुचित कर देती है। एक समाज के व्यक्तियों में यह एक दीवार खड़ी करती है।

(२)—यह समानता के सिद्धान्त की विरोधी है और छोटे-बड़े एवं ऊँच-नीच की भावना की पोषक है।

(३)—इसने समाज की आर्थिक उन्नति में बाधा डाली है, क्योंकि सब व्यक्ति समान रूप से सभी व्यवसाय नहीं कर सकते थे।

(४)—इस प्रथा में सब लोग बराबर कार्य नहीं करते। कुछ लोगों को जीवन भर कार्य करके भी भूखों मरना पड़ता है और कुछ खाली बैठकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।

(५)—इस प्रथा के कारण उच्च-वर्ग के लोगों में व्यर्थ का दम्भ एवं गर्व आ जाता है और वे अपने को दूसरों से बड़ा समझने लगते हैं।

(६)—निर्वाचनों के समय इस प्रथा के कारण साम्प्रदायिकता का खेल खेला जाता है। नौकरियों में भी इस प्रकार की माँग की जाती है।

(७)—इस प्रथा ने स्त्रियों को उनके अधिकारों से वञ्चित किया है। उन्हें कोई स्वतन्त्रता नहीं, वे अपना पति भी स्वयं नहीं चुन सकती।

(८)—अछूतों की दुर्दशा भी जातिप्रथा का ही दुष्परिणाम है। यह हिन्दू-समाज को भीतर से जर्जर बना रही है।

(९)—हिन्दू-समाज में वैमनस्य और शिथिलता का यह एक प्रमुख कारण है।

(१०)—डा० अम्बेडकर ने विधान-सभा में ठीक ही कहा था—"यदि हमारा समाज सहस्रों जातियों में विभक्त रहा और चुनाओं में हमने जाति-पाँति की भावना से काम किया तो फिर हमारे देश में कागजी विधान कितना ही अच्छा क्यों न हो एक सच्चे जन-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है कि वह समाज के इस कलङ्क को मिटाने का निरन्तर प्रयास करे"।

"हिन्दूधर्म में विभिन्न धर्मों का सम्मिश्रण"—

भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार *सर-यदुनाथ-सरकार* के इस कथन में पूर्ण सत्यता है कि "हिन्दूधर्म विभिन्न धर्मों का सम्मिश्रण है।" उनका कहना है कि हिन्दू-धर्म दूसरे धर्मों के प्रभाव से न बच सका और उसने सभी धर्मों की कुछ न कुछ बातों को अपनाया। आर्यों के आगमन से भारत को अनेक अच्छी बातों की उपलब्धि हुई। आर्यों की भारत को मुख्य छः देन हैं, उनमें सर्व प्रथम यह है कि उन्होंने *अनार्यों* के अध्यात्मवाद को एक उच्चकोटि पर पहुँचा दिया। इस अनार्यों के धर्म का उस धर्म में सम्मिश्रण हुआ जो आज हिन्दू-धर्म के नाम से विख्यात है।

भारत में आकर आर्यों ने विदेशी आक्रमणकारियों की भाँति यहाँ के अनार्यों को पूर्णतया नष्ट नहीं किया, बल्कि दोनों जातियों में शीघ्र पूर्ण सम्मिश्रण हो गया। दोनों के धर्मों एवं रीतियों में सामञ्जस्य हो गया। अनार्यों के देवताओं और धार्मिक रीतियों को विजेताओं ने स्वीकार कर लिया और उन्हें अधिक पवित्रता एवं दार्शनिकता का रूप प्रदान किया।

प्राचीन वैदिक-धर्म जो विशेष जातियों (आर्यों) का एक *धर्म-विशेष* था, अब अपने स्थान पर स्थिर न रह सका। इसका स्थान सर्व-व्यापक; किन्तु सहिष्णुता की उस पद्धति ने ले लिया, जिसको कि हम हिन्दू-धर्म के नाम से पुकारते हैं और जिसके विशाल वक्ष में प्रत्येक प्रकार के विश्वास और प्रथा को शरण प्राप्त होती है। इस हिन्दू-समाज में *इस्लाम* एवं *ईसाई* धर्मों के अतिरिक्त विदेशी जातियों एवं धर्मों का समावेश होता रहा।

आर्यों ने अनार्यों को नागपूजा एवं पाषाण-पूजा (*शिवलिङ्ग* एवं *शालिग्राम* की देवता के रूप में होनेवाली) को कुछ रूपान्तर करके

अपना लिया और आदिम एवं आर्य धर्मों के सम्मिश्रित धर्म का एक अङ्ग बना लिया। दक्षिण के अनार्यों के देवता *शिव* को वैदिक *रुद्र* के दूसरे नाम से एवं *शालिग्राम* को संसार के रक्षक *विष्णु* के रूप में स्वीकार कर लिया। हिन्दू देवतावाद में नागों को निम्न स्थान दिया गया। इस प्रकार प्राचीन धर्मों को आध्यात्मिक रूप प्रदान करके अनार्यों के अविनीत देवताओं को नवीन कहानियों और आविष्कृत बातों से आकृष्ट करके उच्च दार्शनिकता से परिपूर्ण कर दिया गया। इस प्रकार आर्य एवं अनार्यों के धर्मों का सम्मिश्रण होकर धर्म का एक नया रूप प्रस्तुत हुआ। आगे चलकर इसमें *जैन* तथा *बौद्ध* धर्मों का भी सम्मिश्रण हुआ जिससे *हिन्दूधर्म* का वह रूप तैयार हुआ जिसे हम आज देखते हैं।

धर्म के *आगम* तथा *निगम* सिद्धान्त में—निगम आर्यों का है किन्तु आगम द्रविड़ों का है। इसी प्रकार होम आर्यों का है और पूजा द्रविड़ों की। वर्तमान हिन्दू-धर्म तथा सभ्यता के वस्त्र का ताना द्रविड़ों का है और बाना आर्यों का। शिव तथा उमा द्रविड़ हैं, विष्णु आर्य तथा द्रविड़ दोनों। कृष्ण, गणेश, गरुड़, मूलतः द्रविड़ देवता हैं। हनुमान तथा गाय की पूजा भी सम्भवतः द्रविड़ों (अनार्यों) से ही प्रारम्भ हुई। अतः अनेक इतिहासकारों का कथन है कि वर्तमान हिन्दू-धर्म उत्तर-वैदिक-काल में आर्य तथा अनार्यों के धार्मिक तत्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुआ। किन्तु हम यह नहीं स्वीकार कर सकते। सत्य तो यह है कि हिन्दू-धर्म इनके अतिरिक्त अन्य धर्मों के तत्वों को भी रखता है, जिनमें बौद्धधर्म प्रमुख है। अतः यदुनाथ सरकार का यह कथन पूर्ण सत्य है कि "हिन्दू-धर्म विभिन्न धर्मों का सम्मिश्रण है।"

हिन्दू-धर्म में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठता प्राप्त थी, कुछ विद्वानों का मत है कि ब्राह्मणों के इस आडम्बर पूर्ण कर्मकाण्ड से ऊबकर क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के विरुद्ध आन्दोलन किया और इसके फलस्वरूप जैन तथा बौद्ध धर्मों का उपदेश क्षत्रिय कुमारों ने दिया।

बौद्धधर्म ने प्रकृति की शक्ति के स्थान में, जिसकी वैदिक-आर्य पूजा करते थे, धर्म में मनुष्य के रूप में एक उद्धारक का समावेश किया। *डा० सरकार* का मत है कि बौद्धधर्म के साथ ही सम्भवतः मूर्त्ति-पूजा की उपासना प्रारम्भ हुई। इस प्रकार बौद्धधर्म का भी इसमें सम्मिश्रण हुआ।

परन्तु हिन्दू-धर्म के नेताओं ने बौद्ध-धर्म की प्रगति को एकबार सदैव के लिये विराम दे दिया। उन्होंने बौद्ध-धर्म की उन रीतियों का अपने धर्म मे समावेश कर दिया, जो जन साधारण को बहुत प्रिय थीं। इस प्रकार सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में हिन्दू-धर्म का पुनर्गठन हुआ और इसमें बौद्ध-धर्म के सभी उत्कृष्ट-तत्त्वों को समाविष्ट किया गया, जिसके फलस्वरूप भारत से बौद्ध-धर्म का सदैव के लिये लोप हो गया।

हिन्दू-योगी तथा *बौद्ध-ध्यानी* में कदाचित् ही कोई भेद हो। अवनत *बौद्ध-धर्म* से रथयात्रा, मन्दिरों की पूजन विधि, भक्ति का मार्ग, निर्धनों की सेवा और धर्म-उपदेशकों की पद्धति को *हिन्दू-धर्म* ने ग्रहण कर लिया। बौद्ध-मठों का स्थान शैव-मठों ने ले लिया। महायान-श्रमणों का स्थान वैरागियों ने ले लिया। स्वयं बुद्ध को हिन्दुओं ने आठवाँ अवतार मान लिया।

कुछ समय बाद भारत में *इस्लाम-धर्म* का प्रवेश हुआ पर, दोनों का ईश्वर एक "जीवित एवं वैमनस्यपूर्ण ईश्वर था।" अतः इसका हिन्दू धर्म में समावेश न हो सका। कबीर, दादू, नानक तथा चैतन्य ने *हिन्दू* एवं *इस्लाम* दोनों धर्मों को मिश्रित करने का प्रयास किया किन्तु सफल न हो सके।

इसके बाद जब भारत में आये हुए इशाईयों ने शिक्षित हिन्दुओं तथा निम्न-वर्ग के लोगों को इसाई बनाना प्रारम्भ किया तो *ब्रह्मसमाज* एवं *आर्यसमाज* ने इस कार्य को रोका और हिन्दू-धर्म ने फिर एक

नवीन स्वरूप ग्रहण किया और जनता की सेवा के कार्य को अपनाया। उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हम निःसङ्कोच कह सकते हैं कि वर्तमान हिन्दू-धर्म विभिन्न धर्मों का सम्मिश्रण है।

भारतीय संस्कृति को आर्यों की देन

अथवा

"हमारे देश का इतिहास मुख्यतः आर्यों का इतिहास है ?"

उपक्रम—

हमारे देश का इतिहास मुख्यतः आर्यों का ही इतिहास है। उन्होंने भारत में आकर अपने राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक संघों को उन्नत किया। उनकी सभ्यता, संस्कृति एवं रहन-सहन का यहाँ के निवासियों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। *"सर-यदुनाथ-सरकार"* का कहना है कि आर्यों ने भारत की दूसरी जातियों पर अपने धर्म, दर्शन, शब्दकोष, साहित्य, परम्परा तथा शासन-प्रणाली–"संक्षेप में—अपने विचारों और संस्कृति की छाप लगा दी"। आर्यों के ही कारण भारत में विभिन्नतायें होते हुए भी एक आन्तरिक एकता है। आर्यों की संस्कृति की भारत को निम्नाङ्कित देन हैं।

(१)–आर्यों का साहित्य–

आर्यों का जीवन आध्यात्मिक था और धर्म उनके जीवन का प्रधान अङ्ग था। आर्यों की *प्रथम-देन* उनका *साहित्य* है। हिन्दुओं के समस्त *धार्मिक-ग्रन्थ* जैसे—वेद, गीता, रामायण, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, ब्राह्मण, सूत्र आदि सब आर्यों की ही रचनाये हैं। इनके अलावा

आर्यों ने दर्शन, राजनीति, गणित, नीतिशास्त्र, व्याकरण आदि विषयों पर भी पुस्तकें लिखीं। आर्यों ने कला के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति की। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति इन्हीं पर आधारित हैं। समय-समय पर संस्कृत-साहित्य की अवनति हुई परन्तु फिर उसका पुनरुत्थान हुआ। भारतीयों ने आर्यों के धार्मिक-साहित्य का अध्ययन करके अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने का पुनः प्रयास किया।

(२)-आर्यों का धर्म—

आर्यों का धर्म जिसे हम हिन्दू-धर्म के नाम से अभिहित करते हैं आर्यों की भारत को दूसरी-देन है। आर्यों ने भारत के धर्मों का विरोध न किया, बल्कि अन्य धर्मों की आवश्यक बातों को ग्रहण किया और वे हिन्दू-धर्म को एक निश्चित रूप देने में सफल हुए। हिन्दू-धर्म की प्रधान विशेषता है—*सहनशीलता*। इसने कभी किसी धर्म का विरोध न किया बल्कि उसकी अच्छी बातों को अपनाया। अपनी इस सहन-शीलता के कारण ही यह धर्म आज भी अमर है।

(३)-आश्रम—

आर्यों की भारत को *तीसरी-देन* आश्रम-प्रथा है। इस *आश्रम-प्रथा* ने हिन्दू-संस्कृति को जीवित रखा। आर्य इन आश्रमों में रहकर नियमित रूप से जीवन व्यतीत करते थे, समाज एवं संसार से उदासीन रहते थे और ज्ञानोपार्जन में अपना समय व्यतीत करते थे। "*सरकार*" का कहना है कि इस प्रथा के द्वारा शान्तिमय उपवनों में हमारे *दर्शन-शास्त्र* की उन्नति हुई तथा आचार-शास्त्र, नीति-शास्त्र एवं साहित्य की शाखाओं को जीवन प्राप्त हुआ, यहीं पर हमारी प्राचीन सभ्यता अपने सच्चे रूप में विद्यमान थी। इन सब बातों का श्रेय आर्यों को है।

(४)–जाति-प्रथा—

आर्यों ने समस्त व्यक्तियों को चार *जातियों* (वर्णों) में विभाजित कर दिया था। इन वर्णों का संगठन गुण एवं कर्मों पर आधारित था। इस प्रथा में दोष भले ही हों किन्तु इसके कारण व्यक्ति अपने कार्यों में कुशल हो गये। इसने समाज की उन्नति की तथा धर्म की भी रक्षा की। इसने व्यक्तित्त्व का भी विकास किया।

(५)–पारिवारिक जीवन—

आर्यों की भारत को *पाँचवीं-देन पारिवारिक-जीवन* है। आर्यों ने पारिवारिक-जीवन को सुखमय बनाया। उन्होंने स्त्रियों को सब अधिकार देकर अपने पारिवारिक जीवन को सफल बनाया। कुटुम्ब समाज की अति महत्त्वपूर्ण इकाई हो गया।

(६)–ग्रामीण-जीवन—

आर्यों की *अन्तिम* (छठी) महत्त्वपूर्ण देन है—*ग्रामीण-जीवन*। कृषि के कार्य ने ग्रामों की तथा ग्रामीण-जीवन की आधारशिला स्थापित की। शनैः २ ग्राम आर्यों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई बन गये। यहीं पर सर्वप्रथम प्रजातन्त्र की स्थापना हुई।

इस प्रकार हम निःसंकोच कह सकते हैं कि आर्यों ने भारत की दूसरी जातियों पर अपने विचारों एवं संस्कृति की छाप लगाने में सफलता प्राप्त की और भारतीय जीवन को सम्पन्न कर दिया। आर्यों की संस्कृति एवं विचारों को प्रायः सभी ने स्वीकार कर लिया। उनकी देन से भारतवासियों का अति हित हुआ है। उन्हीं के कारण आज भारत का यह सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक रूप है। इसके लिये भारतीय सदैव आर्यों के ऋणी रहेंगे।

"जैन तथा बौद्धकालीन सभ्यता एवं संस्कृति"

बुद्ध-पूर्व-भारत—

जैन तथा बौद्धकालीन सभ्यता एवं संस्कृति का परिचय देने के पूर्व संक्षेप में बुद्धपूर्व-भारत की स्थिति का दिग्दर्शन कराना भी असंगत न होगा। बुद्धपूर्व-भारत से अभिप्राय वि० पू० ८ वीं श० से लेकर वि० पू० ६ श० के आरम्भ तक के भारत से है। इस काल के सम्बन्ध में जानने के लिये मुख्यतः *पालिजातकादि* बौद्ध-ग्रन्थों का, *आचाराङ्ग* आदि जैनसूत्रों का आलोडन करना आवश्यक है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से अवगत होता है कि इस समय भारतवर्ष दो प्रकार के राज्यों में बँटा हुआ था--(१)-*नृपतन्त्रात्मक* (जनपद) तथा (२)-*गणतन्त्रात्मक*। नृपतन्त्रात्मक राज्य—काशी, कौशल, अंग, मगध आदि १६ थे, जिन्हें षोडश-महाजनपद कहा जाता था। शेष राज्य प्रायः गणतन्त्रात्मक थे। आगे चलकर बुद्ध के समय भारतवर्ष विशेषतः उत्तरी-भारत कई गण-राज्यों में विभक्त हो गया था, जिनका पूरा विवरण हमें पाली-साहित्य से मिलता है।

जैन और बौद्ध धर्म के उद्भव के कारण—

ई० पू० छठी शताब्दी में भारत में एक प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई। इसके प्रधान-नेता *वर्धमान-महावीर* एवं *गौतम-बुद्ध* थे। इस क्रान्ति के मूलतत्त्व याज्ञिक-कर्म-काण्ड की निरर्थकता, वेदों की प्रमाणिकता एवं ब्राह्मणों की प्रभुता का विरोध तथा नैतिकता एवं तपस्या का महत्व थे। वेद, *आत्मा* और *ईश्वर* में विश्वास न रखने के कारण इन्हें नास्तिक-धर्मान्दोलन कहा जाता है।

वास्तव में यह आन्दोलन कई शदी पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। इस क्रान्ति की जड़ कई शदी पूर्व उपनिषदों के समय में जम चुकी थी।

अनेक बोधिसत्त्व और तीर्थङ्कर इसे अपने जीवनों से सींच चुके थे। बौद्धग्रन्थों से ज्ञात होता है कि छ० श० ई० पू० में स्वतन्त्र-धार्मिक और दार्शनिक विचार काफी विकसित हो चुके थे। इन विचारों के विकास का प्रधान कारण उस समय की दो प्रधान विचारधारायें थीं—ब्राह्मण-ग्रन्थों का *याज्ञिक-कर्मकाण्ड* और *उपनिषदों का ज्ञान*। इन दोनों विचार धाराओं से साधारण जनता की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती थी। यद्यपि यज्ञों के विरुद्ध उपनिषदों ने जोरदार आवाज उठाई थी और *संसार-सागर* को पार करने के लिये *यज्ञको* फूटी नाव सिद्ध किया था, तथापि यज्ञों के विरोध में उन्होंने जिस ज्ञान और ब्रह्म-विद्या पर बल दिया था, वे केवल बुद्धिजीवी-वर्ग को ही प्रभावित कर सकते थे। *साधारण-जनता* के लिये आडम्बर-पूर्ण यज्ञ और रहस्यवाद से ओत-प्रोत उपनिषदें सामान्य रूप से जटिल एवं दुर्बोध थीं। वह *सरल, आचार* एवं *भक्तिप्रधान* धर्म के लिये तरस रही थी। इनमें पहली दो आवश्यकतायें जैन तथा बौद्ध-धर्म ने पूरी की और तीसरी भक्तिप्रधान-*पौराणिक-धर्म* ने।

जैन-धर्म—

जैनों के मतानुसार इस धर्म का प्रादुर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में हो चुका था और *महावीर* से पूर्व २३ तीथङ्करों ने अपने-अपने समय में इसका प्रचार किया। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर के २५० वर्ष पूर्व *"पार्श्वनाथ"* नामक एक तीर्थङ्कर का होना सिद्ध होता है, किन्तु जैन-मत का पूर्ण प्रचार महावीर द्वारा ही हुआ।

महावीर—

महावीर का मूलनाम *वर्धमान* था। वैशाली के निकट कुण्डन ग्राम में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता *सिद्धार्थ* ज्ञातृक-कुल के क्षत्रिय थे और इनकी माता *तृषला* लिच्छिवियों के नायक चेटक की बहिन थी।

३० वर्ष तक गृहस्थ आश्रम करने के पश्चात् इन्होंने घर का परित्याग किया। १२ वर्ष तक अत्यन्त कठोर तपश्चर्या द्वारा इन्होंने कैवल्य प्राप्त किया और तदुपरान्त *निर्ग्रन्थ-जिन-केवली* आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। इसके बाद ३० वर्षों तक निरन्तर धर्म-प्रचार करने के बाद ७२ वर्ष की अवस्था में *पावापुरी* में इन्होंने *निर्वाण* प्राप्त किया। इन्होंने अपना धर्म मुख्यतया *मगध*, *कलिङ्ग*, *अङ्ग*, *मिथिला* और *कौशल* में फैलाया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सन्यास एवं कठोर तपश्चर्या इनके मूल उपदेश थे। ये दिगम्बर थे। ई० पू० ३ शताब्दी में भारत में बहुत बड़ा अकाल पड़ा और आचार्य भद्रबाहू की अध्यक्षता में जैन साधुओं ने दक्षिण की यात्रा की। महावीर का समय ई० पू० ५३६-४६७ माना जाता है। माहावीर के निर्वाण के एक दो शती के भीतर ही पश्चिमी-भारत में भी जैन धर्मकी नीव जम गई। अनेक उतार-चढ़ाव के बाद भी भारत में आजतक इनके अनुयायियों की एक अच्छी संख्या है।

जैन-धर्म के सिद्धान्त—

जैनमत वेदों को नहीं मानता और न यज्ञों को ही महत्त्व देता है। इस मत के अनुसार संसार के प्रत्येक कण-कण में जीव व्याप्त है। अतएव अहिंसा का पालन अत्यन्त कठोरता से करना चाहिये। यह मत सर्वव्यापक-आत्मा या "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" के सिद्धान्त को नहीं मानता। इसके अनुसार मनुष्यों में अन्तर्निहित शक्तियों का अत्युच्च, सुन्दर और पर्ण दर्शन ही ईश्वर का रूप है। जैन-जीवन का लक्ष्य तपस्या द्वारा कर्म के कठोर बन्धनों को तोड़ना है। मोक्ष का अभिप्राय नवीन और पुरातन कर्मों से छुट्टीपाना है। (१)-*सद्विश्वास*, (२)-*सत्य-ज्ञान* और (३)-*सच्चरित्र* के बलपर यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इन्हीं तीनों को *त्रिरत्न* कहा गया है।

भारतीय-संस्कृति को जैनों की देन—

बौद्धों की भाँति जैनों ने भी भारतीय संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा योग दिया। धार्मिक क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन अहिंसा है। ऐतिहासिक दृष्टि से *अहिंसा* जैनों की ही देन है बौद्धों की नहीं जैसा कि साधारणतया प्रचलित है। इसने भारत में पहले से विद्यमान *सहिष्णुता* और *उदारता* की प्रवृत्ति पुष्ट की। जैनों की कला और भाषा सम्बन्धी देन विशेष उल्लेखनीय हैं। बौद्धों की भाँति इन्होंने भी अपने तीर्थङ्करों की स्मृति में *स्तूप*, *प्रस्तर-वेदिकायें*, *अलंकृत-तोरण* स्थापित किये। देश के भाषा-विषयक विकास में जैनों का कार्य अद्वितीय है। हिन्दुओं ने धर्मग्रन्थों की भाषा का माध्यम सदैव संस्कृत रक्खा। बौद्धों ने प्रारम्भ में पाली अवश्य रक्खा किन्तु बाद में संस्कृत को अपना लिया। परन्तु जैनों ने धर्म-प्रचार तथा ग्रन्थ-लेखन के लिये विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न कालों में प्रचलित लोक-भाषाओं (प्राकृतादि) का उपयोग किया। इस प्रकार इन्होंने *प्राकृत-भाषाओं* के विकास पर बहुत प्रभाव डाला। कई लोक-भाषाओं को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप देने वाले जैन ही हैं। अपभ्रंश में भी जैनों की अनेक रचनायें मिलती हैं। जैनों ने संस्कृत में व्याकरण, कोश, दर्शन आदि विषयों के महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं।

गौतमबुद्ध—

बौद्धधर्म का सूत्रपात *गौतमबुद्ध* ने किया। इनका जन्म शाक्य-कुल में हुआ था। कपिलवस्तु के राजा *शुद्धोधन* इनके पिता थे। इनका मूल नाम *सिद्धार्थ* था। इनकी माता *मायादेवी* इनके जन्म के कुछ दिन बाद दिवङ्गत हो गईं। ज्योतिषियों के द्वारा राजा को यह ज्ञान हुआ कि उसका पुत्र या तो चक्रवर्ती सम्राट होगा या महायोगी। राजा अपने पुत्र को सम्राट बनाना चाहता था। अतएव २९ वर्ष तक अपने पुत्र को उन्होंने सभी सुखों और ऐश्वर्य से सम्पन्न अपने प्रासाद मे बन्द रखा।

उनका विवाह भी गोपा या यशोधरा नाम की कन्या से किया गया। *सिद्धार्थ* के एक पुत्र भी हुआ जिसका नाम *राहुल* था। एक दिन सिद्धार्थ ने क्रमशः वृद्ध, रोगी एवं शव के रूप में सांसारिक दुःखों का दर्शन किया। इन्हीं को देखकर विरक्त होकर वे रात को घर छोड़कर चले गये। इस कार्य को बौद्ध-साहित्य में *महाभिनिष्क्रमण* कहते हैं। घर से निकलने के बाद *आलारकलाम* और *उद्दक-रामपुत्र* नामक दो गुरुओं के पास इन्होंने अध्ययन किया, किन्तु इससे इनके चित्त को शान्ति नहीं मिली। अतएव ये वर्तमान गया के निकट *उरुवेल* नामक स्थान पर गये और वहाँ जाकर इन्होंने घोर तपस्या प्रारम्भ की। इनका देह सूखकर काँटा हो गया, किन्तु इन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त न हो सका। अतएव एक आकाशवाणी को सुनकर इन्होंने उस मार्ग का परित्याग कर दिया और *सुजाता* के लाये हुए पायस का सेवन करके बोधि-वृक्ष के नीचे आसन जमाकर ध्यानावस्थित हो गये।

इस प्रकार कई दिन बीत जाने पर एक रात को इन्हें बुद्धत्त्व प्राप्त हुआ और ये बुद्ध, *तथागत*, *शाक्यसिंह* इत्यादि नामों से विख्यात हुए। इन्होंने अपने धर्म-प्रचार का कार्य *"सारनाथ"* नामक स्थान से शुरू किया। ४५ वर्ष तक ये बराबर धर्म-प्रचार करते रहे। लोगों को उनकी बोल-चाल की भाषा (पाली) में ही उन्होंने धर्म के तत्त्व बतलाये और अपने सुन्दर उपदेश, दयालुता, सच्चरित्रता तथा सहानुभूति से लोगों को वश में किया। राजा से रङ्क तक सब इनके अनुयायी बन गए। *गृहस्थ* अनुयायी *उपासक* तथा *सन्यासी—भिक्षु* कहलाते थे। इन भिक्षुओं का समुदाय संघ कहलाता था। निरन्तर अपने धर्म का प्रचार करते हुए ८० वर्ष की अवस्था में *कुशीनगर* नामक स्थान पर इन्होंने *महापरिनिर्वाण* प्राप्त किया। इनका समय ५६७–४८७ ई० पू० माना जाता है।

बुद्ध ने संसार की सभी वस्तुओं को क्षणिक और अनित्य बतलाया। इनका कहना था कि—"सारा विश्व दुःखमय है, दुःख का कारण है,

दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का मार्ग भी है"—(दुःख, दुःख-समुदाय, दुःख-निरोध एवं दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद्) ये चार बातें *चार-आर्य-सत्य* (चत्वारि आर्य सत्यानि) के नाम से विख्यात हैं। यही बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त हैं। मृत्यु भी दुःखों से छुटकारा नहीं दिला सकती। इसका एक अपना मार्ग है जिसे "अष्टाङ्गिक मार्ग या अट्ठाङ्गिक मग्ग" कहते हैं। जो इस प्रकार है (१)—*सम्यग्-दृष्टि* (२)—*सम्यग्-संकल्प* (३)—*सम्यक्-वाक्* (४)—*सम्यक्-कर्मान्त* (५)—*सम्यक्-आजीव (जीविका)* (६)—*सम्यग्-व्यायाम* (७)—*सम्यक्-स्मृति* तथा (८)—*सम्यक्-समाधि*। जीवन का लक्ष्य इसी अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलकर निर्वाण प्राप्त करना है।

जैन और बौद्ध धर्म की समानतायें—

(१)—दोनों वेद विरुद्ध हैं। (२)—दोनों जाति-बाद को नहीं मानते। (३)—दोनों के प्रवर्तक क्षत्रिय हैं। (४)—दोनों ईश्वर को नहीं मानते। (५)—दोनों अहिंसा पर जोर देते हैं। (६)—ईश्वर को न मानते हुए भी बाद में दोनों में मूर्त्ति-पूजा घुस पड़ी। (७)—दोनों कर्म में विश्वास करते हैं तथा (८)—दोनों ने जनसाधारण में प्रचलित यक्षादिक की पूजा को अपने यहाँ स्थान दिया।

वैषम्य—

जैनधर्म	बौद्धधर्म
(१)—जैन कठोर तपस्या पर जोर देते हैं।	(१)—बौद्ध शरीर सुखाने के विरोधी हैं।
(२)—इनके मूलग्रन्थ अङ्ग और सूत्र हैं।	(२)—इनके मूलग्रन्थ त्रिपिटक एवं जातक हैं।

जैनधर्म	बौद्धधर्म
(३)—ये प्रत्येक वस्तु में जीव होने का विश्वास करते हैं।	(३)—ये पूर्णतया अनात्मवादी हैं।
(४)—इन्हें राज्याश्रय परिमित मात्रा में मिला।	(४)—इन्हें देश और विदेश में पर्याप्त राज्याश्रय मिला।
(५)—इनके नियम अत्यन्त कठोर हैं।	(५)—इनके नियम बड़े सरल हैं।
(६)—यह धर्म कठोरता के कारण भारत के बाहर नहीं फैला।	(६)—यह धर्म भारत तथा विदेशों में-कोरिया, जापान और लङ्का तक फैला।
(७)—इनके त्रिरत्न-*सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान* एवं *सम्यक्-चरित्र* हैं।	(७)—इनके त्रिरत्न-बुद्ध, *संघ* एवं *धर्म* हैं।

बौद्धधर्म का विकास—

४८७ ई० पू० में महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद संघ में बुद्ध की शिक्षाओं पर विवाद उत्पन्न हो गया। अतः उनके सबसे पुराने शिष्य *कश्यप* ने बुद्ध के बचनों का प्रामाणिक संग्रह तैयार करने के लिये *राजगृह* में *पहली-बौद्धसभा* बुलाई। और इसमें बुद्ध की शिक्षाओं (त्रिपिटकों) का पाठ किया गया। इन्हें त्रिपिटक कहने का कारण यह था कि बुद्ध के उपदेश तीन भागों में बाँटे गए थे—(१)—*विनियपिटक*-इसमें बौद्ध भिक्षुओं तथा संघ के नियमों का प्रतिपादन है। (२)—*सूत्रपिटक*—इसमें बुद्ध के धार्मिक उपदेशों का संग्रह है। (३)—*अभिधम्मपिटक*—इसमें धर्म सम्बन्धी आध्यात्मिक प्रश्नों का विवेचन है। पहली सभा के सौ वर्ष बाद कुछ भिक्षु-सम्बन्धी नियमों में विवाद उत्पन्न हुआ, इसके समाधानार्थ ई० पू० ३८७ में दूसरी महासभा बुलाई गई। इस समय *महासांघिक* तथा *थेरबादी* इन दो भागों में बौद्ध-भिक्षु बँट गए।

बौद्धधर्म का विशेष उत्कर्ष *अशोक* के समय में हुआ। कलिङ्ग-विजय के बाद युद्ध के दुष्परिणामों को देखकर *अशोक* का हृदय द्रवित हो उठा और उसका भेरीघोष सर्वदा के लिये बन्द हो गया और उसका स्थान धर्मघोष ने ले लिया। इसी समय से वह बौद्ध हो गया और बौद्धधर्म के प्रचारार्थ उसने पूरा-पूरा प्रयत्न किया। भारत के विभिन्न भागों में एवं पश्चिमी-एशिया, मिश्र, पूर्वी-यूरोप, लङ्का, तिब्बत एवं नैपाल तक प्रचार के लिये दूत भेजे गए। लङ्का जाने वाले तो उसके पुत्र और पुत्री *महेन्द्र* एवं *संघमित्रा* थे। इसके अलावा (१)—धार्मिक दृश्यों को दिखाकर, (२)—अपनी धर्म-यात्राओं द्वारा, (३)-धर्ममहामात्रों द्वारा, (४)—अहिंसा के प्रचार के द्वारा, (५)—चिकित्सालयों की स्थापना के द्वारा, (६)—रास्तों में कुएँ खुदवाकर तथा छायादार वृक्ष लगवाकर, (७)—धर्मलिपियाँ खुदवाकर, (८)—शिलालेख, (९)—गुहालेख, (१०)—स्तम्भलेख, (११)--स्तूप-निर्माण एवं (१२)—धार्मिक उत्सव आदि के द्वारा अशोक ने बौद्धधर्म का प्रचार किया। बौद्धधर्म को विश्व-धर्म बनाने का श्रेय उसी को है। उसी के समय में तीसरी *बौद्ध-महासभा* हुई। बौद्ध प्रचारकों के साथ त्रिपिटक लङ्का पहुँचा और पहली श० ई० पू० में उसे लिपिबद्ध किया गया। मौर्य-साम्राज्य के बाद भारत पर यूनानियों, शकों एवं कुषाणों के आक्रमण हुए। इनमें से अनेकों राजाओं ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और उसका प्रचार किया। इनमें यवन राजा *मिनाण्डर* और कुषाण नृपति *कनिष्क* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कनिष्क के समय बौद्ध-संघ में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो गये थे, इनका अन्त करने के लिये *चौथी-बौद्ध-महासभा* बुलाई गई। इसमें त्रिपिटक पर प्रामाणिक भाष्य लिखा गया और इसी के आधार पर बाद में *महायान*-सम्प्रदाय का उदय हुआ।

हीनयान तथा महायान का अविर्भाव—

बौद्धसंघ का संगठन प्रजातन्त्रात्मक होने से, उसमें कोई केन्द्रीय

नियामक सत्ता नहीं थी। अतः उसमें कुछ भी मतभेद होने पर नये सम्प्रदाय स्थापित हो जाते थे । बौद्ध-ग्रन्थों में १८ सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। इनमें *हीनयान* तथा *महायान* ये दो सम्प्रदाय प्रधान हैं ।

बुद्ध की मूल-शिक्षाओं को सुरक्षित रखने वाला और उसपर आचरण करने वाला सम्प्रदाय *हीनयान* है। इसमें नई विशेषताओं और परिवर्तनों से *महायान* की उत्पत्ति हुई। *हीनयान* का प्रचार बर्मा, लङ्का और श्याम में है तथा *महायान* का नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान और मंगोलिया में है। इन्हीं से बाद में *वज्रयान* और *मंत्रयान* का विकास हुआ। महायानियों ने लोकप्रियता की दृष्टि से *पालि* को छोड़कर संस्कृत का आश्रय लिया। *हीनयानियों* से इनमें प्रधान भेद निम्नलिखित थे—(१)-बोधिसत्त्वों में विश्वास, (२)-बोधिसत्त्वों की मूर्त्तिपूजा एवं भक्ति, (३)-संस्कृत का प्रयोग।

बौद्धधर्म की लोकप्रियता तथा सफलता के कारण—

उपक्रम—

बुद्ध के उपदेश और शिक्षाओं का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। इसको लोगों ने अपनाया। इसके कई कारण थे जिससे कि यह धर्म इतना लोकप्रिय और सफल हुआ, जिनका उल्लेख इस प्रकार से है—

(१)-बौद्धधर्म के आकर्षण—

बुद्ध के उपदेश लोकभाषा में होनेसे उनमें एक आकर्षण था। उनकी शिक्षायें उपनिषदों के उपदेशों की भाँति सूक्ष्म और याज्ञिक-कर्मकाण्ड की भाँति जटिल न होकर अत्यन्त सरल थी। इनके द्वारा प्रतिपादित आचार-प्रधान-धर्म के द्वार सबके लिये समान रूप से खुले हुए थे।

इसमें किसी प्रकार का वर्गभेद, ऊँच-नीच या जात-पाँत का भेद न था।

(२)-प्रचारकों की अनथक लगन—

भगवान् बुद्ध स्वयमेव एक आदर्श प्रचारक थे। उत्थान और अप्रमाद उनके जीवन का मूलमन्त्र था। साथही उन्हें अत्यन्त उत्साही अनुयायी भी मिले, जिन्होंने उत्साह और सत्यपरता के साथ बुद्ध के उपदेशों का विश्व में प्रचार एवं प्रसार किया।

(३)-राज्याश्रय—

अशोक ने बौद्धधर्म का विश्वव्यापी प्रसार किया। इसके अलावा बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, उदयन आदि समकालीन राजाओं का आश्रय बौद्धधर्म की सफलता का तीसरा कारण था।

(४)-संघ-व्यवस्था—

चौथा कारण प्रजातन्त्र की पद्धति पर संघ का संगठन करना था। संघ ने बौद्ध-धर्म की उन्नति और विकास में बड़ा भाग लिया।

(५)—बुद्ध का निष्कलङ्क, पवित्र और ऊँचा चरित्र बौद्ध-धर्म की सफलता का पाँचवाँ कारण था।

(६)—इसकी सफलता का छठा कारण बुद्ध के उपदेशों का जन-साधारण की भाषा में होना था।

(७)—बौद्धधर्म की सफलता, विस्तार तथा लोकप्रियता का सातवाँ कारण था-उसका *मध्यममार्गी* होना।

इस प्रकार बौद्धधर्म अपने नैतिकवाद, उच्चादर्श और सर्व-सुलभता के कारण बहुत शीघ्र बुद्ध के जीवन-काल में ही बहुत दूर तक फैल गया था।

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

अथवा

भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में बौद्धधर्म की देन

प्रस्तावना—

बौद्धधर्म ने भारत की संस्कृति के उत्थान में अत्यन्त सहायता की। जिस समय बौद्धधर्म का जन्म हुआ, भारतीय जनता ब्राह्मणों की सर्व-श्रेष्ठता के कारण असन्तुष्ट थी और उसको किसी भी रूप में प्रोत्साहन प्राप्त न हो रहा था। यह सुनिश्चित है कि यदि महात्मा बुद्ध अपने उप-देशों द्वारा जनता में आशा का सञ्चार न करते और उन्हें नवसन्देश न देते तो भारतीय संस्कृति अपनी उस पराकाष्ठा पर न पहुँची होती, जिसपर उस समय पहुँच सकी। आज भी बौद्धधर्म का प्रभाव उस समय की कला, धर्म, लोक-साहित्य, समाज, राजनीति आदि में पूर्ण-तया व्यक्त होता है। बौद्धधर्म ने अधोलिखित प्रकार से भारतीय संस्कृति की सहायता की—

(१)–उच्च-नैतिक-आदर्श—

बौद्धधर्म ने सदाचार, लोक-सेवा और त्याग के उच्च आदर्शों पर बल दिया।

(२)–सामाजिक-उन्नति—

बौद्धधर्म भारत का प्रथम सरल एवं लोक-प्रिय धर्म था। इसका प्रभाव हमारे समाज पर खूब पड़ा। इसने राजा तथा प्रजा को शान्ति एवं सहनशीलता की शिक्षा दी। इसने जातियों एवं मनुष्यों में समा

नता का सिद्धान्त फैलाया। इसने मनुष्यों को नैतिकता के सिद्धान्त सिखाये एवं उत्तम रीति-रिवाजों को कार्यान्वित करने पर जोर दिया।

(३)–राजनैतिक-उन्नति—

बौद्धधर्म ने भारत की राजनीति को भी एक समुन्नत रूप प्रदान किया। निरंकुश राजाओं ने प्रजा पर अत्याचार करना बन्द कर दिया और वे उसे पुत्रवत् मानने लगे। उन्होंने गणतन्त्र राज्यों की भी स्थापना की तथा सहनशीलता एवं शान्ति की नीति को अपनाया। इसने आर्यों के राजनैतिक संगठन को सहानुभूति की शृङ्खला में आबद्ध किया।

(४)–संघव्यवस्था—

बौद्धधर्म ने संघों की व्यवस्था करके धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। संघ में आत्म-अनुशासन का सिद्धान्त एवं भिक्षु और भिक्षुणियों के लिये समान नियम थे तथा राज्य की ओर से बहुत कम हस्तक्षेप था। ये अपने झगड़ों का निर्णय जनसत्ता के सिद्धान्त के आधार पर स्वयं करते थे। बौद्धों की सत्य एवं अहिंसा की नीति को अपनाकर ही कांग्रेस ने भारत को अंग्रेजी साम्राज्य से मुक्त किया।

(५)–मूर्त्ति-पूजा का प्रसार—

भारत में मूर्त्तिपूजा का प्रसार भी सम्भवतः बौद्धकाल से ही प्रारम्भ हुआ, क्योंकि सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्त्तियाँ ही बनीं और इनकी सुरक्षा के लिये भवनों का भी निर्माण हुआ, जिन्होंने बाद में मन्दिरों का रूप धारण किया। इस प्रकार मूर्त्तिपूजा एवं मन्दिरों के निर्माण का प्रारम्भ बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण ही हुआ।

(६)–कला की उन्नति—

इस समय मूर्त्ति एवं मन्दिरों के आविष्कार के साथ-साथ कला की भी उन्नति हुई और यह अपनी चरम-सीमा तक पहुँच गई। अजन्ता

एवं इलोरा की गुफायें भारतीय चित्रकला एवं शिल्पकला के उच्च आदर्श हैं। इनके अतिरिक्त अशोक के स्तम्भ–पिच्चकारी एवं शिल्पकारी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। *सांची* की मूर्तिकला, *गान्धार* की पिच्चकारी आदि भी बौद्ध-कालीन कला के उत्तम नमूने हैं। *भरहुत, मथुरा* आदि की कला भी बौद्धों की ही देन है।

(७)–लोक-साहित्य का विकास—

बौद्धधर्म ने साहित्य एवं उसके विभिन्न अङ्गों को प्रोत्साहित किया। बोलचाल की भाषा में अमूल्य-साहित्य की रचना की गई तथा जातक-कथायें लिखी गईं। इस प्रकार बौद्धों के द्वारा लोक-साहित्य का भी विकास हुआ।

(८)–बौद्धिक-स्वतन्त्रता—

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धों की सबसे बड़ी विशेषता बौद्धिक स्वतन्त्रता थी। महात्मा-बुद्ध सदैव कहा करते थे कि मेरे शब्दों को गुरु-वचन मानकर स्वीकार मत करो, अपितु उनको अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसो। यही कारण था कि बौद्ध दार्शनिकों ने निर्बाध-रूप से दर्शन की समस्त समस्याओं पर स्वतन्त्रता पूर्वक विचार किया।

(९)–भारतीय संस्कृति का प्रसार—

बौद्धों ने भारतीय संस्कृति को विदेशों में प्रसारित करने में मुख्य भाग लिया। उन्होंने *मध्य-एशिया, चीन, कोरिया, मन्चूरिया, ब्रह्मा, श्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा* एवं *लङ्का* में भारतीय संस्कृति को विशेष रूप से फैलाया, जिससे भारत का सम्पर्क दूसरे देशों से हुआ और वह एकाकी देश न रह गया।

उपरोक्त का अध्ययन करके हम कह सकते हैं कि बौद्धधर्म ने भारतीय संस्कृति को समुन्नत करने में अत्यधिक योग दिया।

बौद्ध धर्म के पतन के कारण—

(१)—मौर्य-साम्राज्य के समाप्त होने के बाद शुङ्गवंशीय राजाओं ने *बौद्धधर्म* को दबाकर पुनः वैदिकधर्म को प्रोत्साहित किया, जिससे बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। इसके अलावा और भी कारण थे जिन्होंने भारत से बौद्धधर्म की इतिश्री की। जो इस प्रकार है—

(२)—धीरे-धीरे बौद्धधर्म १८ सम्प्रदायों में बँट चुका था। गुप्त-काल के आते-आते महायानी भिक्षुओं के पूजापाठ में दिखावट का अंश अधिक हो गया था। बहुत से भिक्षु अधिकाधिक कर्मकाण्डी हो चले थे।

(३)—आगे चलकर इसमें *बज्रयान*, *मन्त्रयान* आदि जिन सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें ढोंग और भ्रष्टाचार का साम्राज्य था।

(४)—गुप्त रूप से मठ और *बिहार* विलासिता के केन्द्र, राजनैतिक दाँव पेंचों के अड्डे एवं पाखण्ड के घर बन गये थे।

(५)—*तथागत* के सरल, बहुजन-सुखाय तथा बहुजन-हिताय वाले धर्म का रूप बहुत ही धूमिल हो गया था।

(६)—नवसंगठित *वैदिकधर्म* द्वारा *बौद्धधर्म* को आत्मसात करना भी बौद्धधर्म के पतन कारण था।

(७)—मीमांसकों का बौद्धधर्म पर प्रहार भी इस धर्म के पतन का कारण था।

(८)—मुगलों का आक्रमण तो बौद्धधर्म के पतन के प्रमुख कारणों में से था। उन्होंने बौद्धों के मठों में आग लगवा दी, जिससे मठों में एकत्रित भिक्षु वहीं जल गये और बचे हुए लोगों में से कुछ लोगों ने छिप-छिप कर जंगली मार्गों से चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में जाकर अपने धार्मिक ग्रंथों का संरक्षण एवं अनुवाद किया तथा बचे खुचों में से कुछ लोग मुसलमान हो गये और कुछ लोग शुद्ध हिन्दू बन गये।

इन सब कारणों से बौद्धधर्म का भारतवर्ष में ह्रास होता गया और अन्ततोगत्वा भारत से उसका प्रायः लोप सा हो गया।

"संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैन तथा बौद्धों की देन"

जैनों की देन—

यद्यपि जैन विद्वानों ने प्राकृत-भाषा में ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं तथापि इनके कुछ पुराण संस्कृत में भी मिलते हैं। जैनधर्म के पुराणों में जैनधर्म के ६३ महापुरुषों के जीवन-चरित का वर्णन मिलता है। सातवीं शताब्दी में *रविषेण* ने *पद्मपुराण* की रचना की। इसके अलावा इनके और भी पुराण संस्कृत में मिलते हैं। जैन-साहित्य के कुछ ग्रन्थों में जैन-महाराष्ट्री एवं संस्कृत-भाषा का प्रयोग देखने से पता चलता है कि इनका भी संस्कृत-साहित्य के विकास में योग रहा।

बौद्धों की देन—

यद्यपि बौद्धधर्म भारतवर्ष में स्थिर न रह सका तोभी भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी अमिट छाप है। लगभग एक हजार वर्ष तक भारत में बौद्धधर्म का प्रचार रहा। इस दीर्घकाल में उसने अपनी जड़ इतनी गहरी जमाई कि भारतीय-सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

भारतीय संस्कृति के अन्य क्षेत्रों की तरह संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी बौद्धों की देन चिरस्मणीय है। सर्वप्रथम भारतीय-दर्शन पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा। बौद्ध-युग के बाद भी भारतीय-दर्शन का विकास जारी रहा। *न्यायशास्त्र* के विकास में *गौतम*, *वात्स्यायन*, *वाचस्पति*, *उदयनाचार्य* तथा *गंगेश* ने जो कार्य किया *नागार्जुन*, *वसुबन्धु*, *दिङ्नाग*, *धर्मकीर्ति* आदि बौद्ध-विद्वानों का कार्य उसकी अपेक्षा किसी प्रकार न्यून नहीं कहा जा सकता। *न्यायशास्त्र* पर बौद्ध विद्वानों की पूर्ण छाप है।

इसी प्रकार *शङ्कर* का वेदान्त भी बौद्धों से प्रभावित है। शंकर का ब्रह्म माया से अविच्छिन्न होकर सृष्टि के रूप में आभासित होता है। अतः यह मायावाद नागार्जुन के शून्यवाद से मिलता जुलता है। *श्रीहर्ष* का "*खण्डनखण्डखाद्य*" नामक ग्रन्थ भी माध्यमिक-दर्शन से बहुत कुछ प्रभावित है। इसी प्रकार *सांख्य-दर्शन* में कपिल को गुरु के रूप में जो महत्त्व प्रदान किया गया है वह बौद्धदर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है।

पुराणों में भी मूर्त्तिपूजा एवं महापुरुषों के अवतार-वाद की कल्पना बौद्धों की ही देन है। इसके अतिरिक्त व्याकरण के क्षेत्र में "*चन्द्रगोमी*" का व्याकरण कम महत्त्व का नहीं। *काशिका* के टीकाकार *जिनेन्द्रबुद्धि* बौद्ध ही थे। *अमरकोश* के कर्त्ता *अमरसिंह* भी बौद्ध थे। आयुर्वेद की रसायन-शाखा में *नागार्जुन* ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। *अश्वघोष* ने भी "*बुद्धचरित्*" "*सौन्दरानन्द*" जैसे महाकाव्य तथा '*राष्ट्रपाल*" एवं "*सारिपुत्र*" आदि नाटक लिखकर संस्कृत की काव्य-धारा को प्रभावित किया। *महाराजा-हर्ष* के *नागानन्द* में बोधिसत्व के आदर्श का चित्रण विद्यमान है।

भगवान् बुद्ध ने स्वयं पाली भाषा का समाश्रय लेकर लोक-भाषा में अपने धर्म का प्रचार किया, जिससे आगे आनेवाली अपभ्रंश-भाषाओं को विकसित होने में बड़ी सहायता मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी बौद्धों की देन महत्त्व-पूर्ण है।

बुद्धकालीन राजनैतिक अवस्था

प्रस्तावना—

जनपदों के युग में देश के विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग राज्यों की स्थापना हो गई थी। बुद्ध के समय देश के राजनैतिक-जीवन का केन्द्र उत्तर-पूर्व भारत हो रहा था। उत्तर-भारत के राज्यों में इस समय

चौदह राज्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें से *शाक्य, कोलिय, मौर्य, मल्ल, विदेह* आदि दश तो गणराज्य थे और चार—(१)-*मगध*, (२)-*कोशल*, (३)-*वत्स* तथा (४)-*अवन्ति* ये प्रसिद्ध और शक्ति-सम्पन्न राजतन्त्र थे, जिनमें अन्ततोगत्वा *मगध* सर्व-सत्तावान् बना। इन चारों का पारस्परिक संघर्ष ही इसकाल का इतिहास है।

गणतंत्र की शासन-पद्धति—

बौद्ध-साहित्य से हमें शाक्यों के शासन के विषय में कई बातें ज्ञात होती हैं, जो थोड़े हेर-फेर के साथ उस समय के प्रत्येक गणतन्त्र में रही होंगी। बुद्ध ने अपने संघ की रचना भी गणतन्त्र के सिद्धान्तों पर ही की थी। अतएव संघ के नियम गणतन्त्र को समझने में सहायक होते हैं।

विधान—

गणों का विधान लोकतंत्रात्मक था। ये गण पञ्चायती राज्य थे। इनमें जनता द्वारा चुने हुए लोग राज्य का शासन करते थे। सदस्यों से बनी हुई संस्था *परिषद्* कहलाती थी। इसके भवन को *संस्थागार* कहते थे। परिषद् के अध्यक्ष को *गणमुख्य* या *राजा* कहा जाता था, जिसका एक निश्चितकाल के लिये चुनाव होता था। गण के दूसरे मुख्य अधिकारी–*उपसभापति, सेनापति* और *भाण्डागारिक* (कोषाध्यक्ष) थे। इनके अतिरिक्त शासन में परामर्श देने के लिये *अष्टकुलक* नामक एक संस्था थी, जिसमें गण के आठ प्रमुख कुलों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। कई गणो के मिलने से *संघ* (गणराज्य संघ) बनता था। संघ के सभी सदस्यों के स्थान और अधिकार बराबर होते थे।

शासन—

गणराज्यों का शासन "*गणमुख्य*" परिषद् के निश्चय के अनुसार अपने नीचे के अधिकारियों की सहायता से करता था। *सेना, अर्थ* एवं

न्याय शासन के मुख्य विभाग थे। गणों की सैनिक शक्ति प्रबल थी और प्रायः प्रत्येक युवक सैनिक का काम जानता था। सेना विभाग का प्रमुख अधिकारी *सेनापति* कहलाता था। अर्थ-विभाग का मुख्य अधिकारी *भाण्डागारिक* कहलाता था। *कृषि* और *व्यापार* दोनों पर पूर्ण ध्यान दिया जाता था। न्याय की व्यवस्था *समता* और *स्वतन्त्रता* के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी। कोई एक अधिकारी किसीको दोषी ठहरा कर दण्ड नहीं दे सकता था जबतक कि सेनापति, उपाध्यक्ष तथा अध्यक्ष (गणमुख्य या राजा) सभी एकमत न हों। न्याय करने के लिये कई प्रकार के न्यायालय थे। सबसे ऊपर अपील का न्यायालय *अष्टकुलकों* का था। क्रमशः नीचे के न्यायालयों के निर्णय के विरोध मे ऊपर के न्यायालयों में अपील हो सकती थी।

गणपरिषद् की कार्यवाही—

संस्थागार (परिषद्-भवन) में सदस्यों के बैठने के स्थान को *आसन* कहा जाता था। जिसके अधिकार में आसन की व्यवस्था थी वह *आसनप्रज्ञापक* कहलाता था। परिषद् की कार्यवाही प्रारम्भ होने के लिये कम से कम सदस्यों की संख्या निश्चित थी, जिसे गणपूर्ति (कोरम) कहते थे। सदस्यों को इकट्ठा करने वाले व्यक्ति का नाम *गणपूरक* था। परिषद् में प्रस्ताव को प्रतिज्ञा कहते थे और उसको नियम पूर्वक प्रस्तुत करने को *स्थापन* एवं पढ़ने को *ज्ञप्ति* कहते थे। प्रतिज्ञा की ऊँचे स्वर में घोषणा को *अनुश्रावण* कहा जाता था। प्रस्ताव पर वाद-विवाद हो चुकने पर मत लिया जाता था, जिसको छन्द कहा जाता था। मत प्रगट करने के लिये सदस्यों को *शलाका* (लकड़ी की छोटी तख्ती) दी जाती थी। शलाकाओं को इकठ्ठे करने वाले अधिकारी को *शलाका-ग्राहक* कहते थे। मत गुप्त रखे जाते थे। परिषद् में निश्चय *सर्वसम्मति* या *बहुमत* से होता था। प्रतिज्ञा स्वीकृत होने पर *कर्म* (एक्ट) कहलाती थी। न्यायालय की तरह परिषद् का भी कार्यालय

होता था। इसमें विश्वासपात्र लेखक परिषद् की कार्यवाही लिखते थे। गणतन्त्र की कार्यवाही लोकतन्त्रात्मक थी। इसमें निश्चय करने का आधार पशुबल न होकर वाद-विवाद, तर्क एवं समझाना-बुझाना था। यह *कार्यवाही* कई दृष्टियों से आधुनिक *व्यवस्थापिका-सभा* की कार्यवाही से मिलती जुलती है।

बुद्धकालीन सामाजिक स्थिति

(१)-समाज की रचना—

बुद्धकालीन भारतीय समाज पहले की तरह वर्ण और जाति के ऊपर ही अवलम्बित था। बौद्धों एवं जैनों ने केवल वर्ण एवं जाति की बुराइयों की आलोचना की, किन्तु उसको नष्ट करने का प्रयास न किया और न किसी प्रकार का नया समाज का रूप समाज के सामने प्रस्तुत किया। इस समय चार वर्णों के अलावा और भी व्यवसायिक जातियाँ समाज में थीं। वर्ण और जाति का परिवर्तन अभी सम्भव था। बहुत से लोग अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर दूसरा काम भी करते थे।

(२)-विवाह-पद्धति—

ब्राह्म, गान्धर्व तथा स्वयंवर तीन प्रकार के विवाह इस समय प्रचलित थे। बहु-विवाह और सौतों का भी वर्णन मिलता है, किन्तु समाज में थोड़े ही लोग कई विवाह करते थे। स्त्रियों का पुनर्विवाह पति के मरने पर सम्भव था।

(३)-स्त्रियों की अवस्था—

लड़कों की तरह लड़कियों के पालन-पोषण और शिक्षा का भी ध्यान रक्खा जाता था। *गृह-चातुर्य* एवं *संगीत* उनके मुख्य गुण समझे जाते

थे। यद्यपि लड़कियों का विवाह उनके अविभावक ही करते थे, फिर भी कुछ लड़कियाँ अपना वर स्वयं चुन लेती थीं। घर में स्त्रियों का आदर था और सच्चरित्र स्त्री का समाज में सम्मान होता था। यद्यपि आजकल जैसी पर्दा-प्रथा न थी, तोभी स्त्रियों को शील, लज्जा एवं पुरुषों से थोड़ा आवरण रखना पड़ता था। पहले स्त्रियों का भिक्षुणी होना ठीक नहीं समझा जाता था, किन्तु बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण बाद में धीरे धीरे बहुत सी स्त्रियाँ भिक्षुणी हो गईं। कुछ स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति भी करती थीं।

(४)–आर्थिक-जीवन—

बौद्ध-ग्रन्थ *जातक* एवं *त्रिपिटकों* से तत्कालीन आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। इस समय के आर्थिक-जीवन का मुख्य आधार *खेती* थी। देश के अधिकांश लोग *खेती* की सुविधा के लिये गाँवों में बसते थे। इसके अलावा *पशुपालन*, *उद्योग-धन्धे* एवं *व्यापार* आर्थिक जीवन के साधन थे। उद्योग-धन्धे एवं व्यापार इस समय काफी उन्नत हो चुके थे। इस काल में मुख्य १८ शिल्पों की गणना मिलती है। इन शिल्पियों की संगठित संस्था को *श्रेणी* कहते थे। प्रायः प्रत्येक श्रेणी के लोग अलग-अलग रहते थे।

उद्योग-धन्धों के साथ-साथ व्यापार का भी काफी विकास हो गया था। देश के एक भाग से दूसरे भाग में वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। विदेशों में भी व्यापार होता था। नावों के बेड़े भी नदियों में चला करते थे। विदेशी व्यापार समुद्र-तट के किनारे-किनारे चलने वाली नावों द्वारा होता था। थोड़े सामान का दाम सिक्कों द्वारा चुकाया जाता था, किन्तु अधिक सामान और दूर के व्यापार में हुण्डियों का प्रयोग होता था। परस्पर वस्तुओं से भी आदान-प्रदान होता था।

भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास

पौराणिक हिन्दू-धर्म के विकास के दो युग—

वर्तमान हिन्दूधर्म लोक-प्रचलित धारणा के अनुसार सनातन-काल से चला आने वाला समझा जाता है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वर्तमान हिन्दूधर्म में पूजे जाने वाले प्रधान देवताओं-(विष्णु, शिव, दुर्गा आदि) तथा इनकी भक्तिप्रधान उपासना का विकास शनैः-शनैः अनेक शतियों में जाकर हुआ। आधुनिक हिन्दूधर्म को यह रूप गुप्त-युग में प्राप्त हुआ। इसके उद्भव एवं *विकास* को दो मुख्य युगों में बाँटा जा सकता है—(१)-*उद्भवकाल* तथा (२)-*उत्कर्षकाल*।

(१)-उद्भवकाल—

६०० ई० पू० से ३०० ई० तक याने ६०० वर्षों का यह काल भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों के बीज-वपन, अंकुरित एवं पल्लवित होने का काल था, किन्तु इस सारे समय में *बौद्ध* एवं *जैन-धर्म* की प्रबलता के कारण इनका पूर्ण विकास न हो सका।

(२)-उत्कर्षकाल—

(३०० ई० से १२०० ई० तक)-ईसा की चौथी शती से भारत के धार्मिक इतिहास का पासा पलटने लगा। इस समय से हिन्दूधर्म का निरन्तर उत्कर्ष तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों का अपकर्ष होने लगता है।

उद्भवकाल का विवेचन—

ई० पू० छठी शती में वैदिक-कर्मकाण्ड के विरुद्ध एक जबरदस्त धार्मिक-क्रान्ति हुई थी, जिसके फलस्वरूप जैन तथा बौद्ध ये नास्तिक-धर्मान्दोलन पुराने धर्म की प्रतिक्रिया में उदित हुए।

यद्यपि यह प्रतिक्रिया उपनिषदों के काल से प्रारम्भ हो चुकी थी, किन्तु उपनिषदों ने कोई लोकप्रिय पद्धति प्रस्तुत नहीं की। अतः साधारण जनता की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये उक्त नये धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। इनके प्रधान विचार थे--(१)-यज्ञों का विरोध, (२)-पशुबलि का विरोध एवं अहिंसा की महत्ता, (३)-आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी गूढ़ विचारों की उपेक्षा एवं आध्यात्मिक की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता तथा (४)-निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार के स्थान पर भक्ति-पूर्वक सगुण-ईश्वर की उपासना।

भागवत-धर्म—

नास्तिक आन्दोलनों ने प्रथम तीन पहलुओं पर बल दिया, किन्तु आस्तिक आन्दोलनों ने उपरोक्त चौथी विचार-धारा पर भी पूरा बल दिया। नास्तिक आन्दोलनों में बौद्ध एवं जैन प्रधान थे और आस्तिक आन्दोलनों में *भागवत* एवं *शैव* प्रधान थे। इनके अतिरिक्त शक्ति, *गणपति*, *कार्त्तिकेय*, *ब्रह्मा* एवं *सूर्य* की पूजा भी हिन्दूधर्म में सातवाहन युग से प्रचलित थी।

भक्ति-प्रधान पौराणिक-धर्म की विशेषता—

भागवत-सम्प्रदाय के जन्मदाता देवकी पुत्र *श्रीकृष्ण* थे। *शैव-धर्म* में इस समय उपनिषदों के अव्यक्त ब्रह्म के सिद्धान्त के साथ वैयक्तिक ईश्वर (शिव) की भक्तिप्रधान पूजा का श्रीगणेश हुआ। इसी समय दर्शनों को सूत्रबद्ध किया गया तथा पुराने *यज्ञ-प्रधान* हिन्दू-धर्म को नया *भक्ति-प्रधान* पौराणिक रूप दिया गया। *बौद्धधर्म* ने जनता के विचारों में जो परिवर्तन किया था उसे मिटाया नहीं जा सकता था। अतः इस युग में *यज्ञ-प्रधान वैदिक-धर्म* को स्थिर नहीं रखा जा सकता था। बौद्धधर्म यदि जनता के लिये था तो हिन्दू-धर्म का नया रूप उससे बढ़कर जनता की वस्तु बना।

धर्मों का सम्मिश्रण—

इस समय आर्यों ने अनार्यों के देवताओं को नया रूप देकर अपने धर्म में ग्रहण कर लिया। यह एक समन्वय का युग था, जिसने जहाँ कहीं पूज्यभाव या दिव्यभाव जिस रूप में प्राप्त किया उसने उसमें किसी न किसी देवता का संकेत रखकर इस नये धर्म में सम्मिलित कर लिया।

लोकप्रिय धर्मग्रन्थों का निर्माण—

इस युग में *रामायण* तथा *महाभारत* के नवीन संस्करण तैयार किये गये। महाभारत में नये-नये आख्यानों द्वारा नये धर्म की शिक्षाओं का प्रतिपादन किया गया और रामायण में भी प्रक्षिप्त अंशों द्वारा मूल-रामायण के आदर्श-पुरुष-राम को देवता का रूप देकर विष्णु का अवतार माना गया। इन दोनों महाकाव्यों ने नवीन ईश्वर-वादी भक्तिप्रधान शैव तथा वैष्णव धर्मों को लोकप्रिय बनाने में मुख्य भाग लिया। वर्तमान हिन्दूधर्म की आधार-शिला रामायण, महाभारत तथा पुराण ही हैं। इनमें रामायण तथा महाभारत को वर्तमान रूप इसी युग में मिला, किन्तु पुराणों को वर्तमान रूप गुप्त युग में प्राप्त हुआ।

हिन्दूधर्म का उत्कर्ष युग—

(पौराणिक-युग–३०० से १२०० ई० तक) ई० की चौथी शती से जैन तथा बौद्ध धर्मों का पतन एवं हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। इस युग में अधिकांश पुराणों की रचनायें हुईं। रामायण तथा महाभारत की भाँति पुराणों ने भी हिन्दूधर्म को लोकप्रिय बनाया तथा उसे नयारूप प्रदान किया। इसीलिये इसे धार्मिक दृष्टि से पौराणिक-युग भी कहते हैं।

इस युग की विशेषता—

इस युग में पुराणों का विकास, समन्वयात्मक हिन्दूधर्म का जन्म, बौद्धधर्म का पतन, जैनधर्म का ह्रास, *शैव-वैष्णव-शाक्त* एवं अन्य अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदायों का जन्म हुआ। पुराणों ने हिन्दूधर्म का प्रचार किया। वेद एवं उपनिषद् के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ही थे, किन्तु रामायण, महाभारत और पुराणों को सुनने का अधिकार स्त्रियों तथा शूद्रों को भी था। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि पुराण हिन्दूधर्म के प्राण हैं। *पुराणों* ने ब्राह्मा, विष्णु तथा महेश इन तीन ही देवताओं को प्रधान माना और इन्हें एक ही परमात्मा की—*उत्पादक, पालक* और *संहारक* शक्तियों का स्वरूप मानकर समन्वयात्मक हिन्दूधर्म का प्रचार किया।

आगम—

पुराणों की तरह *शैव-आगमों* में ईश्वर-बाद का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। आगम २८ हैं किन्तु प्रत्येक के साथ अनेक उपागम जुड़े हुए हैं जिनकी संख्या १९८ है। ये ईसा की ७ वीं श० से पूर्व बन चुके थे। १३ वीं १४ वीं शतियों में तामिल-शैवधर्म में नवीन साहित्य का विकास हुआ, इसे *शैव-सिद्धान्त* कहते हैं। अब आगमों का स्थान १४ *सिद्धान्त-शास्त्रों* ने ले लिया था। आगमों ने भी पुराणों की भाँति हिन्दू-धर्म को *लोक-प्रिय* बनाने तथा *नया-रूप* देने में पूर्ण सहयोग दिया।

उपसंहार—

इस प्रकार हम देखते हैं कि *पुराणों* एवं *आगमों* ने प्राचीन-हिन्दूधर्म को लोकप्रिय बनाया, उसे नया रूप प्रदान करके समुन्नत किया, समन्वयात्मक हिन्दूधर्म का प्रचार किया। ये ही हिन्दूधर्म के प्राण हैं। इन्होंने सबके लिये हिन्दूधर्म का मार्ग खोला।

कला के क्षेत्र में भी शैव तथा वैष्णवों ने पूर्ण सहयोग दिया। देवताओं की मूर्त्तियाँ एवं मन्दिर, *इलोरा* का कैलाश-मन्दिर, *तञ्जोर* का शैव-मन्दिर आदि पौराणिक काल की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पौराणिक युग में ही हिन्दूधर्म को वर्तमान रूप प्राप्त हुआ। पौराणिक-धर्म ही भक्ति-प्रधान धर्म कहलाता है क्योंकि इसी धर्म ने हिन्दूधर्म में भक्तिपूर्वक सगुण-ईश्वर की उपासना को प्रचलित किया। हिन्दू-धर्म में भक्ति की भावना इसी की देन है।

"गणित एवं ज्योतिष"

उपक्रम—

प्राचीन भारत में गणित, ज्योतिष, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणिशास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, आयुर्वेद आदि का पर्याप्त विकास हो चुका था। ऋग्वेद के अध्ययन से अवगत होता है कि इन शास्त्रों के मूलतत्त्वों का ज्ञान वैदिक काल में भी था। आगे भी उत्तरोत्तर इन शास्त्रों का विकास होता गया, जिससे भारतीय-संस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। यहाँ प्रसंगवश गणित एवं ज्योतिष का ही उल्लेख संक्षेप में किया जा रहा है।

गणित—(अङ्कगणित)—

अङ्कगणित का प्रारम्भ वैदिक-काल से ही हुआ है। उस समय छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद में इन संख्याओं का उल्लेख है। जैसे—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत आदि। इसमें दो और चार के पहाड़ों का उल्लेख भी है। इससे स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणन, भाजन आदि *अङ्कगणित* के मौलिक-तत्त्व वैदिक-काल में पूर्णतया ज्ञात थे। *शतपथ* में भी अक्षरों की

गणना का उल्लेख मिलता है। वैदिक-काल के बाद भी *अंकगणित* का विकास होता रहा। गणित की *"सशून्य दशांश गणना विधि"* का (अर्थात् एक से नौ तक के लिये अलग-अलग चिह्न और दश लिखने के लिये एक के आगे शून्य बढ़ा देना) आविष्कार भारतीय गणितज्ञों ने ही किया, जिसके लिये समस्त विश्व सदैव उनका ऋणी रहेगा। *आर्यभट्ट*-(४७६ ई० स०), *वाराहमिहिर*-(ई० छठी श०), *श्रीधर*-(१००० ई० स०), *पद्मनाथ*-(ई० स० ११९४) आदि भारतीय विद्वानों को क्रमशः इस (अंकगणित) पद्धति का ज्ञान था। पंजाब के एक गाँव में ई० की तीसरी या चौथी श० का अङ्कगणित सम्बन्धी एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसमें उक्त विधि का उपयोग किया गया है। अरबों ने इस विधि को भारतीयों से सीखकर ई० की १२ वीं शती में इसका प्रचार विश्व में किया।

रेखागणित—

इसका प्रारम्भ भी वैदिक-काल से हुआ है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञों से है। यज्ञों की वेदियाँ, उनकी ईंटें आदि निश्चित आकार की रहती थीं। इस प्रकार रेखागणित का विकास यज्ञों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। इसके बाद *शुल्वसूत्र* भारतीय रेखागणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रंथ हैं। इनमें यज्ञ की वेदी के आकार, नाप आदिका विस्तृत वर्णन है। इनमें कोण, त्रिकोण आदि नापने की विधि बतलाई गई है। शुल्वसूत्रों के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक इस विषय का कोई साहित्य प्राप्त नहीं होता। इसके बाद *आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त* आदि ने इस विद्या को पुनरुज्जीवित किया। धीरे-धीरे रेखागणित का सम्बन्ध धर्म से छूटकर ज्योतिष-शास्त्र से जोड़ा गया। ज्योतिष के लिये त्रिज्यामिति-(बीजगणित) का ज्ञान भी आवश्यक होने से भारतीय गणितज्ञों ने इसका भी पूर्ण विकास किया।

बीजगणित—

बीजगणित का अङ्कगणित और रेखागणित से घनिष्ट सम्बन्ध है। यों तो इसका प्रारम्भ भी बहुत पहले से हुआ था, किन्तु ई० स० ४००–१४०० वर्षों के बीच इसका विशेष विकास हुआ। *आर्यभट्ट* ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में *वर्गमूल* व *घनमूल* निकालने की विधि आदि का वर्णन किया है। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि *ज्या* के कार्यों को सर्वप्रथम अरब गणितज्ञों ने ढूँढ़ा, किन्तु वस्तुतः यह कार्य सर्वप्रथम भारतीय गणितज्ञ *आर्यभट्ट* ने ई० की पाँचवीं शती में किया। *वाराह-मिहिर* तथा *ब्रह्मगुप्त* भी बीजगणित के प्रकाण्ड विद्वान थे।

यहाँ यह कह देना भी असंगत न होगा कि ज्योतिष-शास्त्र के निर्माता आर्यभट्ट आदि विद्वान् ही गणित के ग्रन्थों के निर्माता हैं। इनके ग्रन्थों में दोनों विषय उपलब्ध होते हैं, क्योंकि गणित का ज्योतिष से निकटतम सम्बन्ध है। अतः इनका परिचय आगे ज्योतिष के आचार्यों के परिचय के अवसर पर दिया जायगा।

ज्योतिष—

ज्योतिष-शास्त्र का प्रारम्भ भी वैदिककाल से ही होता है। यज्ञों के समय आदि के ज्ञान के लिये ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास हुआ। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मङ्गल, शनि आदि ग्रहों का ज्ञान था। उस समय चन्द्र की कलाओं का भी लोगों को ज्ञान था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चन्द्र और सूर्य का सहवास ही अमावस्या है। इस समय सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण पर भी विचार किया गया था।

वैदिक-काल में ज्योतिष का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि इसका भी वेदांगों में समावेश किया जाने लगा। *लगध* का "*वेदाङ्ग-ज्योतिष*" एक छोटा सा ग्रंथ है। इसमें सूर्य व चन्द्र की गति को समझाने का प्रयत्न किया गया है। वर्ष को *बारह* सौर मासों में और मास को ३० दिनों में

विभाजित किया गया है। यद्यपि *वेदांगज्योतिष* और *पञ्च-सिद्धान्तों* के वीच के समय के कोई ग्रन्थ नहीं मिलते, तथापि इस समय के बहुत से ज्योतिषाचार्यों एवं उनके ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। अतएव इस काल में भी ज्योतिष-शास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ होगा।

सूर्य, वसिष्ठ, पैतामह, पौलस, रोमक आदि पञ्च-सिद्धान्तों में इस शास्त्र की प्रगति का अच्छा पता लगता है। इनका समय *लगध* के बाद तथा आर्यभट्ट के पूर्व (ई० स० ४७६) माना जाता है।

शास्त्रीय ढंग पर ज्योतिष के विकास का प्रारम्भ ई० की पाँचवीं शती के अन्तिम भाग में आर्यभट्ट के समय से होता है। इस समय सूर्य की गति आदि का ठीक-ठीक पता लगाया गया था। *ग्रहण* के सम्बन्ध में तथा *राशियों* के विषय में इस समय के आचार्यों का ज्ञान पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। कुछ विद्वानों का मत है कि यूनानी-ज्योतिष के प्रभाव के कारण ही भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की प्रगति हुई, किन्तु उनका यह कथन भ्रम मात्र है। यहाँ प्रसंगवश कुछ प्रमुख प्राचीन गणित एव ज्योतिष के आचार्यों तथा उनके कार्यों का दिग्दर्शन कराना भी आवश्यक है।

"प्राचीन ज्योतिषाचार्य एवं उनके कार्य"

आर्यभट्ट—

इनका जन्म पाटलिपुत्र में ई० स० ४७६ में हुआ था। इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—(१)-*आर्याष्टशतक* एव (२)-*दशगीतकी*।

वाराहमिहिर—

इनका जन्म ई० स० ५०५ में हुआ था। इनके ग्रन्थ—(१)—*बृहत्संहिता*-(इसमें फलित ज्योतिष का वर्णन है), (२)—*पञ्चसिद्धान्तिका*-(इसमें पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर एवं पैतामह इन पाँच सिद्धान्तों

का संग्रह है) तथा (३)—*बृहज्जातक*-(इसमें जन्म और जीवन पर नक्षत्रों के प्रभाव की गणना दी गई है। याने इसमें भौतिक-शास्त्र का वर्णन है)। वाराहमिहिर का सूर्य-सिद्धान्त भारतीय-ज्योतिषशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

ब्रह्मगुप्त—

यह सातवीं शताब्दी में गणित एवं ज्योतिष के महान् विद्वान् हुए। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की खोजों की आलोचना की और उनको यथा-संभव शुद्ध करने का सफल प्रयास किया। इनके ग्रन्थ दो हैं—(१)—*ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त* तथा (२)—*खण्डखाधक*।

भास्कराचार्य—

इनका जन्म खानदेश के एक गाँव में १११४ ई० स० में हुआ था। ये ज्योतिष तथा गणित के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं। इनका ग्रन्थ है—*सिद्धान्तशिरोमणि*। यह गणित का ग्रन्थ है, इसका पहला-भाग—लीलावती-*अङ्कगणित* से सम्बन्धित है तथा दूसरा-भाग—*बीजगणित* से और तीसरा-भाग—*ज्योतिष-शास्त्र* से सम्बद्ध है। इसके अलावा *भास्कर-व्यवहार* तथा *विवाह-पटल* भी इनके ग्रन्थ हैं।

उपसंहार—

आठवीं शताब्दी के मध्य-भाग में भारतवर्ष से कुछ विद्वान् गणित तथा ज्योतिष की पुस्तकें लेकर *बगदाद* पहुँचे। इसके पहले ही अरबी-भाषा में *आर्यभटीय* आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका था। उस समय भारतीय-गणित के सहारे अरबी-गणित का विकास हो रहा था। बगदाद से ही भारतीय गणित *योरोप* तथा *एशिया* के अन्य देशों में पहुँचा। इससे स्पष्ट होता है कि गणित एवं ज्योतिष का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ।

"मौर्य-कालीन समाज एवं संस्कृति"

उपक्रम—

मौर्य-कालीन समाज एवं संस्कृति का चित्र—*अर्थशास्त्र*, *अशोक* के अभिलेखों, *अशोक* के स्मारकों एवं यूनानी राजदूत *मेगस्थनीज* के विवरण से खींचा जा सकता है। जो इस प्रकार है—

(१)–वर्णाश्रम-व्यवस्था—

अर्थशास्त्र के अनुसार प्राचीन काल की भाँति मौर्य-कालीन समाज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चार आश्रमों पर आधारित था। भारत की सामाजिक व्यवस्था को ठीक-ठीक न समझने के कारण मेगस्थनीज ने भारत में सात जातियों का वर्णन किया है—(१)-दार्शनिक, (२)-किसान, (३)-ग्वाले, (४)-कारीगर, (५)-सैनिक, (६)-निरीक्षक और (७)-आमात्य (सरकारी अधिकारी)। उसने वास्तव में यूनानी समाज को ध्यान में रखकर वर्णों, कुछ व्यवसायियों एवं सरकारी वर्गों को एक में मिला दिया था।

(२)–विवाह—

इस काल की विवाह-संस्था शास्त्रीय नियमों और प्रथाओं से मर्यादित थी। इस समय आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे—(१)-*ब्राह्म*-(कन्या को अलंकृत एवं सुसज्जित कर पिता द्वारा वर को सौंपना), (२)-*प्राजापत्य*-(सन्तान के लिये किया जाने वाला विवाह, जिसके अनुसार-धर्म, अर्थ और काम में कन्या और वर का अधिकार समान होता था), (३)-*आर्ष*-(इसमें वर पक्ष से गौओं का एक जोड़ा लेकर कन्या का पिता पुनः वर को दे देता था), (४)-*दैव*-(देव-कार्य में रत योग्य ऋत्विज को कन्या देना), (५)-*आसुर*-(द्रव्य लेकर लड़की ब्याहना),

(६)–*गान्धर्व*-(कामवश बिना माता-पिता की आज्ञा से कन्या और वर का संयुक्त होना), (७)–*राक्षस*-(कन्या को उसके परिवार वालों से बलात् छीन लेना) तथा (८)–*पैशाच*-(छल या बल से सोई या मूर्छित या उन्मत्त कन्या का उपभोग करना)। इनमें *प्रथम-चार* प्रशस्त एवं *पिछले-चार* अप्रशस्त माने जाते थे, किन्तु पिछले चार प्रकार भी वैधानिक माने जाते थे। विवाह प्रायः अपने वर्ण और जाति में ही होते थे, किन्तु असवर्ण एवं अन्तर्जातीय विवाह भी सम्भव थे। कुछ जातियों में सगोत्र विवाह भी होते थे। दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष और स्त्री दोनों को पुनर्विवाह का अधिकार था। बड़े-बड़े घरानों में *नियोग*–(देवर या दूसरे पुरुष के साथ सहवास) भी होता था। किन्हीं परिस्थितियों मे विवाह सम्बन्ध का विच्छेद–(तलाक) भी सम्भव था।

(३)–समाज में स्त्रियों का स्थान—

इसका उल्लेख आगे मौर्य तथा गुप्तकालीन स्त्रियों की स्थिति के वर्णन के अवसर पर किया जायगा।

(४)–भोजन और पेय—

इस समय के लोग खाने पीने के बड़े शौकीन थे। धनी और राज-परिवारों में कई प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनते थे। भोज्य-पदार्थों में—अन्न, फल दूध और मांस शामिल थे। अधिकांश लोग मांस खाते थे। पानी और दूध के अलावा शराब भी पेय थी।

(५)–आमोद-प्रमोद—

इस युग में मन-बहलाव के कई साधन थे। अर्थशास्त्र के अनुसार समाज में नट-नर्तक-गायक-वादक-मदारी आदि कुछ वर्ग ऐसे थे जिनका व्यवसाय मनोरञ्जन करना ही था। इनके अलावा रथदौड़, घुड़दौड़,

आखेट, अभिनय, उत्सव, विहार-यात्रा, मेले, जुआ आदि भी अनेक मनोरञ्जन के साधन थे।

(६)–दासप्रथा—

अर्थशास्त्र एवं शिलालेखों से मौर्यकाल की दासप्रथा का पता चलता है। दास केवल म्लेच्छ या अनार्य होते थे न कि आर्य।

(७)–साधारण-जीवन—

मौर्यकाल में भारतवासियों का जीवन अति सरल एवं सुव्यवस्थित था। वे मितव्ययी थे साथही स्वस्थ एवं नैतिकतापूर्ण होते थे। न्यायालयों में लोग प्रायः कम जाते थे। नियम बड़े सरल थे। एक दूसरे का विश्वास करते थे। लोगों में अन्ध-विश्वास था एवं वे जादू-टोनों में विश्वास करते थे।

(८)–कृषक—

इस युग में कृषकों की दशा अति उत्तम थी। उन्हें राज्य की सैनिक या और कोई भी सेवा नहीं करनी पड़ती थी। अतः वे अपना धन एवं समय कृषि में लगाते थे। सुख की सभी वस्तुएँ इन्हें प्राप्त थीं। ये अपनी उपज का कुछ भाग राज्य को भी देते थे। राज्य कृषि की रक्षा करता था। कृषकों का जीवन आनन्दपूर्ण था।

(९)–धार्मिक-जीवन—

इस समय का धार्मिक-जीवन तीन मुख्य सम्प्रदायों में बँटा हुआ था—(१)–वैदिक, (२)–जैन और (३)–बौद्ध। धार्मिक सुधारणा के बाद भी वैदिक-धर्मानुयायी अधिक थे। वैदिक-धर्म के साथ पौराणिक-शैव और वैष्णव-धर्मों का भी प्रचार था।

(१०)–भाषा और लिपि—

मौर्यकाल में *संस्कृत, प्राकृत* एवं *पालि* तीन भाषायें तथा *ब्राह्मी* एवं *खरोष्ठी* दो प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं। उक्त तीनों भाषाओं में क्रमशः वैदिक, जैन एवं बौद्धों के ग्रन्थ लिख गए हैं।

उपसंहार—

इस प्रकार हम निःसङ्कोच कह सकते हैं कि मौर्यकाल में भारतीयों का जीवन उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था और उनका सामाजिक-जीवन पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था।

"मौर्य-कालीन कला का स्वरूप एवं उदाहरण"

उपक्रम—

भारतीय इतिहास में मौर्यकाल का जितना महत्त्व धर्म एवं शासन के क्षेत्र में है, उतना ही कला के क्षेत्र में भी। *प्रो० घोष* का मत है कि– "जौहरियों की कला इस समय अत्यन्त उन्नत हो चुकी थी, किन्तु मौर्यकाल विशेष रूप से अपनी प्रस्तर-कला के कारण विख्यात है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती।" अशोक के समूचे पत्थर कटवाकर गढ़वाए हुए स्तम्भों के शीर्ष मौर्यकाल के सुन्दर अवशेष हैं।

भारतीय कलाओं का विस्तृत इतिहास हमें सम्राट अशोक के समय से उपलब्ध होता है। बौद्धधर्म के प्रचारार्थ इन्होंने अनेक स्मारक बनवाए। वर्तमान समय में उपलब्ध *मौर्य-स्मारकों* को ६ भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१)–स्तूप; (२)–स्तम्भ, (३)–गुहाएँ, (४)–राजप्रासाद, (५)–मन्दिर तथा (६)–मूर्त्तियाँ।

(१)-स्तूप--

महात्मा-बुद्ध के सम्पर्क में आने वाले पवित्र स्थानों पर तथा उनकी पवित्र भस्म पर स्तूपों का निर्माण किया गया। स्तूप उलटे कटोरे के आकार के पत्थरों तथा ईटों के ठोस गुम्बज होते थे। वैदिक-काल से शव को विना जलाकर अथवा जलाकर आवृत्त करके जो तूदा बनाने की पद्धति चली आ रही थी, उसी का यह कुछ विकसित रूप था। प्राचीन स्तूपों से मौर्यकालीन स्तूपों में यह विशेषता थी कि इनकी सुरक्षा के लिये चौखुंटी बाढ़ लगा दी जाती थी। उसके ऊपर आदरार्थ एक क्षत्र स्थापित कर दिया जाता था। उसके चारों ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दिया जाता था। इस घेरे में चारों ओर तोरण या द्वारों का निर्माण किया जाता था। अशोक ने ऐसे ८४००० स्तूपों का निर्माण करवाया था। वर्तमान समय में इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण साँची का स्तूप है। सारनाथ में अशोक द्वारा निर्मित धर्मराजिक-स्तूप का निम्न-भाग अब भी विद्यमान है।

(१)-स्तम्भ--

मौर्यकाल की कलापूर्ण कृतियों में अशोक के स्तम्भों का प्रधान स्थान है। अपने धर्म-लेखों का प्रचार करने के लिये अशोक ने इन स्तम्भों का निर्माण करवाया था। ये सभी चुनार के लाल पत्थर से बने थे। स्तम्भों की ऊँचाई लगभग ४० फीट और वजन ५० टन तक है। स्तम्भ आधार की ओर मोटे तथा शीर्ष की ओर पतले होते चले जाते हैं। इन स्तम्भों पर एक ऐसी चिकनी पालिश है कि उन पर दृष्टि ठहरती ही नहीं, दो हजार से अधिक वर्षों के बाद भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह पालिस अभी की गई है। दिल्ली वाले स्तम्भ की पालिश तो इतनी चमकदार है कि लोग उसे धातु का समझने लगते हैं। यह पालिश भारतीय प्रस्तर-कला का ऐसा उच्चतम उदाहरण है जो संसार में अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं।

(२)-गुहायें—

मौर्य-काल में सम्राट अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ ने भिक्षुओं के निवासार्थ अनेक गुहाभवनों का निर्माण करवाया था। ये गुहायें गया से १६ मील उत्तर वरवरा नामक स्थान पर स्थित हैं।

(३)-मन्दिर—(चैत्य)—

अशोक ने बोधिगया नामक स्थान पर एक मन्दिर बनवाया था, किन्तु समय की गति से इसका नाश हो गया और आज इसके स्थान पर एक सुन्दर मन्दिर खड़ा है। अशोक के बाद उसके पौत्र दशरथ ने अपने समस्त जीवन में साधुओं के लिए बरबरा की पहाड़ियों में गुहामन्दिर निर्मित करवाये। इन गुहा-मन्दिरों को ही चैत्य कहा जाता था।

(४)-राजप्रासाद—

पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित एक विशाल एवं भव्य *राजप्रासाद* था। इसका सभा-भवन स्तम्भों पर आधारित था। *मेगस्थनीज* के मतानुसार ईरान की राजधानी सूसा के राजप्रासाद से मौर्य-राजप्रासाद कहीं अधिक सुसज्जित एवं आकर्षक था। सम्राट अशोक ने भी पाटलिपुत्र में अनेक भव्य राजप्रासाद बनवाये थे। "फहियान"—(५ वीं श० ई०) ने इनकी सुन्दरता से मुग्ध होकर कहा था—"ये पुरुषों के बनवाये हुए नहीं हो सकते, इनकी रचना देवताओं ने की है।" सम्भवतः ये राजप्रासाद लकड़ी के थे। अतः खुदाई के समय इनके भग्नावशेषों के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं हुआ।

(५)-मूर्त्तियाँ—

मौर्यकाल के स्तम्भशीर्षों पर मूर्त्तिकला अपने उच्चत्तम रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन शीर्षों पर—हाथी, शेर, बैल या अश्व की

मूर्त्तियाँ चित्रित हैं। स्तम्भों के गले पर—चक्र, पशु, पक्षी, लताओं, पुष्पों आदि के अत्यन्त आकर्षक चित्र हैं। मूर्त्तिकला की दृष्टि से ये *स्तम्भ-चित्र* उत्कृष्ट कोटि के माने जाते हैं। इस युग की मूर्त्तियों में मथुरा के निकट *पारखम* में उपलब्ध *यक्ष की मूर्त्ति*, रामापुर्वा की *वृषमूर्त्ति*, पटना एवं दीदारगंज में उपलब्ध मूर्त्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मूर्त्तियों की प्रशंसा कलाकारों ने मुक्तकण्ठ से की है।

उपसंहार—

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मौर्यकाल में भवन-निर्माणकला, चित्रकला एवं मूर्त्तिकला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर आसीन थी, जिनका अवलोकन करके विदेशियों के नेत्र आज भी चकाचौंध हो जाते हैं। इस काल की कला में भावप्रकाशन का जो बल है वह कला का सर्वोत्तम गुण है।

"मौर्यकाल एवं गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति"

उपक्रम—

पूर्व तथा उत्तर वैदिक-काल में जैसा कि आगे तत्तत्स्थलों पर कहा जा चुका है, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अति उच्च थी। ऐसी स्थिति तो स्त्रियों की फिर कभी नहीं रही उत्तरोत्तर उनकी स्थिति अवनत होती गई, फिर भी मौर्य-काल तक स्त्रियों की दशा अच्छी थी, किन्तु गुप्तकाल में उनकी सामाजिक स्थिति का पतन हो गया था। नीचे के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा कि दोनों कालों में उनकी स्थिति कैसी थी।

मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति—

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार मौर्यकाल मे स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। उनको परिवार की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार था।

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध में स्त्री को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। पति के दुर्व्यवहार करनेपर वह न्यायालयमें न्याय की माँग करने जा सकती थी। इस युग में उच्चकुलों में पर्दाप्रथा प्रचलित थी। सन्यासिनियाँ एवं बौद्ध-भिक्षुणियों को स्वतन्त्र घूमने की छूट थी। स्त्रियों में अन्ध-विश्वास था और अर्ध-सभ्य जातियाँ स्त्रियों का विक्रय भी करती थीं। समाज में वेश्याएँ थीं, किन्तु राज्य की ओर से पूरा-पूरा नियन्त्रण था। *कन्या, स्त्री* एवं *माता* के रूप में स्त्रियों का स्थान सम्मानपूर्ण था। अनेक स्त्रियाँ दर्शन शास्त्र का अध्ययन भी करती थीं। स्त्रियाँ सम्राट की संरक्षिका एवं गुप्तचर भी होती थीं। विवाहिता स्त्रियों को अपने पति के साथ धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने का अधिकार नथा, किन्तु वैदिक-काल की भाँति स्त्रियाँ पतियों के साथ धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित होती थीं। इस समय भी *गार्गी* एवं *मैत्रेयी* आदि के समान विदुषी स्त्रियाँ भी थीं। बारह वर्ष की कन्या का विवाह १६ वर्ष के बालक के साथ होता था। बहु विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। तलाक की भी प्रथा थी। विवाह के विषय में विस्तारपूर्वक आगे मौर्यकालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए कहा जा चुका है।

गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति—

मौर्यकाल के बाद स्त्रियों की दशा में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। सातवाहन युग में मनु ने मौर्यकालीन अवस्थाओं में कुछ परिष्कार किया। मनु ने विवाह को पवित्र संस्कार द्वारा अविच्छेद्य बनाया और नियोग तथा विधवा विवाह का निषेध किया। उसने स्त्रियों को स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं समझा। इन सब नियमों से गुप्तकाल में जाकर स्त्रियों की दशा में परिवर्तन होने लगा। *याज्ञवल्क्य* एवं *नारद* जैसी *स्मृतियों* ने ऋतुकाल से पूर्व कन्या का विवाह न करने वाले अभिभावक को नरक गामी बताया है।

इस समय विधवा-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। कुछ अवस्थाओं में स्त्रियाँ अपने प्रथम पति को तलाक देकर दूसरे से विवाह कर सकती थीं। इस युग में पर्दे की प्रथा न थी। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप से समाज में भ्रमण किया करतीं थीं, किन्तु उच्चकुल की स्त्रियाँ एक प्रकार के आवरण का प्रयोग किया करतीं थीं। यद्यपि इस समय उच्चवर्ग की स्त्रियों की स्थिति समुन्नत थी, उनका स्थान समाज में ऊँचा था, कोई-कोई स्त्रियाँ सब विषयों में अपने पतियों को परामर्श दिया करतीं थीं, प्रभावती-गुप्त जैसी योग्य रानियाँ राज्य का सञ्चालन भी करती थीं, इन कुलीन स्त्रियों को उच्च शिक्षा दी जाती थी, फिर भी साधारण स्त्रियों की दशा सोचनीय थी। बाल-विवाह प्रचलित होने से उनका उपनयन असम्भव हो गया था। उन्हें वैदिक-शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार न था। स्त्रियों के प्राचीन अर्धाङ्गिनी एवं समानता के अधिकार में इस युग में परिवर्तन होने लगा था। स्त्रियों पर पति के अधिकार की वृद्धि होती जा रही थी। कालिदास ने तो लिख दिया था कि—"पति ही स्त्री का स्वामी है वह जो चाहे सो कर सकता है।"

उपसंहार—

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पहुँचते हैं कि मौर्यकाल की सी स्त्रियों की स्थिति गुप्तकाल में न थी। उसमें भारी परिवर्तन हो गया था और उनकी दिन-प्रतिदिन अवनति होती जा रही थी। उनका सम्मान न्यून हो गया था और समाज में उनका प्राचीन गौरवपूर्ण स्थान नहीं रह गया था।

"गुप्त कालीन सभ्यता एवं संस्कृति"

उपक्रम—

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का सर्वोत्तम युग माना जाता है। इसे भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। राजनैतिक, आर्थिक,

धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टियों से यह युग पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। अतः गुप्तकाल को भारतीय *पुनरुत्थान* का युग कहा गया है। गुप्तकाल की सर्वाङ्गीण उन्नति का विवरण इस प्रकार है—

(१)—हिन्दू-राज्य की स्थापना—

गुप्त-युग में हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान एवं परिवर्धन हुआ। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद भारत के अधिकांश भागों पर शक, कुषाण आदि विदेशी जातियों का अधिकार हो गया था, गुप्त राजाओं ने इन राज्यों का अन्त करके भारत में पुनः हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति की स्थापना की और देश को उन्नतिकी ओर अग्रसर किया। इस युग की सर्व-प्रधान विशेषता धार्मिक-सामञ्जस्य एवं सहिष्णुता है। सभी धर्मानुयायी अपने-अपने धर्म का अनुसरण करने में स्वतन्त्र थे।

(२)—हिन्दू-धर्म की उन्नति—

सभी गुप्त-वंशीय सम्राट हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे और उसका संरक्षण करते थे। उनके शासन काल में पौराणिक देवताओं की पूजा होने लगी, अनेक देवालयों का निर्माण हुआ और ब्राह्मणों को पुनः अपना प्रतिष्ठित पद प्राप्त हो गया।

(३)—उत्तम-शासन-प्रणाली—

गुप्त-सम्राटों ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना करके कुशलता-पूर्वक शासन का सञ्चालन किया। उनके नियम सरल और दण्ड-व्यवस्था सामान्य थी। प्राण-दण्ड किसी को नहीं दिया जाता था। देश में शान्ति और सुव्यवस्था थी। प्रजा स्वतन्त्र, सुखी एवं सन्तुष्ट थी।

(४)—साहित्य एवं संस्कृत की उन्नति—

साहित्यिक दृष्टि से भी गुप्तकाल *स्वर्णयुग* कहा जा सकता है, क्योंकि इस काल में साहित्य की सभी शाखाओं का पुनरुत्थान हुआ। गुप्त-सम्राट विद्या से प्रेम करते थे। अतः वे विद्वानों को आश्रय देते थे। इस काल में संस्कृत ने आश्चर्यजनक उन्नति की और राष्ट्र-भाषा का स्थान प्राप्त कर लिया। बौद्ध-विहारों में भी संस्कृत की शिक्षा दी जाने लगी। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

(५)—कला की उन्नति—

गुप्तकाल भारतीय-कलाओं का भी पुनरुत्थान का युग था। इस युग मे वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, वाद्यकला एवं संगीत आदि सभी कलाओं की अपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकाल की कलाओं की विशेषता स्वाभाविकता, रूपलावण्यता, आध्यात्मिकता, शैली की सरलता, भाव-व्यञ्जना एवं शान्ति हैं। इसका भी विस्तृत उल्लेख आगे गुप्तकालीन कला के प्रकरण में किया जायगा।

(६)—विज्ञान की उन्नति—

कला के अतिरिक्त इस समय विज्ञान की भी पर्याप्त उन्नति हुई। गणित, ज्योतिष, रसायन-शास्त्र आदि विज्ञान भी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे।

(७)—शिक्षा की उन्नति—

इस काल में शिक्षा की भी अपूर्व उन्नति हुई। तक्षशिला, सारनाथ, नालन्दा आदि जगत्-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे, जहाँ प्रत्येक विषय की शिक्षा दी जाती थी तथा प्रति-वर्ष विदेशों से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे।

(८)–आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा—

गुप्त-सम्राट आर्य-संस्कृति एवं सभ्यता के पोषक थे। उन्हें आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति पर गौरव था तथा वे उनका आदर करते थे। इसी कारण उन्होंने स्वदेश, स्वभाषा एवं स्वधर्म की पूर्णरूप से रक्षा की।

(९)–राजनैतिक-एकता—

अशोक की मृत्यु के बाद भारत की राजनैतिक एकता का अन्त हो गया था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। गुप्त-काल में पुनः यह विलुप्त राजनैतिक एकता स्थापित हो गई। गुप्त-सम्राटों ने भारत में फिर से एकक्षत्र-राज्य की स्थापना की।

(१०)–वृहत्तर-भारत में सभ्यता का प्रचार—

इस युग में अनेक नई बस्तियों की स्थापना हुई। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, चम्पा आदि में भारतीय नामों, शिक्षा एवं साहित्य का प्रचार हुआ। वहाँ भारतीय कला और धर्म का प्रचार हुआ और भारतीय शासन-व्यवस्था का अनुकरण भी वहाँ किया जाने लगा।

(११)–व्यापार की उन्नति—

इस युग में पोत-निर्माण-कला एवं जल-मार्ग द्वारा आवागमन चरम सीमा पर पहुँच गये थे। इसके फलस्वरूप विदेशों से भी व्यापार की वृद्धि हुई। पश्चिम में *रोम* तथा पूर्व में *पूर्वी-द्वीप-समूह* से व्यापार होता था।

उपसंहार—

उपरोक्त का अध्ययन करके हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि गुप्त-काल भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति का काल था। इस समय भारत–राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आदि सभी

दृष्टियों से उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। वस्तुतः यह भारत की चूड़ान्त उन्नति का युग था। इसी कारण गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहना न्याय-संगत है। यह काल भारतीय पुनरुत्थान का युग था।

"भारतीय-कला को गुप्तकाल की देन

अथवा

गुप्तकालीन-कला"

प्रस्तावना—

गुप्तकाल में कला ने बड़ी उन्नति की। इस युग की मूर्त्तियाँ एवं भवन विदेशियों के आक्रमणों की ध्वंसात्मक नीति एवं समय के क्रूर प्रहारों के फलस्वरूप प्रायः नष्ट हो गये हैं, फिर भी जो शेष हैं वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उस युग में भारतीय-कला का पर्याप्त विकास हुआ था। गुप्तकालीन-कला के अन्तर्गत *स्थापत्यकला*, *मूर्तिकला*, *मृत्तिकामूर्त्ति*, *चित्रकला*, *मुद्राकला*, *संगीत* एवं *अभिनय* की पूर्ण रूप से उन्नति हुई। जिनका विवरण निम्न प्रकार से है—

(१)—स्थापत्यकला—

इस युग का सारनाथ का *"धम्मिकस्तूप"* अपनी कल्पना, आकार एवं अलंकार में अति उच्च कोटि का है। *अजन्ता*, *इलौरा* एवं *बाघ* के कतिपय गुहाविहार भी इस काल की स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। *चैत्यों* में इलोरा का *विश्वकर्मा-चैत्य* अनुपम है। *मन्दिरों* में बोधिगया का मन्दिर, *भीटार-गाँव* का मन्दिर आदि स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट

उदाहरण हैं। इस युग की *भवन-निर्माण-कला* में अलंकृत स्तम्भों का मुख्य स्थान है। समुद्रगुप्त का *दिल्ली-का-लौहस्तम्भ* प्रमाणित करता है कि इस युग में लोहे की शिल्प-कला में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। *मेहरौली-का-लौहस्तम्भ* उस काल का अद्भुत स्मारक है। यह लोहे का ढला हुआ स्तम्भ शताब्दियों से अब भी धूप एवं जल से प्रभावित नहीं है। इनके अलावा अन्य प्रकार की और भी इमारतों का इस युग में निर्माण हुआ था।

(२)-मूर्त्तिकला—

गुप्तकाल की मूर्त्तिकला गान्धार-शैली के यवन प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो गई और वह अपनी कल्पना, भावव्यञ्जना एवं शारीरिक-गठन में पूर्ण रूप से भारतीय हो गई। इस युग की देवमूर्त्तियों की विशेषताओं में सुसज्जित-प्रभामण्डल, झीनेवस्त्र, केशप्रसाधन की एक विशेष मुद्रा, आसन आदि उल्लेखनीय हैं। इन मूर्त्तियों का सम्बन्ध धर्म से था। इस युग की विष्णु, शिव, पार्वती, ब्रह्मा, बुद्ध, बोधिसत्व आदि की भव्य मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं। इस युग की सर्वोच्च मूर्त्ति सारनाथ में प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की मूर्त्ति है, जो अपने लावण्य, गाम्भीर्य एवं भावव्यञ्जना के लिये विख्यात है।

(३)-मृत्तिका-मूर्त्ति—

गुप्तकाल में मिट्टी की भी अति सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं। निर्धनों की इस कला में रुचि थी। स्त्री-पुरुष दोनों ही इस कला में प्रवीण थे। मिट्टी की मूर्त्तियाँ तीन प्रकार की होती थीं—(१)-देवी-देवताओं की, (२)-मनुष्यों की तथा (३)-पशु-पक्षियों की। इन मिट्टी की मूर्त्तियों से लोग अपने गृहों, मन्दिरों एवं स्तूपों को अलंकृत करते थे।

(४)–चित्रकला—

इस युग में चित्रकला भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। इस युग के सुन्दर-चित्र—हैदराबाद, अजन्ता की गुफाओं, ग्वालियर-राज्य, बाघ की गुफाओं एवं लंका में सिगरीप की चट्टानों से काटी हुई दीवारों में देखने को मिलते हैं।

(५)–संगीत एवं अभिनय—

गुप्त-युग में संगीत एवं वाद्यकला अपनी चरम-सीमा पर पहुँच चुके थे। गुप्तसम्राटों को संगीत से प्रेम था और अनेक संगीतज्ञ उनके दरबार में रहते थे। सम्राट समुद्रगुप्त वीणा का बड़ा प्रेमी था। *प्रयाग-का-स्तम्भलेख* सिद्ध करता है कि वह संगीत में नारद एवं तुम्बरु के समान था। उसका वीणा बजाता हुआ एक चित्र उसके वीणा प्रेम का प्रमाण है। इसके अलावा इस युग के नाटकों में भी गान-विद्या के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। सारनाथ में एक विशाल प्रस्तरखण्ड एक नृत्य करती हुई स्त्री का चित्र प्रस्तुत करता है। इसके चारों ओर अन्य स्त्रियाँ भी बाँसुरी, भेरी, मृदङ्ग, आदि बजाती हुई चित्रित की गई हैं, जो कि गुप्तकाल की नृत्यकला के विकास के प्रमाण हैं।

(६)–मुद्राकला—

भारतीय इतिहास में सबसे अधिक सुन्दर सिक्के गुप्त युग के हैं। पहले गुप्त सम्राटों ने मुद्रा ढालने में कुषाणों एवं शकों के शिक्कों का ही अनुकरण किया, किन्तु कुछ समय के बाद उन्होंने शुद्ध भारतीय-सिक्के सुवर्ण एवं कार्षापण के ढलवाये। सिक्कों का आकार एवं उन पर अंकित मूर्त्तियाँ अति आकर्षक तथा कला-पूर्ण हैं। उन पर संस्कृत में राजाओं की कीर्ति का वर्णन है। समुद्रगुप्त ने नवीन प्रकार की मुद्रायें बनवाई थीं। कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त ने उत्तरोत्तर इन मुद्राओं का वजन बढ़ाया।

उपसंहार—

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि गुप्तकाल में ललित कलाओं ने पर्याप्त उन्नति की, गुप्तकाल की कला ने उस युग को अमर बना दिया है।

"गुप्तकाल संस्कृत-साहित्य का स्वर्णयुग था ?"

प्रस्तावना—

गुप्तकाल में संस्कृत-साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। संस्कृत के परम-प्रेमी गुप्त राजाओं की शीतल छत्रछाया में उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। उस समय संस्कृत के प्रचार का इतना उत्साह था कि *राजशेखर* के मतानुसार गुप्त-राजाओं ने अपने अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग का आदेश कर दिया था। इसी युग में संस्कृत ने राष्ट्र-भाषा पद को प्राप्त किया। पहले जैनों ने *प्राकृत* एवं बौद्धों ने *पालि* का उपयोग किया, किन्तु संस्कृत के बृहत्-शब्दकोष एवं सर्वविध अभिव्यञ्जक सामर्थ्य के फलस्वरूप वे इसकी ओर आकृष्ट हुए। बौद्धों ने प्रथम-द्वितीय शताब्दी से ही संस्कृत को अपना लिया। महायान सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी विद्वत्तापूर्ण रचनाओं के लिये संस्कृत को ही अपनाया। वस्तुतः उस समय संस्कृत भारत के समस्त शिक्षित वर्ग की भाषा हो चुकी थी। संस्कृत का प्रचार भारत में ही नहीं अपितु बृहत्तर-भारत—मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, चीन आदि देशों में भी हुआ। संस्कृत-भाषा की सर्वोत्कृष्ट रचनायें इसी युग में हुई।

काव्य-नाटक एवं कथा-साहित्य—

संस्कृत-साहित्य के अनेक सुविख्यात कवि एवं नाटककार इस युग मे हुए। इनमें सर्व-प्रथम स्थान महाकवि *कालिदास* का है। उनकी

अमर कृतियों में *रघुवंश*, *कुमारसम्भव*, *मेघदूत*, *ऋतुसंहार* नामक काव्य तथा *मालविकाग्निमित्र*, *विक्रमोर्वशीय* एवं *अभिज्ञान-शकुन्तल* नामक नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा विशाखदत्त का *मुद्राराक्षस*, भारवि का *किरातार्जुनीय*, भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार एवं वैराग्य-शतक भी इसी युग की रचनायें हैं। इन काव्य तथा नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत-कथा-साहित्य की अमर पुस्तक विष्णुशर्मा का *पञ्चतन्त्र* भी इसी युग की रचना है।

व्याकरण आदि के शास्त्रीय-ग्रन्थ—

काव्य, *नाटक* एवं *कथा-साहित्य* के अतिरिक्त इस युग में व्याकरण आदि शास्त्रों से सम्बन्धित संस्कृत-साहित्य का भी विकास हुआ। बौद्ध-भिक्षु *चन्द्रगोमी* ने *चन्द्रव्याकरण* नामक लोकप्रिय पुस्तक *अष्टाध्यायी* के आधार पर लिखी है। बौद्ध *अमरसिंह* ने अमरकोष की रचना इसी समय की। इस युग में छन्दशास्त्र का विवेचन *श्रुतबोध*, वाराहमिहिर की *बृहत्-संहिता* एवं *अग्नि-पुराण* में किया गया है। वात्स्यायन का *कामसूत्र* भी इसी युग की रचना है।

धार्मिक-ग्रन्थ—

गुप्तकाल में धार्मिक-साहित्य की भी उन्नति हुई। भारतवर्ष में पुराण वैदिक-युग से चले आ रहे थे, गुप्तयुग के प्रारम्भिक काल में इनके नवीन संस्करण तैयार हुए और ३५० ई० तक की घटनाओं को उनमें और जोड़ दिया गया। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, पाराशर एवं बृहस्पति की स्मृतियों का निर्माण भी इसी युग में हुआ।

दार्शनिक-ग्रन्थ—

गुप्तकाल में ही *भारतीय-दर्शनों* पर भाष्य एवं प्रामाणिक ग्रन्थों का संस्कृत में निर्माण किया गया। *ईश्वरकृष्ण* की *सांख्यकारिका* इसी युग

की रचना है। *न्याय-भाष्य* के लेखक *वात्स्यायन* एवं इसी भाष्य पर *न्यायवार्तिक* नामक टीका के लेखक *उद्योतकर* गुप्तकाल की ही विभूति हैं। इनके अलावा और भी कई ग्रन्थों का इस युग में निर्माण हुआ।

उपसंहार—

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल वास्तव में संस्कृत साहित्य का *स्वर्णयुग* था। इसका श्रेय गुप्त-वंशीय सम्राटों को है। इस वंश के शासक अति शिक्षित होने के कारण साहित्य के मूल्य को समझते थे और उन्होंने इसे पूर्ण प्रोत्साहन दिया। समुद्रगुप्त स्वयं एक अच्छा कवि और संगीतज्ञ था एवं विद्वानों के सम्पर्क में रहता था। महाकवि *कालिदास* को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन माना जाता है। इसके बाद भी *कुमारगुप्त* आदि गुप्त सम्राटों ने संस्कृत को प्रोत्साहन दिया। इन सम्राटों के ही प्रेम का परिणाम था कि उस समय संस्कृत भाषा अपनी चरम सीमा पर पहुँच सकी और उसमें प्रायः सभी प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई। *डा० घोष* के अनुसार इस समय प्राकृत का स्थान पूर्णतया संस्कृत ने ले लिया था। यहाँ तक कि बौद्ध लेखकों ने भी अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये पालि को छोड़कर इसी संस्कृत का आश्रय लिया।

"भारतीय-संस्कृति का विश्वव्यापी-प्रभाव।"

प्रस्तावना—

प्राचीन-भारतीयों ने अपनी संस्कृति को भारत की भौगोलिक सीमा में ही सीमित नहीं रखा था, अपितु विदेशों में भी उसका प्रचार एवं प्रसार किया था। इतिहास से ज्ञात होता है कि भारतीय-संस्कृति का प्रचार विश्व के विभिन्न देशों में हुआ था। क्या पूर्व में, क्या पश्चिम में प्राचीन काल के कितने ही सभ्य देशों ने भारतीय-संस्कृति से प्रभा-

वित होकर भारत से बहुत सी बातें सीखीं। धर्म, दर्शन, साहित्य, गणित, विज्ञान, कला आदि के कितने ही बहुमूल्य-सिद्धान्त विदेशों ने भारत से सीखे। इस प्रकार भारतीय-संस्कृति का विश्वव्यापी-प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

सांस्कृतिक-प्रसार के कारण—

भारतीय-संस्कृति के विश्वव्यापी-प्रभाव के तीन मुख्य कारण थे—(१)—भारत का वैदेशिक व्यापार, (२)—प्राचीन-भारतीयों की धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति तथा (३)—विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना।

(१)—भारत का वैदेशिक-व्यापार—

प्राचीन-भारत के व्यापारी व्यापार के लिये विश्व के विभिन्न भागों में जाते थे। इस प्रकार वे विदेशियों के निकटतम संसर्ग में आये और उन्होंने उन पर अपनी संस्कृति का प्रभाव डाला।

(२)—धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति—

धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति से अनुप्राणित होकर प्राचीन काल में ऋषि-मुनि और बौद्ध-भिक्षु विदेशों की जङ्गली जातियों में जाते और भीषण बाधाओं के होते हुए भी उन्हें सभ्य और उन्नत बनाते थे। इसी प्राचीन प्रणाली का अनुसरण कर ई० पू० तीसरी शताब्दी में अशोक ने पश्चिमी-एशिया, उत्तरी-अफ्रीका तथा दक्षिणी-यूरोप के विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचारक भेजे थे, जिन्होंने वहाँ अपने धर्म-केन्द्र स्थापित करके वहाँ के धार्मिक-जीवन को प्रभावित किया।

(३)—विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना—

उपनिवेशों का आशय है कि दूसरे देशों में जाकर भारतीयों का स्थाई रूप से बस जाना। व्यापारी विदेशों में भारतीय-संस्कृति का बीज-वपन करते थे और हिन्दू-राज्य इसे वहाँ सुदृढ़ करते थे।

ऐतिहासिक-प्रमाण—

भारतीय-संस्कृति के विश्वव्यापी-प्रभाव के सम्बन्ध में—भाषासाम्य, सांस्कृतिक-साम्य, प्राचीन-लेख तथा प्राचीन-भारत का औपनिवेशिक-विकास आदि कई ऐतिहासिक-प्रमाण मिलते हैं, जो पाश्चात्य देशों पर भारतीय-संस्कृति के प्रभाव को सिद्ध करते हैं।

सांस्कृतिक-प्रसार-क्रम—

भारत की सीमाओं से बाहर सर्वप्रथम भारतीय-संस्कृति *लंका* में फैली, दक्षिण दिशा में *बृहत्तर-भारत* की यही सीमा थी। ई० पू० तीसरी शती से भारतीयों ने *मध्य-एशिया* में उपनिवेश बसाने शुरू किये। ई० पू० पहली शती में भारतीय-संस्कृति *चीन* पहुँची, वहाँ से *कोरिया* और *कोरिया* से *जापान*। सातवीं शती में भारतीय-संस्कृति ने *तिब्वत* में प्रवेश किया और *तिब्बती-धर्म-दूतों* ने इसे तेरहवीं शती में *मङ्गोलिया* तक पहुँचाया। वहाँ से यह *मञ्चूरिया* और *साइबेरिया* तक फैली।

परलेहिन्द-(दक्षिण-पूर्वी-एशिया का भूभाग)—में ई० की पहली शतियों में *हिन्दचीन*, *मलाया*, *प्रायद्वीप*, *जावा*, *सुमात्रा* आदि में हिन्दू-राज्य स्थापित हुए और भारतीय-संस्कृति का प्रसार हुआ। *पश्चिम* में भारत का दक्षिण, उत्तर और पूर्वी दिशाओं का सा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु *लघु-एशिया*, *ईरान*, *ईशाइयत* तथा *इस्लाम* पर थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा। इन सबका यथाक्रम वर्णन संक्षेप में नीचे किया जाता है—

श्रीलङ्का—

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार *श्रीलङ्का* में सर्वप्रथम भारतीय-संस्कृति का सन्देश ले जाने वाले *श्रीरामचन्द्र* थे, किन्तु सिंहली इतिहास के अनुसार काठियावाड़ के राजकुमार *विजय* के नेतृत्व में भारतीयों

ने इस टापू का उपनिवेश आरम्भ किया। इनके ३०० वर्ष बाद ई० पू० तीसरी शती के मध्य में *सम्राट-अशोक* ने लङ्का में बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ अपने पुत्र–*महेन्द्र* तथा पुत्री–*संघमित्रा* को भेजा। उनके द्वारा *श्रीलङ्का* में स्थापित की गई *बौद्ध-धर्म-की-शाखा* आज *बोधिवृक्ष* की भाँति विशाल बन गई है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन काल में संस्कृति का मूलाधार धर्म ही था। *वर्णमाला, भाषा, साहित्य, कला* तथा *शिल्प* सब उसी के साथ मनुष्य को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने वाली कलायें स्वतः पहुँच जाती थीं। बौद्ध-धर्म ने लङ्का को *ब्राह्मी-लिपि* तथा *पालि-भाषा* प्रदान की। उसने वहाँ वास्तु, मूर्त्ति एवं चित्रकलाओं का श्रीगणेश, विकास एवं परिपाक किया तथा परस्पर संघर्ष करने वाली विविध जातियों में सांस्कृतिक-एकता उत्पन्न कर उन्हें एक सूत्र में पिरोया। इन्होंने लङ्का में *धर्म, साहित्य* एवं *कला* का कोई क्षेत्र प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ा।

उपरलाहिन्द–(मध्य-एशिया तथा अफगानिस्तान)—

अशोक के समय में भारतीयों ने मध्य एशिया—(चीनी-तुर्किस्तान) में भारतीय वस्तियों का वसाना शुरू कर दिया था। *चीनी-तुर्किस्तान* का अधिकांश भाग मरुस्थल है। केवल दक्षिण एवं उत्तर में नदियों के किनारे कुछ प्रदेशों में वस्तियाँ वसी हुई थीं। इनमें *खोतन* तथा *कूचा* ने चीन तक भारतीय-संस्कृति के प्रसार में बड़ा महत्त्व-पूर्ण भाग लिया। ई० पूर्व तीसरी शती में दक्षिणी-वस्तियों में *खोतन* बौद्धधर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन चुका था। यहाँ तथा अन्य दक्षिणी-वस्तियों में भी उत्तर-पश्चिमी-भारत से इतने अधिक भारतीय आ वसे थे कि यहाँ की *राज-भाषा–प्राकृत* और *राजलिपि–खरोष्टि* हो गई। चीन की सीमा तक इसका प्रयोग होता था। उत्तरी-वस्तियों में *कूचा* प्रधान थी। इसे बौद्धधर्म का

केन्द्र बनाने का श्रेय *कुमार-जीवक* नामक बौद्ध-भिक्षु को है। चौथी शती में *चीनियों* ने कूचा पर आक्रमण किया और *कुमार-जीवक* को भी वे पकड़ कर ले गये। चीन के राजा ने इनका बड़ा सम्मान किया और *संस्कृत-ग्रन्थों* का चीनी-भाषा में अनुवाद करने का कार्य इन्हें सौंपा। अपने जीवन में इन्होंने ९८ *ग्रन्थों* का चीनी-भाषा में अनुवाद किया।

चीन—

चीन जन-संख्या की दृष्टि से दुनियाँ का पहला और क्षेत्रफल की दृष्टि से दूसरा देश है। भारत ने इतनी अधिक जन-संख्या और इतने विस्तृत भूखण्ड को अपनी संस्कृति के रङ्ग में रंगा। चीन में बौद्धधर्म का सन्देश ले जाने का श्रेय *कश्यप-मातङ्ग* और *धर्मरत्न* नामक बौद्ध-भिक्षुओं को है। इन धर्मदूतों ने यहाँ रहकर बौद्धधर्म के ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद कर इस महान् देश की सांस्कृतिक विजय प्रारम्भ की। १२०० वर्षों तक भारतीय विद्वान् अपार कष्ट सहते हुये चीन जाकर संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद करते रहे। उत्तरोत्तर चीन में बौद्धधर्म का प्रचार होता गया और इससे प्रभावित होकर *ह्वेनसांग*, *फ़हियान*, *इत्सिङ्ग* आदि अनेक यात्रियों ने भारत की यात्रा की तथा यहाँ से अनेक बौद्धधर्म की पुस्तकें चीन में ले गये।

मंगोलिया-कोरिया तथा जापान—

१३ वीं शती में मंगोल-सम्राटों ने बौद्धधर्म स्वीकार किया। मंगोलों द्वारा इसका प्रसार *माङ्गोलिया*, *मन्चूरिया* तथा *साइबेरिया* में हुआ। इधर चीन से बौद्धधर्म *कोरिया* पहुँचा। कोरिया के राजा ने *जापानी-सम्राट* से मैत्री स्थापित की और एक पत्र द्वारा उनसे बौद्धधर्म स्वीकार करने का अनुरोध किया। शुरू में जापान में इसका विरोध हुआ, किन्तु शीघ्र ही पुनः इसे राज्य-संरक्षण मिलने लगा। इस प्रकार *कोरिया* से बौद्ध-धर्म *जापान* में पहुँचा। जापान की अधिकांश उन्नति का श्रेय बौद्ध-धर्म एवं भारतीय-संस्कृति को था।

तिब्बत—

सातवीं शती में *सोंगचनगम्पों* ने छोटी-छोटी रियासतें जीतकर शक्ति-शाली *तिब्बत-राष्ट्र* का निर्माण किया। *तिब्बत* में बौद्ध-धर्म के प्रवेश कराने का श्रेय इसी राजा को है। इसने *चीन* तथा *नैपाल* के राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। ये दोनों राजकुमारियाँ बौद्ध थीं। अतः इन विवाहों का वास्तविक परिणाम तिब्बत और बौद्धधर्म का पाणिग्रहण था। इसके बाद भारतीय-ग्रन्थों के अनुवाद से वहाँ आर्या-वर्त्तीय-संस्कृति का आलोक फैला। आठवीं शती से तिब्बती राजाओं ने भारतीय-विद्वानों को अपने देश में बुलाना शुरू किया। धीरे-धीरे राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई और उनका स्थान विहारों ने ले लिया। इस प्रकार तिब्बत में *लामाबाद* का उत्कर्ष हुआ। तिब्बत को असभ्य और बर्बर दशा से मुक्त कर सभ्यता का पाठ पढ़ाने का श्रेय भारत को ही है।

परला-हिन्द—

परले-हिन्द अथवा *दक्षिण-पूर्वी-एशिया* में भारत ने केवल अपना सांस्कृतिक प्रसार ही नहीं किया, बल्कि *फूनान*, *कम्बुज*, *चम्पा*, *सुवर्णद्वीप*, *जावा*, *बाली*, *सुमात्रा*, *बोर्नियो* आदि अनेक शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों की भी स्थापना की। इन राज्यों ने यहाँ भारतीय संस्कृति की नींव को सुदृढ़ किया।

सांस्कृतिक-प्रभाव—

जब भारतीयों ने *दक्षिण-पूर्वी-एशिया* में प्रवेश कर अपने उपनि-वेश और राज्य स्थापित किए उस समय यह भूखण्ड बर्बर जातियों द्वारा आवासित था। यहाँ के निवासी जङ्गली, असभ्य और बड़े खूंखार थे। हिन्दू-उपासकों ने इन्हें अपने धर्म, वर्णमाला, भाषा, साहित्य,

"प्राचीन-भारतीय-शिक्षा-पद्धति"

(१)-प्रस्तावना—

भारत में शिक्षा वैदिक-युग से मनुष्य के सर्वाङ्गीण-विकास, राष्ट्रीय-संस्कृति के संरक्षण एवं जातीय उत्थान के लिये आवश्यक समझी जाती रही है। प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन को जिन चार आश्रमों में बाँटा था उनमें पहला ब्रह्मचर्य-आश्रम विद्याभ्यास के लिये था। ब्रह्मचर्य-आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। यह संस्कार सब द्विजों-(ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) के लिये आवश्यक था।

(२)-ब्रह्मचर्य के नियम—

उपनयन के बाद ब्रह्मचारी गुरु से विद्याध्ययन करता था। विद्याध्ययन-काल में ब्रह्मचारी को अनेक आवश्यक नियमों का पालन करना पड़ता था। प्राचीन-शिक्षा-पद्धति का आदर्श-सादाजीवन और उच्च विचार-(Simple living and higher thinking.) था। अतः सभी ब्रह्मचर्य के नियम इसी सिद्धान्त के अनुरूप बनाये गये थे। ब्रह्मचर्य के नियमों में *संयम* तथा *सदाचार* के पहलू पर विशेष बल दिया जाता था।

(३)-भिक्षावृत्ति—

कई स्मृतियों के अनुसार मालूम होता है कि ब्रह्मचारी प्रतिदिन अपने लिये गाँव से भिक्षा माँगकर लाता था। किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। तक्षशिला के ब्रह्मचारी अपने गुरुओं के घरों में बड़ी आयु के पुत्रों के समान रहा करते थे।

भेजे गये बौद्ध-प्रचारकों ने जंगलों में जाकर तपस्या करने वाले वैराग्य और समाधि पर बल देने वाले ब्रह्मचर्य-व्रत के पालक सम्प्रदायों को प्रभावित किया। उधर *इस्लाम* के *सूफीवाद* पर *बौद्धधर्म* एवं *वेदान्त* का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अब्बासी खलीफाओं के प्रोत्साहन से बग-दाद में भारतीय *आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष* आदि विविध *विज्ञानों* के संस्कृत-ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। यहीं से *अरबों* ने भारत की *दशगुणोभट* अंक-लेखन-पद्धति के साथ इन *सभी-विज्ञानों* को योरोप पहुँ-चाया। *शल्यकर्म* की बहुत सी बातों के लिये पश्चिमी-जगत् भारत का ऋणी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि *पश्चिमी-जगत्* भी भारतीयों के प्रभाव से अछूता नहीं है।

उपसंहार—

डेढ़-हजार वर्ष तक भारतीय, विश्व के एक बड़े भाग की जंगली जातियों के बीच में बसकर उन्हें सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाते रहे। संसार में हजारों निर्दोष व्यक्तियों का खून बहाकर दिग्विजय करने वाले तथा विशाल साम्राज्य बनाने वाले—*सिकन्दर, समुद्रगुप्त, नैपो-लियन*, जैसे विजेताओं की कमी नहीं, किन्तु विश्व के इतिहास में भारत की सांस्कृतिक-विजय से बढ़कर शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक एवं हितकर कोई दूसरी विजय नहीं हुई। भारत ने उस समय आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किये थे, जब सारा संसार बर्बरता-पूर्ण कृत्यों में डूबा हुआ था। इस प्रकार सुस्पष्ट है कि विश्व के *विभिन्न-देशों* को *भारत* न *सभ्यता* एवं *संस्कृति* का पाठ पढ़ाया तथा धर्म, दर्शन, *साहित्य, गणित, विज्ञान, कला* आदि कितने ही बहुमूल्य-सिद्धान्त सिखाये। अतः इस कथन में पूर्ण सत्यता है कि—

"एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

(७)–शिक्षा-काल—

प्राचीन-काल में शिक्षासत्र-*श्रावणी* से प्रारम्भ होता था और पौष या *माघ* में समाप्त हो जाता था। प्रारम्भ में यह छः महीने का था, किन्तु विद्याओं तथा विज्ञानों की वृद्धि से इसका काल बढ़ने लगा। शिक्षा-काल सामान्य रूप से बारह वर्ष का था। प्रायः उच्च-शिक्षा बारह वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होकर २४ वर्ष की अवस्था में समाप्त हो जाती थी।

(८)–पाठ्य-विषय—

उस समय विद्यार्थी वैदिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विज्ञानों में भी पारङ्गत होते थे। उस समय की शिक्षा-पद्धति में साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार के विज्ञानों का सम्मिश्रण था।

(९)–पाठ्य-प्रणाली—

प्राचीन-काल में मुख्य रूप से पाठ्य-प्रणाली गुरुमुख से पाठ श्रवण करने तथा उसके सामने उसे दोहराने एवं प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त करने की थी। गुरु एक-एक विद्यार्थी को अलग-अलग पढ़ाता, उनका पाठ सुनता एवं गलतियाँ ठीक कराता था। यह पद्धति कई दृष्टियों से लाभप्रद थी। इसमें छात्र को बोलने तथा अध्यापन करने का साहस होता था।

(१०)–परीक्षायें एवं उपाधियाँ—

प्राचीन काल में भारतवर्ष में न तो वर्तमान शिक्षा-पद्धति ही प्रचलित थी और न शिक्षा-समाप्ति के बाद कोई उपाधियाँ ही दी जाती थीं। मध्य-युग के अन्तिम भाग में *विक्रमशिला विश्वविद्यालय* के संरक्षक *पालराजा* समावर्तन के समय विद्यार्थियों को उपाधियाँ देते थे, किन्तु यह पद्धति प्राचीन न थी।

(४)–गुरुकुल-पद्धति—

ब्रह्मचारी शिक्षा-काल में प्रायः गुरु के पास रहते थे, इसीलिये उन्हें *अन्तेवासी* कहा जाता था। शिक्षा समाप्त करने पर घर लौटते समय उनका *समावर्तन* होता था। गुरुकुलों में विद्यार्थी प्रायः प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उच्च-शिक्षा के लिये भेजे जाते थे। *प्राचीन गुरुकुलों* के सम्बन्ध में सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि वे शहरों से दूर जङ्गलों में होते थे, किन्तु यह धारणा सर्वथा सत्य प्रतीत नहीं होती कारण अधिकांश *गुरुकुल* और *शिक्षाकेन्द्र* शहरों एवं गावों में ही थे।

(५)–गुरु एवं शिष्य के सम्बन्ध—

प्राचीन शिक्षा-पद्धति की एक बड़ी विशेषता *गुरु* और *शिष्य* का पारस्परिक सुमधुर सम्बन्ध था। शिष्य गुरु के घर पर जाकर उसके परिवार का सदस्य बनकर रहता था। गुरु अपने पुत्र की भाँति उसका पालन करता था। प्रायः एक गुरु के पास दश से पन्द्रह तक शिष्य होते थे और वे इनके न केवल अध्ययन, अपितु खान-पान एवं चिकित्सा आदि की भी पूर्ण व्यवस्था करते थे। शिष्यों का भी प्रधान कर्तव्य गुरु की देवता की तरह प्रतिष्ठा एवं आराधना करना था।

(६)–शिक्षा की फीस—

उस समय भी शिक्षा निःशुल्क नहीं होती थी। धनी और समर्थ शिष्य शिक्षा प्रारम्भ होने के पूर्व या बाद में गुरुदक्षिणा के रूप में गुरु को शिक्षा-शुल्क देते थे और निर्धन विद्यार्थी अपनी सेवा द्वारा शिक्षा-शुल्क चुकाते थे। फीस देने के अलावा लौटते समय भी गुरुदक्षिणा के रूप में कुछ देने का रिवाज था।

दूसरी शताब्दी में बाख्त्रियों, ई० पू० प्रथम शताब्दी में शकों एवं कुषाणों और ई० की पाँचवीं शती में हूणों के प्रबल आक्रमण हुये। पाँचवीं शती के प्रारम्भ में *फहियान* के कथनानुसार यह स्थान शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि उस समय तक यह शिक्षा-केन्द्र समाप्त-प्राय: हो चुका था।

आधुनिक समय के विश्व-विद्यालयों अथवा बड़े कालेजों की तरह यह सुसंघटित शिक्षाकेन्द्र न था। यहाँ के शिक्षकों पर किसी प्रकार का सरकारी प्रतिबन्ध नहीं था और न यहाँ का शिक्षाकाल एवं पाठ्य-क्रम ही निश्चित था। यहाँ न तो कोई परीक्षायें होती थीं और न कोई उपाधियाँ ही दी जाती थीं। यह केवल एक प्रसिद्ध विद्यापीठ था, जिसमें अनेक सुप्रसिद्ध एवं लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् रहा करते थे। यहाँ के शिक्षक न किसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे और न वेतनभोगी, अपितु ये लोग पूर्ण स्वतन्त्र थे। इनकी कीर्ति से आकृष्ट होकर भारत के विभिन्न प्रान्तों से छात्र अध्ययनार्थ इनके सन्निकट आकर इनके घरों में रहकर इनके चरणों की सुश्रुषा करते हुए शिक्षा ग्रहण करते थे।

यद्यपि जातक-कथाओं में यह उल्लेख पाया जाता है कि प्रत्येक गुरु के पास ५०० से कम विद्यार्थी नहीं रहते थे, किन्तु यथार्थ रूप में एक गुरु के पास १५-२० से अधिक छात्र नहीं रहते थे। इनमें सशुल्क अध्ययन करने वाले विद्यार्थी अपने गुरु के घर में पुत्रों के समान रहते थे और गरीब छात्र दिनभर गुरु का कार्य करके रात को उससे अध्ययन करते थे।

प्रत्येक गुरु का अपना स्वतन्त्र विद्यालय होता था, उसका कोर्स भी उसकी इच्छा पर ही निर्भर करता था। विद्यार्थी अपनी अभिरुचि से जो विषय पढ़ना चाहते थे उन्हें वही विषय पढ़ाया जाता था। शिक्षा-काल की भी कोई निश्चित अवधि न थी। भगवान्-बुद्ध के वैद्य-*जीवक*-केवल सात वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर *राजगृह* लौट आये थे। इनको इनके गुरु ने यद्यपि *समावर्तन* के समय

"प्राचीन-भारतीय-शिक्षा-संस्थायें"

उपक्रम—

प्राचीन-भारत में प्रधान रूप से पाँच प्रकार के शिक्षा केन्द्र थे—(१)-राजधानियाँ, (२)-तीर्थ, (३)-विहार, (४)-मन्दिर एवं (५)-अग्रहारग्राम। इस समय शिक्षा-प्रदान करने के लिये कोई सुसंघटित शिक्षा संस्थायें नहीं थीं। गुरु वैयक्तिक रूप से स्वयमेव शिष्यों को शिक्षा देते थे। संघटित शिक्षा संस्थाओं का विकास पहले-पहल बौद्ध-विद्वानों ने किया। *नालन्दा* इस प्रकार का पहला विद्यालय था, क्योंकि इससे प्राचीन *तक्षशिला-विद्यापीठ* में भी वैयक्तिक रूप से ही शिक्षा दी जाती थी। *तक्षशिला*, *नालन्दा*, *बल्लभी*, *विक्रमशिला* तथा *बनारस* प्राचीन-कालीन प्रमुख शिक्षा-केन्द्र थे। इन्हीं का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

"तक्षशिला"

तक्षशिला प्राचीन—भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम शिक्षा-केन्द्र था। रामायण के वर्णन के अनुसार *भरत* ने तक्षशिला की स्थापना करके अपने पुत्र *तक्ष* को वहाँ का पहला शासक बनाया था। महाभारत में वर्णित जनमेजय का *नाग-यज्ञ* यहीं हुआ था। रामायण तथा महाभारत में यद्यपि तक्षशिला के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र होने का वर्णन नहीं मिलता, तथापि ई० पू० सातवीं शती तक यह विद्यापीठ के रूप में इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि *मिथिला*, *राजगृह*, *बनारस*, आदि दूर-दूर प्रदेशों से छात्र यहाँ पढ़ने आया करते थे। तक्षशिला पर समय-समय पर विदेशियों के आक्रमण होते रहे, जिससे उसे काफी क्षति पहुँची। इस प्रदेश पर ई० पू० छठीं शताब्दी में ईरानियों, ई० पू०

अनन्तर *तथागत-गुप्त*, *नरसिंह-बालादित्य*, *बुद्धगुप्त* तथा *वज्र* नामक राजाओं ने भी यहाँ विहार बनवाये।

बौद्धधर्म के कट्टर-विरोधी हूण-राजा—*मिहिरकुल* एवं बङ्गाल के राजा—शशाङ्क के द्वारा ई० की छठी शताब्दी में इसे काफी क्षति उठानी पड़ी। किन्तु *ह्वेनस्वांग*—(सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) के भारत में आने तक वह क्षति पूर्ण हो गई थी। इस चीनी यात्री के जीवनी लेखक के वर्णनानुसार नालन्दा के भवनों की सबसे ऊपर की मञ्जिल इतनी ऊँची थी कि वहाँ बैठने वाला दर्शक यह देख सकता था कि बादल किस प्रकार अपनी आकृति बदलते हैं। इस कथन में अतिशयोक्ति भले ही हो, किन्तु नालन्दा की *गगनचुम्बी-विहारावलि* का उल्लेख यशोवर्मा के शिलालेख में भी उपलब्ध होता है।

ह्वेनस्वांग के जीवनी-लेखक के वर्णनानुसार सातवीं शती के द्वितीय चरण मे यहाँ के भिक्षुओं की संख्या १०,००० थी। *इत्सिङ्ग* जो सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में आया था, ने अपने लेख में लिखा है कि नालन्दा में भिक्षुओं की संख्या तीन-हजार से अधिक न थी। सम्भवतः सातवीं-शती में यहाँ की छात्र—संख्या *पाँच—हजार* के लगभग थी।

नालन्दा की खुदाई में भिक्षुओं के कमरे तथा बड़ी-बड़ी भट्ठियाँ मिली हैं। मालूम होता है कि कुछ कमरे एक-एक भिक्षुओं के लिये और कुछ दो-दो के लिये थे। इन सब कमरों में भिक्षुओं के शयनार्थ एक या दो प्रस्तर-शय्यायें, दीपक के लिये एवं पुस्तकों के रखने के लिये ताक भी हैं। सातवीं-शदी के पूर्वार्द्ध में यहाँ गुणमति, धर्मपाल, स्थिरमति, चन्द्रपाल, प्रभाकरमित्र, जिनचन्द्र, शीलभद्र एवं जिनमित्र आदि सुप्रतिष्ठित बौद्ध-आचार्य थे। यहाँ लगभग *एक-हजार* विद्वान् ऐसे थे जो समूचे *बौद्ध-वाङ्मय* की व्याख्या कर सकते थे।

विश्वविद्यालय में प्रतिदिन एक हजार व्याख्यान होते थे। इसमें ८ बड़े-बड़े और ३०० छोटे कमरे थे। उस समय नालन्दा की ख्याति सुदूर-

द्रव्य-गुण की क्रियात्मक-परीक्षा ली थी, किन्तु यह परीक्षा आजकल की परीक्षाओं से भिन्न थी।

तक्षशिला में उपयोगी एवं साहित्यिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इसके अलावा यहाँ *वेदत्रयी* एवं *अठारह-शिल्पों* की भी शिक्षा दी जाती थी। शिल्पों में *धनुर्विद्या* एवं *वैद्यक* प्रमुख थे। वैद्यक की शिक्षा यहाँ बहुत उच्चकोटि की दी जाती थी। यहाँ से शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जीवक ने जो शिर और पेट की शल्य-चिकित्सा-(आपरेशन) की थी, उसे आजकल के बहुत कम शल्य-चिकित्सक कर सकते हैं। यहाँ धनुर्विद्या की शिक्षा एक सुप्रतिष्ठित आचार्य से देश के विभिन्न भागों से आये हुए अनेक राजकुमार ग्रहण करते थे।

तक्षशिला में प्रायः पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी जाया करते थे और लगभग ६ से ८ वर्ष तक यहाँ अध्ययन कर अपने घरों को लौट जाते थे। *बनारस के भूपति* शिक्षा के लिये अपने पुत्रों को यहीं भेजा करते थे। कौशल-राज *प्रसेनजित* ने भी यहीं शिक्षा ग्रहण की थी। जनश्रुतियों के अनुसार सम्भवतः चाणक्य भी यहीं के आचार्य थे। पाणिनि भी पहले यहाँ के छात्र और बाद में गुरु रहे होंगे, ऐसी सम्भावना की जाती है।

"नालन्दा"

प्राचीन-काल का सर्वप्रसिद्ध द्वितीय विश्वविद्यालय—*नालन्दा* पटना के दक्षिण-पश्चिम भाग में चालीस मील की दूरी पर वर्तमान *बड़गाँव* में था। इसका उत्कर्ष गुप्तराजाओं की छत्रछाया मे ई० की पांचवीं शती के मध्य में हुआ। कट्टर हिन्दू-धर्मावलम्बी होते हुए भी *गुप्त-सम्राटों* ने इसके संरक्षण एवं संवर्द्धन में विशेष रूप से योग दिया। शक्रादित्य ने एक विहार की स्थापना करके नालन्दा की नींव रक्खी थी। कई शताब्दियों तक इस विहार का बौद्ध-मन्दिर नालन्दा का प्रमुख देवालय रहा। इसके

था। इत्सिङ्ग के कथनानुसार छात्र उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिये दो या तीन वर्ष के लिये यहाँ अथवा नालन्दा में आया करते थे। बल्लभी में भारतवर्ष के प्रतिष्ठित विद्वान् सब सम्भव एवं असम्भव सिद्धान्तों पर विचार करने के लिये एकत्रित हुआ करते थे। जिस पण्डित का विचार यहाँ के विद्वान् स्वीकार कर लेते थे वह सारे भारतवर्ष में अपनी बुद्धि-मत्ता के लिये प्रसिद्ध हो जाता था। बल्लभी को भी राज्याश्रय प्राप्त था। उन दिनों इसकी इतनी ख्याति थी कि संयुक्त-प्रान्त के व्यक्ति भी अपने पुत्रों को शिक्षा लेने के लिये यहाँ भेजा करते थे।

"विक्रमशिला"

विक्रमशिला-(भागलपुर से पूर्व चौबीस मील दूर पथरघाटा) की स्थापना पालवंशीय राजा धर्मपाल ने आठवीं शताब्दी में की थी। चार सौ वर्षों तक यह पूर्वी-भारत का शिक्षा-केन्द्र प्रकाण्ड विद्वानों को पैदा करता रहा। तिब्बत के साथ इसका विशेष सम्बन्ध था। तिब्बती विद्यार्थियों के लिये यहाँ एक विशेष धर्मशाला भी बनी हुई थी। यहाँ के अनेक आचार्य तिब्बत में जाकर संस्कृत-ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया करते थे। इनमें *श्रीज्ञान* सबसे प्रसिद्ध हैं, वे ११ वीं शती में तिब्बत गये और उन्होंने लगभग २०० पुस्तकें लिखीं एवं अनुवाद किया। बारहवीं शती में विक्रमशिला में ३०० भिक्षु थे। यहाँ इस समय एक विशाल पुस्तकालय भी था। इस विद्यालय में ६-७ पण्डित प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थियों की परीक्षा के लिये नियुक्त थे। यहाँ न्याय, दर्शन, व्याकरण एवं तन्त्र आदि अनेक विषयों का अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था। अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा विक्रमशिला का विद्यालय विशेष रूप से संगठित था। यहाँ की शिक्षा समाप्त करने पर विद्यार्थियों को बङ्गाल के राजाओं के द्वारा उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं। यहाँ विश्व के प्राचीन प्रसिद्ध विद्यार्थियों की स्मृति में विद्यालय के हाल की

देशों तक व्याप्त थी । चीन, तिब्बत, कोरिया एवं मध्य-एशिया आदि से अनेकों छात्र यहाँ अध्ययनार्थ आते थे । इस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होते समय छात्रों की कड़ी परीक्षा होती थी । *ह्वेनस्वांग* के कथनानुसार *बीस* या *तीस* प्रतिशत छात्र ही इसमें उत्तीर्ण होते थे ।

यहाँ *धर्मगञ्ज* नामक एक विशाल पुस्तकालय भी था । पुस्तकों की प्रतिलिपि करने के लिये चीनी-यात्री यहाँ आया करते थे । स्वयं *इत्सिङ्ग* चार-सौ संस्कृत-ग्रन्थों के लगभग ५ लाख श्लोकों की प्रतिलिपि करके यहाँ से ले गया था । *नालन्दा* बौद्धधर्म की महायान-शाखा का केन्द्र होने के कारण प्रधान रूप से यहाँ बौद्धधर्म और दर्शन पढ़ाया जाता था, परन्तु इसके अलावा वेद, तर्कविद्या, व्याकरण, चिकित्सा, अथर्ववेद (जादू सम्बन्धी ग्रन्थ) एवं सांख्य-दर्शन भी पढ़ाये जाते थे ।

नालन्दा ई० की आठवीं शती में भारत का सबसे बड़ा शिक्षाकेन्द्र था । उस समय तक इसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था । इसके आदि आचार्यों ने तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया । नवीं शती में सुमात्रा के राजा *बालपुत्रदेव* ने यहाँ एक विहार बनवाया था । दशवीं शती से लेकर बारहवीं शती तक यहाँ बौद्धधर्म का साहित्यिक कार्य होता रहा, किन्तु ग्यारहवीं शती में पालवंशीय राजाओं ने विक्रम-शिला को प्रोत्साहन दिया, जिससे यह क्षीण होने लगा । इस समय नालन्दा तान्त्रिक-बौद्धधर्म का केन्द्र बन चुका था । बारहवीं शती के अन्त में तुर्कों के आक्रमण से इसका अन्त हो गया । किन्तु यह परम सौभाग्य का विषय है कि भारत के स्वतन्त्र होने पर हमारी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और इस विश्वविद्यालय ने अपना प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त कर लिया है ।

"बल्लभी"

(काठियावाड़ में आधुनिक बल्ला)—

यह भी नालन्दा की तरह सातवीं शती में एक प्रसिद्ध विद्यापीठ

विवाह-संस्कार में कुछ ऐसी बातें हैं जिनका सम्बन्ध *समाज* से है, कुछ का सम्बन्ध *परिवार* से है और कुछ का *वर-कन्या* से है। स्त्री-पुरुष का मिलन प्रकृति का आवश्यक विधान है। यदि विवाह का संस्कार समाज में न बना होता तोभी स्त्री-पुरुष परस्पर के आकर्षण से एक दूसरे से अवश्य ही मिलते। यह मिलना ही विवाह-संस्कार के भीतर बीजमन्त्र की तरह छिपा बैठा है। इसी बीज को लेकर उसपर कई प्रकार का आवरण चढ़ाया गया है। और जीवन की अत्यन्त अनिवार्य भौतिक घटना ने संस्कार के रूप में पारिवारिक एवं सामाजिक चोला पहन लिया है। विवाह का असली कार्य मण्डप में पधारने से शुरू होता है।

प्रत्येक शुभ कार्य में पहले मङ्गलाचरण होता है। अतः विवाह में भी *मंगलाचरण* के बाद ही दूसरा कृत्य कलश-स्थापन होता है। इसके बाद *वर की पूजा* प्रारम्भ होती है, जिसमें वर को आसन; पाद्य—(पैर धोने का जल), आचमनीय–(कुल्ला करने का जल) एवं मधुपर्क–(खाने के लिये शहद एवं घृत युक्त दही) समर्पण किये जाते हैं।

इसके बाद *अग्नि-प्रणयन*–(वेदिका में अग्नि का लाना) होता है। अग्नि भारतीय-सभ्यता का प्रतिनिधि था। अतः विवाह अग्नि-साक्षि कर्म है। इसके बाद का कार्य *परस्पर-समञ्जन* है। इसी का नाम हृदय-समञ्जन या मैत्रीकरण है। दो ऐसे हृदयों को जो एक दूसरे से तटस्थ थे, मिलाने वाला भाव ही विवाह के मूल में है। विश्व की समस्त प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दैवी-शक्तियाँ दो हृदयों को मिलाने में सहायता दें, यही कामना इन मन्त्रों में की जाती है। समञ्जन के बाद विवाह की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया-*कन्यादान* होती है। कन्यादान का संकल्प हो जाने पर जब वर, दान ले लेता है तो पितृकुल का जो अधिकार कन्या पर रहता है, वह समाप्त हो जाता है।

जैसे ही वर कन्यादान स्वीकार करता है, वह उसका हाथ पकड़ कर वहाँ से चल देता है। इसके बाद विवाह की पद्धति यज्ञ की सामान्य पद्धति के अनुसार चलती है। वर-वधू एक दूसरे को अच्छी तरह देख-

दीवारों पर उनके भित्ति-चित्र अङ्कित थे। १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में *मोहम्मद-बिनबख्तियार-खिलजी* की सेना ने इसे दुर्ग समझकर नष्ट कर दिया।

"बनारस"

बनारस इस समय संस्कृत-शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता है, किन्तु आज से करीब २५०० वर्ष पूर्व इसकी यह स्थिति न थी। ई० पू० सातवीं शताब्दी में बनारस के राजाओं के पुत्र भी अध्ययनार्थ तक्षशिला में जाया करते थे। बुद्ध के समय इसका कुछ धार्मिक-महत्त्व अवश्य था। भगवान्-बुद्ध ने अपना धर्म-चक्र प्रवर्तन सारनाथ में ही पहले-पहल किया था। अशोक ने यहाँ अनेक विहार बनवाये थे। हिन्दू-धर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थ होने के कारण यहाँ संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों का आवास था। ११ वीं शती में *अलबेरुनी* के कथनानुसार काशी तथा काश्मीर विद्या के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। यहाँ पण्डित लोग अपने अलग-अलग अध्यापन-केन्द्र चलाते थे। इस बात के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते कि प्राचीन काल में यहाँ कभी विक्रमशिला अथवा नालन्दा जैसी सुसंघटित शिक्षा-संस्थायें रही होंगी।

"विवाह-संस्कार"

भारतीय विवाह-प्रणाली देखने में बहुत जटिल है, किन्तु उसके भीतर छिपी हुई संस्कार की पद्धति अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। विवाह-संस्कार का मुख्य काम मण्डप में होता है। गृह्यसूत्रों को देखने से मण्डप में होने वाले कृत्य का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। विवाह प्राचीन-भारत में आठ प्रकार के होते थे, जिनका उल्लेख आगे मौर्य-कालीन-सभ्यता के वर्णन के अवसर पर किया जा चुका है। यहाँ हिन्दुओं में प्रचलित विवाह पद्धति का ही वर्णन किया जा रहा है।

है कि "तू एकाग्र मन से मेरी बात सुन और मेरे साथ संयुक्त हो, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो।"

(१०)—सुमङ्गली—यह अन्तिम विधि विवाह को आशीर्वाद के साथ समाप्त करती है "यह वधू सुमङ्गली है, आओ, इसे देखो और सौभाग्य का आशीर्वाद देकर कृपया अपने-अपने स्थानों को पधारो"।

"उपनयन"

प्राचीन-काल में ऋषियों ने *उपनयन* और *ब्रह्मचर्य* संस्कार की व्याख्या द्वारा समग्र समाज को शिक्षित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया था। वैदिक-काल में ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री एवं पुरुष दोनों के लिये आवश्यक माना जाता था।

इस *ब्रह्मचर्य-आश्रम* का प्रारम्भ *उपनयन* संस्कार से होता था। उपनयन का अर्थ है—समीप जाना। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर विद्याभ्यास के लिये उसका शिष्य बनता था। उपनयन चिरकाल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये अनिवार्य नहीं था, परन्तु वैदिक-साहित्य के अध्ययन और संरक्षण के लिये बाद में इसे आवश्यक बना दिया गया।

ब्राह्मणों, उपनिषदों और *सूत्रग्रन्थों* के निर्माण के बाद धार्मिक-साहित्य इतना विस्तृत हो गया कि उसके संरक्षणार्थ तीनों वर्णों के लिये उपनयन-संस्कार आवश्यक बना दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्य जाति के समस्त सदस्य कुछ न कुछ वैदिक-ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेते थे। ई० पू० ८०० के बाद वैदिक-ज्ञान इतना जटिल हो चुका था कि उसमें यत्—किञ्चित् प्रवेश के लिये भी प्रारम्भिक-शिक्षा नितान्त आवश्यक थी। अतः मालूम होता है उपनयन-संस्कार आवश्यक होने पर आर्य-जाति में साक्षरता बहुत बढ़ी होगी। दुर्भाग्य-वश ५००-६०० ई० के बाद से शास्त्रकारों ने *क्षत्रिय* एवं *वैश्यों* के लिये उपनयन का निषेध कर दिया, जिससे साक्षरता कम होती गई।

भाल लेते हैं, तब *विवाह-होम* प्रारम्भ होता है, जिसमें कई प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं।

होम के बाद भी कुछ विधियाँ आती हैं, जो लोकाचार से उत्पन्न मालूम पड़ती हैं। उनमें भी काफी रोचकता है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

(१)—**अन्तः-पट**—वर-वधू के बीच में चुपचाप एक कपड़ा तान कर हटा देना।

(२)—**लाजाहोम**—धान की खीलें सामाजिक आचार शुद्धि का चिह्न मानी जाती हैं। लाजाहोम करती हुई नारी कहती है—"मेरा पति आयुष्मान् हो, मेरे कुटुम्ब के लोग बढ़ें और हममें परस्पर एवं समाज के साथ प्रीति-भाव की अभिवृद्धि हो"। इसी का पुराना नाम संवनन था।

(३)—**पाणिग्रहण**—वर के द्वारा कन्या को ग्रहण करने की स्थूल प्रक्रिया।

(४)—**अश्मारोहण**—"पत्थर की तरह तू स्थिर हो" यही भाव इस विधि में निहित है।

(५)—**गाथागान**—इसे प्राचीन-भारत का नारी-यशोगान कहा जा सकता है।

(६)—**अग्निप्रदक्षिणा**—अग्नि के चारों ओर वर-वधू का एक साथ चार परिक्रमा करना।

(७)—**सप्तपदी**—पति-पत्नी का एक साथ सात पैर रखकर चलना एवं सात प्रतिज्ञाएँ करना। सप्तपदी की प्रथा वैदिकी है।

(८)—**ध्रुवदर्शन**—यह भी विवाह-सम्बन्ध में नित्यता, स्थिरता या ध्रुव-भाव भरने के लाक्षणिक प्रयोग का सूचक है।

(९)—**हृदयालम्भन**—यह प्रथा मनोविज्ञान से सम्बद्ध है। पत्नी के हृदय पर हाथ रखकर पति शिव-संकल्प के द्वारा पत्नी को संदेश देता

चौदह फूट ऊँचे हैं। उनपर तेहरी बड़ेरियाँ हैं, जो बीच में कुछ कमानी-दार हैं। बड़ेरियों के ऊपर सिंह, हाथी, धर्म-चक्र, यक्ष और त्रिरत्न (बुद्ध, संघ, एवं धर्म) आदि बने हैं। समूचे तोरणों की ऊँचाई ३४ फूट है। इसीसे इनकी भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। बड़े-रियों के इधर-उधर हाथी, मोर, सिंह, बैल, ऊँट एवं मृग आदि के सजीव-चित्र बने हुए हैं, जो *बोधिवृक्ष* का अभिवादन करते से प्रतीत होते हैं। कहीं हाथी कमल के कुण्डों में क्रीड़ा कर रहे हैं और कहीं पर साधु एवं मुनि ध्यानावस्था में लीन दिखाई देते हैं। ये चित्र पत्थर पर खोदकर उभरे हुए बनाये गये हैं। खम्भों के निचले भागों में अगल-बगल द्वार-रक्षक यक्ष बने हैं। जहाँ खम्भा पूरा होता है वहाँ ऊपर की बड़ेरियों का बोझ सँभालने के लिए चौमुखे हाथी अथवा बौन आदि बने हैं। इनकी भावभंगी बड़ी सुन्दर है। ये तोरण उस युग की संस्कृति एवं जीवन के व्योरों के विश्व-कोष हैं।

एक विशेष बात यह है कि इन तोरणों पर कहीं भी बुद्ध की मूर्त्तियाँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं। उनके स्थान पर स्वस्तिक, चरण, कमल या उंग-लियों आदि के चिह्न बने हुए हैं। यही बात भरहुत में और अंशतः अम-रावती में भी देखने को मिलती है। इसका कारण यह है कि भगवान् बुद्ध अपनी पूजा के विरुद्ध थे और सम्भवतः इसीलिए इस प्रकार की मूर्त्तियों का निर्माण चाहते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को भी अपनी मूर्त्तियाँ बनाने से रोक दिया था।

ये स्तूप के चारों ओर के तोरण या द्वार अति सुन्दर एवं अलंकृत हैं। इनमें भरहुत की भाँति बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध दृश्य एवं जातक-कथायें हैं। इनकी कला भरहुत की कला की अपेक्षा अधिक उन्नत है। शुङ्ग-कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए ये साँची के तोरण या द्वार बहुमूल्य सामग्री प्रदान करते हैं। इनमें से एक द्वार पर सातवाहन राजा का लेख अंकित है।

"परिशिष्ट"

(कुछ परीक्षोपयोगी-प्रमुख-प्राचीन-भारतीय-स्मारक)

(१)—"साँची"—

शुंगकालीन मूर्त्तिकला के सबसे उत्तम नमूने साँची में उपलब्ध होते हैं। यह स्थान भूपाल-राज्य के अन्तर्गत जी० आई० पी० रेलवे की झाँसी-इटारसी शाखा पर इसी नाम के स्टेशन से आधी मील की दूरी पर है। यहाँ पर अनेक अद्वितीय स्तूप हैं, जो कि विभिन्न युगों के हैं। यहाँ का एक महान् स्तूप अति प्राचीन है। विद्वानों का कहना है कि यह प्रारम्भिक बौद्धकाल का याने अशोक से पूर्व का है। इस इमारत के चारों ओर जो पत्थर की बाढ़ लगी हुई है, वह भी सम्भवतः अशोक-काल से पूर्व की है। इसके कुछ स्तम्भ सम्राट-अशोक के समय के भी हैं। यहीं पर अशोक द्वारा निर्मित एक विशाल-स्तूप है। इसके चारों ओर जो पत्थर की बाढ़ है वह ११ फूट ऊँची है।

तोरण—(Gate ways)—

इस *अशोक-स्तूप* के चारों ओर *तोरण* बने हुए हैं और परिक्रमा के लिये *दोहरी-वेदिका* बनी हुई है जो विशेष रूप से दर्शनीय है। ये दोनों वस्तुएँ उस समय की मूर्त्तिकला के मुख्य नमूने हैं। चारों तोरणों पर बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक चित्र हैं। यह भारी प्रस्तर-शिल्प सातवाहनों का बनवाया हुआ है एवं शुंग-काल के आरम्भ या उससे कुछ पहले का जान पड़ता है। उक्त तोरणों में चौपहल खम्भे हैं, जो चौदह-

थी, उसमें पशु-मूर्त्तियों की ही प्रधानता थी, किन्तु भरहुत की प्रस्तर की बाढ़ में लगभग आधी-दर्जन तो बुद्ध के चरित्र से सम्बद्ध ऐतिहासिक दृश्य हैं और ४० के करीब जातक-कथाओं का अङ्कन है। अनेक दृश्यों के नीचे मूर्त्तियों के विषय भी लिखे हुए हैं। ऐतिहासिक दृश्यों में—(१)-चौकड़ी जुते हुए रथ पर बुद्ध के दर्शनों को जाते हुए कोशल के महाराज-प्रसेनजित की सवारी, (२)—उसी निमित्त हाथी पर जाते हुए मगधाधिप-अजातशत्रु की सवारी आदि विशेष आकर्षक हैं। इन दृश्यों का जैसा वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों मे मिलता है वैसे ही ये यहाँ अंकित हैं। इसी प्रकार एक मूर्त्ति में सुदत्त द्वारा जेतवन के क्रय और दान का आकर्षक दृश्य है।

भरहुत में पशु-पक्षियों, नागराज तथा जानवरों की मूर्त्तियाँ बड़ी सजीव और स्वाभाविक हैं। यही हाल वृक्षों की मूर्त्तियों का है, उनमें भी सौन्दर्य और निजस्व है। मानव-जीवन में बरती जाने वाली अनेक वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ भी यहाँ विद्यमान हैं। जैसे—गहने, कपड़े, बर्तन, बाजे, शस्त्रास्त्र, नाव, रथ, पताका आदि। इसमें केवल भक्तिभाव के ही नहीं बल्कि हास्यरस के भी अनेक चित्र हैं। एक स्थान पर बन्दरों का एक दल एक हाथी को गाजे-बाजे के साथ लिये जा रहा है। एक वह दृश्य भी बड़ी हंसी का है, जिसमें एक मनुष्य का दाँत एक बड़े भारी संड़से से उखाड़ा जा रहा है, जिसे एक हाथी खींच रहा है।

ये सब मूर्त्तियाँ उस युग की अन्य मूर्त्तियों की भाँति चिपटे डौल की हैं। अर्थात् जैसे साँची के विषय में कहा जा चुका है कि, ये मूर्त्तियाँ न होकर पत्थर पर काटे हुए चित्र हैं। इनमे भी बुद्ध की मूर्त्तियों का सर्वत्र अभाव है। जहाँ उनका प्रसंग आया है वहाँ चरण-चिन्ह, पादुका, छत्र, धर्म-चक्र आदि से उनका बोध कराया गया है। भरहुत की कला में एक विशेष बात यह है कि वह लोक-कला जान पड़ती है। उसमें वह सुथरापन नहीं है जो अशोकीय स्तम्भो में तथा साँची के तोरणों में है।

(२)–"भरहुत"—

शुङ्गकालीन मूर्त्तिकला में साँची के बाद भरहुत का स्थान है। यह जगह इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में *नागोद-राज्य* में है। ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य में भरहुत में एक *विशाल-स्तूप* की रचना हुई थी। दुर्भाग्यवश यह स्तूप विध्वस्त हो चुका है। अठारह सौ तिहत्तर ई० में *जनरल-कनिंघम* ने यहाँ पर इस स्तूप का अवशेष पाया। इसके तले का व्यास ६८ फूट था। इसके चारों ओर भी पत्थर की बाढ़ थीं, जो अद्भुत मूर्त्ति-शिल्प से अलंकृत थीं। इसका पत्थर लाल रंग का चुनार जैसा रवादार है। स्तूप की ईंटों को आस-पास के गाँव-वालों ने अपने उपयोग के लिये प्रायः साफ कर दिया था। बाढ़ पर की मूर्त्तियों को भी काफी क्षति पहुँची थी। १८७६ ई० तक *कनिंघम* और उसके दल ने वहाँ खुदाई की और खुदाई में प्राप्त अधिकांश मूर्त्तियुक्त पत्थरों को, इस स्तूप की पत्थर की बाढ़ों के कुछ भाग को एवं इसके एक तोरण को कलकत्ता-संग्रहालय में भेजकर बचा लिया। वहाँ जो कुछ अवशिष्ट रह गया था, वह इधर-उधर हो गया। हाल में इसका कुछ अंश इलाहाबाद-संग्रहालय के प्राण श्री *ब्रजमोहन-व्यास* ने अपने संग्रहालय के लिये बड़े परिश्रम से प्राप्त किया है, जिसमें का एक टुकड़ा उन्होंने भारत-कला-भवन, काशी को भी दिया है।

इस स्तूप की बाढ़ बहुत विशाल थी। इसकी ऊँचाई सात फूट एक इञ्च है। इस बाढ़ के प्रत्येक अंश पर बौद्ध-कथाओं के चित्र, अलंकरण, गोमूत्रिका, फुल्ले तथा यक्षिणी आदि के चित्र बने हैं। वहाँ के पूर्वीय-तोरण पर उट्टङ्कित एक लेख से विदित होता है कि शुङ्गकाल में इस स्तूप की रचना हुई होगी। भरहुत-शिल्प का जो वर्णन कनिंघम ने किया है वह आज भी प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है। *कनिंघम* के कथनानुसार भरहुत की मूर्त्तियों के विषय विभिन्न हैं। इससे भारतीय कला में एक नई प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। अशोक-कालीन बौद्धकला बहुत सादी

बुद्ध-मूर्त्तियाँ बनाने लगे। ये सब मूर्त्तियाँ प्रायः काले स्लेट के पत्थर की बनी हैं तथा कुछ चूने मसाले की बनी हैं। इस प्रकार की हजारों मूर्त्तियाँ *अफगानिस्तान, तक्षशिला* एवं *उत्तर-पश्चिमी-सीमाप्रान्त* में उपलब्ध हुई हैं। *गान्धार-देश* में उत्पन्न होने के कारण इस शैली को *गान्धार-शैली* कहा जाता है।

उस समय गान्धार ऐसा देश था जहाँ *एशिया* तथा *योरोप* की विभिन्न सभ्यतायें परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आती थीं। *पूर्व* से भारतीय और *पश्चिम* से यूनानी, रूमी, ईरानी एवं शक संस्कृतियों का यहाँ पर सङ्गम होता था। पश्चिम से आनेवाली संस्कृतियों में यूनानी-संस्कृति ही प्रधान थी और इसी का सर्वाधिक-प्रभाव भारतीय-संस्कृति पर पड़ा, इस प्रकार *पश्चिम* तथा *पूर्व* की कलाओं के सम्मिश्रण से *गांधार-शैली* की कला का प्रादुर्भाव हुआ।

इसके विषय तो भारतीय हैं, किन्तु हाथ एवं कलम यूनानी हैं सरसरी तौर से देखने पर इनका सम्बन्ध यूनानी-कला से प्रतीत होता है। अतः गन्धार-शैली को *हिन्द-यूनानी* कला भी कहा जाता है। यूनान को सभ्यता का अधिक स्रोत समझने वाले यूरोपियन-विद्वानों ने इस शैली को अधिक महत्त्व दिया है। आज से लगभग दो-तीन शतक पूर्व प्राचीन-भारत में केवल इसी शैली को वास्तविक एवं कलात्मक-शैली समझा जाता था। अब भी अनेक विद्वानों का यही मत है कि समस्त भारतीय-मूर्त्तिकला का आधार गान्धार-कला ही है, किन्तु नई खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि इस शैली का परवर्ती शैली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

गान्धार-शैली के मूलतत्त्व भारतीय है, इसमें यूनानी-मूर्त्तिकला की वास्तविकता एवं भारतीय-कला की भावपूर्ण-आध्यात्मिक-अभिव्यञ्जना का प्रयास किया गया है। गान्धार-शैली की कई अपनी विशेषतायें हैं। इनमें *प्रथम-विशेषता* मानव-शरीर का वास्तववादी दृष्टि-कोण से चित्रण है। इसमें अङ्ग-प्रत्यङ्ग एवं मांस पेशियों को अति सूक्ष्म रूप से

शुङ्गकालीन मूर्त्तियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१)-पूर्ववर्ती—जिन्हें मौर्य-शुङ्गकालीन कहा जा सकता है, जिनके प्रमुख उदाहरण साँची के तोरण हैं। इस शैली में अशोक की राजकला की झलक दृष्टिगोचर होती है। (२)-शुङ्गकालीन लोककला है, जिसके अन्तर्गत भरहुत की कला आती है।

भरहुत के चित्र हमारे भारतवर्ष के आमोद-प्रमोद-पूर्ण लोकजीवन का वास्तविक दिग्दर्शन कराते हैं। उनमें धर्म-ग्रन्थों के दुःख और निराशावाद की जरा भी झलक नहीं है। कला की दृष्टि से भरहुत की मानवीय मूर्त्तियाँ-आकार और आसन मे दोष पूर्ण हैं। उनमें चटपटापन है, किन्तु समग्र-रूप से ये तत्कालीन धार्मिक-विश्वास, पहनावे आदि पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं।

(३)-"गान्धार-शैली की स्थापत्य-कला"—

लगभग १२०—१२५ ई० पू० शकों का प्रथम प्रवाह भारत की ओर आया था। इसके बाद ५० ई० पू० के लगभग शकों का दूसरा प्रवाह आया। इन्हीं के साथ इनका एक पड़ोसी तुखारों का खोंप भी आया था। कुछ दिन बाद इनमें से एक का सरदार कुषाण बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति हुआ, जिसने अन्य चार शक-रियासतों एवं अन्यान्य राज्यों को भी अपने राज्यमें मिला लिया। कुषाण बौद्ध था। कुषाण का पुत्र विमक-फ्स था। इसका उत्तराधिकारी कनिष्क हुआ। यह बौद्धों की महायान-शाखा का अनुयायी था। पेशावर तथा अनेक अन्य स्थानों पर कनिष्क ने कितने ही स्तूप एवं विहार आदि का निर्माण करवाया था।

यह कुषाण-काल या शक-काल मूर्त्तिकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। जिस समय मथुरा के मूर्त्तिकार भगवान्-बुद्ध की प्रतिमा बना रहे थे, लगभग उसी समय उत्तर-पश्चिमी-भारत (गान्धार) में कुषाण-वंशीय राजाओं के प्रोत्साहन से वहाँ के मूर्त्तिकार एक विशेष प्रकार की

साथ २ चल रही थी। कुषाण काल में यह दोनों एक हो गई, अर्थात् कुषाणों का आश्रय पाकर यहाँ केवल राजकला ही रह गई। प्राक्-कुषाण-कालीन या शुङ्ग-कालीन कला मुख्यतया जैन सम्प्रदाय की है, किन्तु ब्राह्मणों के विषय भी उसमें उपलब्ध होते हैं। इस काल के अवशेषों में जैन-स्तूपों के जो रूप मिलते हैं वे बौद्ध-स्तूपोंके सदृश ही हैं। मथुरा-शैली के *पुराने* तथा *पिछले* दो भाग किये जा सकते हैं। *पुराने-काल*-(प्राक्-कुषाण-काल) की मूर्त्तियाँ प्रायः भरहुत जैसी एवं काफी अनगढ़ हैं, किन्तु *पिछले-काल* में अर्थात् कुषाण-काल में ये परिष्कृत हो जाती हैं। इस समय की मथुरा की मूर्त्तियों का चित्रण ठीक *भरहुत* की मूर्त्तियों जैसा किया जा सकता है। प्राक्-कुषाण-कालीन-कला के उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

(क)—परखम की यक्ष-प्रतिमा—

भारत की प्राचीनतम यक्ष-मूर्त्तियों में मथुरा जिले के *परखम-गाँव* से मिली हुई यक्ष की विशाल-मूर्त्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस मूर्त्ति की पैर चूमने वाली *धोती*, *कटिबन्ध*, *काय-बन्धन* एवं *वक्ष-बन्धन* तत्कालीन वेष-भूषा का परिचय देते हैं। इने-गिने किन्तु बहुमूल्य आभूषणों को धारण करने वाली ये विशाल-काय यक्षप्रतिमायें भारत की प्राचीनतम कला के गौरव की साक्षी हैं। मथुरा में और भी यक्ष की प्रतिमायें मिली हैं, किन्तु उनमें अधिकतर खण्डित हैं।

(ख)—बोधिसत्त्व की मूर्त्ति—

लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित *बोधिसत्त्व* की मस्तकहीन मूर्त्ति अपनी विशालता एवं सुन्दरता के कारण भारतीय-कला के इतिहास में अमर बनी है।

एवं सावधानी से अङ्कित किया गया है। *दूसरी-विशेषता* यह है कि मूर्त्तियों को मोटे वस्त्र धारण करवाये गये हैं। तथा उनकी सलवटों को सूक्ष्मता के साथ अभिव्यक्त किया गया है।

यूनानी-कला *वास्तव-वादी* एवं भारतीय-कला *आदर्श-वादी* है। प्रथम नैतिक और दूसरी आध्यात्मिक है। गान्धार-शैली इन दोनों कलाओं का सम्मिश्रण है, जैसा कि आगे भी कहा जा चुका है। *गान्धार-कलाकार* की *आत्मा एवं हृदय* भारतीय थे, किन्तु *बाह्य-शरीर* यूनानी। यह शैली मध्य-एशिया होती हुई चीन एवं जापान तक पहुँची और इसने उन देशों की कलाओं को भी प्रभावित किया।

महायान-सम्प्रदाय के नेताओं ने गान्धार-शैली को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्त्ति कुछ विद्वानों के मतानुसार गान्धार-शैली में ही बनी, किन्तु कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। गान्धार-शैली की मूर्त्तिकला का मुख्य उद्देश्य बौद्धधर्म को नवीनतम रूप प्रदान करना था। वस्तुतः गान्धार-मूर्त्तिकला की शैली बुद्ध जी के जीवन एवं कार्यों का सजीव चित्रण है।

पहले यह समझा जाता था कि भगवान्-बुद्ध की मूर्त्ति सर्वप्रथम इन्हीं कलाकारों (गान्धार शैली के कलाकारों) ने बनाई, भारतीयों ने इसका अनुकरण किया, किन्तु अब यह सिद्धान्त अमान्य हो चुका है। यह कहा जा चुका है कि मथुरा के मूर्त्तिकारों ने इसका स्वतन्त्र रूप से विकास किया। मथुरा एवं बनारस आते-आते बुद्ध की प्रतिमा गान्धार-शैली के प्रभाव से मुक्त होकर शुद्ध भारतीय हो गई।

(४)—"मथुरा की पूर्व-कुषाण-कालीन-कला"—

मथुरा प्राचीन-काल से ही भारत का एक प्रमुख कला-केन्द्र रहा। *शुङ्गकाल* में यहाँ *भरहुत* की लोक-कला एवं साँची की उन्नत शैली

मूर्त्तियों में कहीं भी गान्धार-शैली की छाया नहीं मिलती। शृङ्गार-रस-प्रधान मूर्त्तियों की भाव-भङ्गी तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गों में वही अत्युक्ति, जो पहले से चली आ रही थी, इस समय भी विद्यमान थी। कुषाणकालीन मथुरा की बुद्ध या बोधिसत्त्व की मूर्त्तियों में अधिकतर खड़ी मूर्त्तियाँ हैं, जिनकी ऊँचाई एवं शैली स्पष्ट रूप से *शिशुनाग-मूर्त्तियों* या खड़ी *जैन-मूर्त्तियों* के सदृश हैं। यदि इस प्रकार की मूर्त्ति के लिए मथुरा के शिल्पी गान्धार-शैली के ऋणी होते तो इसमें उक्त परम्परा न होती। इसी तरह पद्मासन में स्थित मथुरा की मूर्त्तियों में वह परम्परा विद्यमान है, जो मोहेंजोदड़ो से होती हुई जैन-मूर्त्तियों में दृष्टिगोचर होती थी। अलङ्करणों मे भी भारतीय अभिप्रायों के साथ-साथ केवल वे ही अलङ्करण है जिनका मूल लघु-एशिया मे विद्यमान था एव जो चिरकाल से भारतीय-मूर्त्तिकला मे चल रहे थे, इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मथुरा-शैली पर यूनानी प्रभाव बिलकुल नहीं है।

कुषाण-राजाओं का एक देवकुल-(मृतराजाओं का मूर्त्तिगृह) मथुरा में था। उसमे की कई कुषाण राजाओं की मूर्त्तियों के अवशेष मिले हैं, जिनमें छाती पर से ऊपर की ओर खण्डित कनिष्क की प्रतिमा मुख्य है। इन मूर्त्तियों मे भी गान्धार-शैली का कहीं स्पर्श तक नहीं है, साथ ही मथुरा की यदि निजी मूर्त्ति-शैली न होती या गान्धार-शैली उस समय की प्रमुख शैली होती तो सम्राटों की उक्त मूर्त्तियाँ गान्धार-शैली मे ही बनी होती। मथुरा मे कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ अवश्य मिली हैं, जो या तो गान्धार-शैली का मूर्त्तियों की प्रतिकृतियाँ हैं अथवा उस शैली से प्रभावित हैं, किन्तु ऐसी मूर्त्तियों के अत्यल्प होने के कारण केवल इन्हीं के आधार पर मथुरा का शैली को गान्धार-शैली से प्रभावित कहना असङ्गत है।

कुषाण-कालीन मथुरा की मूर्त्ति-कला के उदाहरणों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उन पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। अतः यहाँ

(ग)—बलराम की मूर्त्ति—

शुङ्ग-कालीन पगड़ी पहने हुए, हाथों में हल एवं मुसल लिए बलराम की मूर्त्ति, जिसके मस्तक पर शेष बना हुआ है शुङ्गकालीन (प्राक्कुषाण कालीन) कला का सुन्दर नमूना है।

(घ)—इनके अलावा कितने ही वेदिका-स्तम्भ, द्वारस्तम्भ, सूचिकायें तोरणों की धनियाँ आदि मथुरा की खुदाई में मिली हैं, जो प्रमाणित करती हैं कि प्राक्-कुषाण काल में मथुरा की कला कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी।

(५)—"मथुरा की कुषाण-कालीन-कला"—

गान्धार की भाँति मथुरा भी कुषाण-काल में एक बहुत बड़ा मूर्त्ति-केन्द्र था। वहाँ की शुङ्गकालीन कला का उल्लेख किया जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि प्राक्-कुषाण काल में मथुरा में भरहुत एवं साँची दोनों की शैलियाँ साथ-साथ चल रही थी, किन्तु कुषाण-काल में आकर ये दोनों शैलियाँ एक हो गईं। उनमे चिपटापन इस समय दूर हो गया था, किन्तु भरहुत के अलङ्करण एवं अभिप्राय अब भी बने रहे।

इस समय की असख्य मूर्त्तियाँ मथुरा में उपलब्ध हुई हैं और भविष्य में भी होती रहेंगी। ऐसा विदित होता है कि मानो मथुरा ऐसी मूर्त्तियों का सहज आकर हो। ये सभी मूर्त्तियाँ सफेद चित्तीवाले लाल रवादार पत्थर की है,—जो भरतपुर, सीकरी की खुदानों में मिलता है। इस नवीन कला के प्रमुख उदाहरण मथुरा की बुद्धमूर्त्ति, जैनों का कङ्काली टीले वाला प्रसिद्ध स्तूप एवं सम्राट्-ह्विश्क के बनाये हुए बौद्धविहार है।

यक्ष, यक्षिणी, वृक्षिका, अमरयुग, क्रीड़ादृश्य, मन्दिरों, विहारों एवं स्तूपों के साथ-साथ अब मूर्त्तियों के विषयों मे बुद्ध की खड़ी हुई तथा पद्मासन लगाई हुई प्रतिमाएँ भी सम्मिलित हो जाती हैं, इन सब

उसके ऊपर आदरार्थ एक क्षत्र स्थापित कर दिया जाता था। उसके चारों ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दिया जाता था। इस घेरे में चारों ओर तोरण या द्वारों का निर्माण किया जाता था। अशोक ने भगवान्-बुद्ध की स्मृति में ऐसे चौरासी-हजार स्तूपों का निर्माण करवाया था। इनके अलावा विभिन्न कालों-में विभिन्न स्थलों पर बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने अनेकों स्तूपों का निर्माण करवाया था। वर्तमान समय में स्तूप के उत्कृष्ट उदाहरण—*साँची*, *भरहुत* एवं *सारनाथ* के स्तूप हैं, जिनका उल्लेख तत्तत्स्थलों पर किया गया है। अतः यहाँ पुनः उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। इनका अध्ययन उन्हीं प्रकरणों मे किया जाय।

(७)—"चैत्य या गुहामन्दिर"—

सामूहिक *पूजागृहों* या *गुहा-मन्दिरों* को ही *चैत्य* कहा जाता है। प्राचीन काल मे बौद्ध-धर्मानुयायियो ने *स्तम्भ* एवं *स्तूपों* की तरह *चैत्यों* का भी निर्माण करवाया था। मौर्यकाल में सम्राट *अशोक* एवं उसके पौत्र दशरथ ने भिक्षुओं के लिए अनेकों चैत्यों का निर्माण करवाया था। ये *गुहामन्दिर* गया से १६ मील उत्तर में *बरबरा* नामक स्थान पर स्थित हैं। ये गुहायें बहुत ही कड़े तेलिया पत्थर की है, जिनका काटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य था, किन्तु अशोक ने इन पत्थरों को कटवा कर केवल गुहायें ही नहीं बनवाई, बल्कि इनकी भीतों पर काँच की तरह चमकदार ओप-(पालिश) भी की गई है। ओपकी यह लुप्तकला यहाँ अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई हैं। अशोक के पौत्र दशरथ की कटवाई हुई एक गुफा बरबरा पर्वत में हैं, इसे *लोमसऋषि* की गुफा कहते हैं। इसके द्वार के महराव में हाथियों की एक सुन्दर अवली बनी है और भीतर की भीतों पर चमकदार ओप-(पालिश) लगी है। इनके अलावा अशोक ने *बोधिगया* नामक स्थान पर एक चैत्य बनवाया था, किन्तु समय की गति से यह नष्ट हो गया और आजकल

उसका केवल एक प्रमुख एवं प्रसिद्ध उदाहरण जो इस शैली का प्रतिनिधि एवं भारतीय मूर्त्तिकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से एक है, उसी का उल्लेख किया जा रहा है—

यह चित्तीदार लाल पत्थर का बना हुआ एक *मूर्त्तिस्तम्भ* है जिसकी ऊँचाई ३८१/२" है। इसके सामने वाले भाग में एक-स्त्री खड़ी है। उसके मुखमण्डल पर जो प्रसन्नता, गाम्भीर्य एवं शान्त-स्मित है, वह अनुपम है। नेत्रों मे विमल निकास है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल हैं तथा खड़े होने की मुद्रा अत्यन्त सरल एवं निर्विकार है। इस स्त्री के दाहिने हाथ में एक पात्र है जिसे भृङ्गार कहते थे। इसमें राज-रानियों के लिए सुगन्धित जल रखा जाता था। इसके बाएँ हाथ पर एक पिटारी है, जिसमें राज-महिषियों के शृङ्गार की सामग्री रखी जाती थी। उक्त मूर्त्ति के हाथों में इन वस्तुओं के होने के कारण ज्ञात होता है कि यह *प्रसाधिका* की मूर्त्ति है, जिसका कार्य प्राचीनकाल में रानियों के प्रसाधन की सामग्री लिए हुए उनकी सेवा में उपस्थित रहना था। मूर्त्ति के ठीक पीछे एक खम्भा बना है जिसके ऊपरी परगहे में पंख वाली चार सिंह-नारियाँ बनी हैं उनके ऊपर एक खोखला कटोरा है। यह एक अलंकरण-मूर्त्ति है जो किसी उद्यान या प्रासाद की सजावट के काम में आती रही होगी।

(६)—"स्तूप"—

महात्मा-बुद्ध के सम्पर्क में आने वाले पवित्र स्थानों एवं उनकी पवित्र भस्म पर स्तूपोंका निर्माण किया गया था। ये स्तूप उलटे कटोरे के आकार के पत्थरों तथा ईंटों के ठोस गुम्बज होते थे। वैदिक-काल से शव को बिना जलाकर या जलाकर उनको ढक कर ऊपर से जो तूदा बनाने की पद्धति चली आ रही थी, उसीका कुछ विकसित रूप यह स्तूप था। प्राचीन स्तूपों से मौर्य-स्तूपों में यह विशेषता थी कि इनकी सुरक्षा के निमित्त इनके बाहर से चौखुंटी बाड़ लगा दी जाती थी

वाले उपरोक्त स्तम्भ की स्थापना की थी। यह *गुहामन्दिर* आन्ध्रवंशीय राजाओं के समय बनवाया गया था, जो कि तत्कालीन स्थापत्य-कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

(९)—"बोगाजकोई-शिलालेख"—

(Boghazkoi Inscript)—

एशिया-माइनर के अन्तर्गत *बोगाजकोई* नामक स्थान है। यह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का है। इससे वेदों के काल-निर्णय में पाश्चात्य विद्वानों को पर्याप्त सहायता मिली है। सन् १९०७ में इसी स्थान पर खुदाई म कुछ *मिट्टी-की-गोलियाँ* मिली हैं। उन गोलियों को *हिट्टाइट*-(हित्ती) राजधानी से प्राप्त करके पाश्चात्य-विद्वान् *ह्यूगो विंकलर* ने देखा कि उन पर १४०० ई० पू० मे राजवंश के अन्तर्गत होने वाली सन्धि के अवसर पर राज-परिवार के देवताओं के साथ-साथ मित्र, इन्द्र, वरुण आदि *वैदिक-देवताओं* के नाम भी सन्धि-अक्षरों के रूप में उट्टङ्कित हैं, जिनके आधार पर उन्होंने कुछ नवीन खोज की थी; जिससे कि वेदों के काल-निर्णय के विषय में कुछ नवीन प्रकाश मिला। उपरोक्त *राजवंशीय-सन्धि* ई० पू० १४०० में हुई थी। अतः इन गोलियों पर अङ्कित वैदिक देवताओं की मूर्त्तियों के आधार पर *विण्टर-निज, जैकोबी* आदि पाश्चात्य विद्वानों को वेदों के काल निर्णय में जैसा कि आगे भी कहा जा चुका है पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। इस प्रकार हम देखते है कि ऐतिहासिक दृष्टि से *बोगाजकोई* नामक स्थान तथा इसमे प्राप्त मिट्टी की गोलियाँ बड़े महत्त्व की है।

(१०)—"बोधिसत्त्व"—

यद्यपि प्राचीन-भारतीय *स्मारकों* के वर्णन के अवसर पर *बोधिसत्त्व* की चर्चा अप्रासाङ्गिक सो प्रतीत होती है, फिर भी प्राचीन-भारतीय-

इसके स्थान पर एक सुन्दर मन्दिर खड़ा है। मौर्य-सम्राटों के अलावा अन्य बौद्धों ने भी साधुओं के लिये गुहा-मन्दिरों-(चैत्यों) का निर्माण करवाया था। वर्त्तमान समय में चैत्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण, जिससे चैत्य के स्वरूप का ज्ञान हो सके *कार्ली-चैत्य* है। इसका उल्लेख स्वतन्त्र रूप से नीचे किया जा रहा है। *उड़ीसा* में भी ऐसे अनेकों गुहामन्दिर-(चैत्य) हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

(८)—"कार्ली-चैत्य-हाल"—

कार्ली की प्रसिद्ध गुफा बम्बई-पूना लाइन पर मलवली स्टेशन से ३-४ मील पूर्व है। यह गुफा पहाड़ के मध्य सड़क से प्रायः दो फर्लाङ्ग ऊँचे पर है, जो कि चैत्य-(गुहामन्दिर) के रूप में बनी हुई है। इसकी बगल में कई छोटे २ विहार भी हैं। यह चैत्य-हाल-(गुफा) १२६ फूट लम्बा तथा ४५ फूट ७ इञ्च चौड़ा है। इसका मध्यभाग २५ फूट ७ इञ्च चौड़ा है। मध्य-भाग मे दोनों तरफ १५-१५ स्तम्भ बनाये गये हैं। प्रत्येक स्तम्भ के ऊपरी-भाग मे हाथियों की दो-दो मूर्त्तियाँ हैं। इन हाथियों पर बैठी हुई प्रायः एक स्त्री, एक पुरुष अथवा दो स्त्रियों की सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। *वेदी* के पीछे सात स्तम्भ सादे है। इसकी छत अर्ध-गोलाकार है। ऊपर के छेद से होकर प्रकाश आता है, जो सबसे अधिक वेदी पर पड़ता है।

इसके बाहर की ओर उन राजा और रानियों की मूर्त्तियाँ बनी हैं, जिनके समय मे ये गुफाये छेनी से पत्थर को काटकर बनाई गई थीं। इनके ऊपरी भाग में काठ की बड़ी २ शहतीरें लगी हुई थीं, जो अब प्रायः नष्ट हो गई हैं।

गुफा के बाहर एक सुन्दर पत्थर का स्तम्भ बना हुआ है। इस गुफा में कई लेख हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व तुशवदत्त ने यह गुहा-मन्दिर बनवाया था तथा *अजमित्र* ने इसके बाहर

(११)—"उड़ीसा की गुफायें"—

मौर्योत्तर-युग के अनेकों गुहामन्दिर उड़ीसा में विद्यमान हैं। पहाड़ों को काटकर उनके अन्दर विशाल-मन्दिर, विहार या चैत्य खुदवाये गए हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड़ ही प्रतीत होते हैं, किन्तु द्वार से अन्दर जानेपर विशाल-भवन से दिखाई देते हैं। उड़ीसा के ये *गुहामन्दिर* जैनों के हैं। उड़ीसा के *उदयगिरि* तथा *खण्डगिरि* मे इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफायें हैं, जिनमें मूर्त्ति-शिल्प भी है। इनमें *हाथी-गुम्फा* तथा *रानीगुम्फा* के मन्दिर सबसे प्रसिद्ध हैं। *हाथीगुम्फा* इस कारण महत्त्व की है कि उसमें कलिङ्ग-सम्राट *खारवेल* का प्रसिद्ध *शिला-लेख* उत्कीर्ण है, जो भारत के ऐतिहासिक लेखों में उत्कृष्ट स्थान रखता है। *रानीगुम्फा* दो मञ्जिली है और इसके द्वार पर मूर्त्तियों का एक लम्बा पट्टा है, जिसकी मूर्त्तिकला अपने ढङ्ग की अनोखी है। उसे देखकर यह ज्ञात होता है कि वह पत्थर की मूर्त्ति न होकर एक ही साथ चित्र एवं काठ पर की गई नक्काशी है।

उड़ीसा मे आज भी काठ पर ऐसा काम होता है जो रंग दिया जाता है और तब उभरा हुआ चित्र जान पड़ता है। विद्यमान उदाहरणों से अवगत होता है कि वहाँ उस समय भी ऐसा काम होता था, जैसा कि उक्त पट्टे से स्पष्ट है। इस दृष्टि से यह पट्टा महत्त्वपूर्ण है। इन दो गुफाओं के अलावा *उड़ीसा* में—मञ्चापुरी-गुम्फा, गणेश-गुम्फा, जय-विजय-गुम्फा, अलकापुरी-गुम्फा आदि अनेकों *गुहा-मन्दिर* पाये जाते हैं। *मञ्चापुरी-गुम्फा* मे सम्राट-खारवेल की *रानी* का तथा राजा *वक्रदेवश्री* का भी लेख मिला है। ये गुहा-मन्दिर प्रायः सभी शुङ्गकाल में बनाये गये थे। इनमें मूर्त्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। इन मूर्त्तियों में सार्वजनिक-जीवन का उल्लेख तथा जैन-तीर्थङ्करो के चित्र एवं उनकी धार्मिक-शिक्षायें भी उल्लिखित हैं। इन मूर्त्तियो को देखने से पता चलता है कि शुङ्गो के समय मे भी कला की पर्याप्त उन्नति हुई।

स्मारकों का बुद्ध एवं बोधिसत्त्व से विशेष संसर्ग होने के कारण यहाँ संक्षेप में बोधिसत्त्व का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है।

बोधिसत्त्व का आदर्श बौद्धधर्म का मथा हुआ मक्खन है। बोधिसत्त्व वह व्यक्ति है जो केवल अपने लिये मोक्ष की कामना नहीं करता, किन्तु प्राणिमात्र के कल्याण के मार्ग पर चलना चाहता है। जो केवल अपने दुःख की निवृत्ति नहीं चाहता, बल्कि सबको दुःखों से मुक्त कराना चाहता है।

बोधिसत्त्व का ज्ञान उसे संसार से निवृत्त नहीं करता, अपितु संसार के संघर्ष में सामने आकर उसे जीतने के लिये प्रेरित करता है। बोधिसत्त्व का आदर्श बौद्धधर्म के उदय एवं प्रचार का महान् कारण बना। स्वयं *भगवान्-बुद्ध* के जीवन मे *बोधिसत्त्व* की चित्तवृत्त थी। ज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान्-बुद्ध ने संकल्प किया कि "यह *आर्यज्ञान* जो मुझे प्राप्त हुआ है इसमें मैं प्राणिमात्र को साझीदार बनाऊँगा"। इसी उद्देश्य को लेकर बुद्ध ने *आर्य-सत्य-चतुष्टय* (चत्त्वारि-आर्यसत्यानि) एवं *अष्टाङ्गिक-मार्ग* का उपदेश दिया। पैंतीस वर्षों तक वे सबको समान रूप से यह प्रसादी बाँटते रहे।

बोधिसत्त्व के आदर्श के मूल में व्यक्तिगत चरित्र को ऊँचा उठाने की भावना निहित थी। राजा *दिलीप*, *जीमूतवाहन* आदि की भावना इसी *बोधिसत्त्व* के आदर्श से प्रेरित थी–जिसकी महिमाओं का गान जातक-कथाओं में मिलता है। बोधिसत्त्वों के रूप में मानों भगवान्-बुद्ध की अपार गुण-सम्पत्ति प्रकट हो रही थी। इसी कारण समाज में बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं की पूजा होने लगी। मथुरा की शिल्पकला में सर्वप्रथम बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं, गुप्तकाल में अजन्ता की गुफा में बनी हुई बोधिसत्त्व की प्रतिमा तत्कालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इनके अलावा और भी अनेकों बोधिसत्त्व की प्रतिमायें मिली है।

या वर्तमान उत्तरप्रदेश तथा *विहार-का-कुछ-भाग* है। कुछ लोग मनुष्य का प्रथम सृजन *त्रिविष्टप*-(तिब्बत-भारतवर्ष) में मानते हुए इसी को आर्यों का आदि देश सिद्ध करते हैं।

जो कुछ भी हो भाषा-विज्ञान के आधार पर आर्यों के मूल-निवास-स्थान पर रहने वाले आदिम निवासियों को भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञों ने "*वीरोस*" नाम दिया है, क्योंकि संस्कृत "*वीर*" लैटिन "*उईर*" जर्मन "*वेर*" प्राचीन-आइरिश "*फेर*" आदि सभी शब्द एक ही मूलशब्द के उत्तरकालीन विकसित रूप हैं।

ये *वीर* सम्भवतः अपना आदि देश छोड़ने के पूर्व एक ही जाति के थे। *यूराल-पर्वत* के दक्षिण के विशाल-मैदान के जङ्गलों में अश्व पाया गया था। वीरों ने उसे पालतू बनाकर अपने वाहन का साधन बनाया था। अतः यह अनुमान किया जाता है कि *यूरालपर्वत* पर वीरों की एक शाखा रही होगी, जो बाद में *ईरान* तथा *भारत* को गई और अवशिष्ट वीर पश्चिम की ओर जाकर *पोलेण्ड* में बस गए होंगे। यह संक्रमण की घटना सम्भवतः २५००–२००० ई० पू० में हुई होगी, क्योंकि आर्यों का सर्व-प्रथम उल्लेख प्रायः १४०० ई० पू० के *वोगाजकोई* के लेख में उपलब्ध होता है।

प्राप्त-प्रमाणों के आधार पर अवगत होता है कि पशुपालन एवं शिकार इन वीरों की जीविका के मुख्य साधन थे। दक्षिण के प्रदेशों में आकर इन्होंने कृषि करना सीखा। गाय का परिचय इन्हें सुमेरी-जाति से हुआ। समाज का सङ्गठन इन लोगों में पितृ-प्रधान था। बहु-विवाह की प्रथा नहीं थी। कई परिवार मिलकर गोत्र कहा जाता था। इनका मानसिक विकास उच्च कोटि का था। कन्या का विवाह स्वेच्छा से न होकर माता-पिता-भाई आदि की इच्छा से होता था। धार्मिक-क्षेत्र में अदृष्ट-दैवी-सत्ता पर इन्हें विश्वास था और इसकी विविध देवशक्तियों के रूप में ये कल्पना किया करते थे। इन वीरों के अनुसार *पृथ्वीलोक*

(१२)—"लौरिया-नन्दगढ़"—

सम्राट अशोक ने शिलाओं, पत्थर की ऊँची लाटों, गुहाओं तथा स्तम्भों पर अनेकों शिलालेख खुदवाये थे। इन लेखों में चतुर्दश-शिलालेख, लघुशिलालेख, भाब्रू का लेख तथा सप्त-स्तम्भलेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं सप्त-स्तम्भलेखों में *लौरिया-नन्दगढ़* का लेख भी सम्मिलित है। लौरिया-नन्दगढ़ बिहार के चम्पारन जिले में है।

चम्पारन के राधिया नामक ग्राम के २½ मील दक्षिण-पूर्व में *अर-रान-महादेव* का मन्दिर है। वहाँ से एक मील के लगभग *लौरिया-नन्दगढ़* नामक स्थान है। इस स्थान के उत्तर-पश्चिम में नैपाल-राज्य की तरफ जाते हुये *लौरिया-नन्दगढ़* का *स्तम्भ* दिखाई पड़ता है। इसी स्थान पर *"पिप्पलीवन"* का प्रसिद्ध स्तूप भी प्राप्त हुआ है। *लौरिया-नन्दगढ़* के निकट ही *"रामपुर्वा-स्तम्भ"* भी है इन तीनों स्तम्भों पर लेख खुदवाने का अभिप्राय नैपाल जाने वाले यात्रियों का ध्यान आकृष्ट करके उन्हें *बौद्ध-धर्म* की ओर प्रवृत्त कराना था। *लौरिया-नन्दगढ़* स्तम्भपर छः लेख उत्कीर्ण हैं। और रामपुर्वा की *लाटपर* केवल चार लेख उत्कीर्ण हैं। पूरे सातों लेख केवल *दिल्ली* के *"टोपरा-स्तम्भ"* पर ही उत्कीर्ण हैं।

(१३)—"वीरोस"—(Wiros)—

आर्यों के मूल निवास स्थान के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ पाश्चात्य-विद्वानों के मतानुसार आर्यों का मूल-निवास-स्थान *मध्यएशिया* है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं के आधार पर लोक-मान्य बालगङ्गाधर-तिलक आर्यों का आदि-देश *उत्तरीध्रुव* के आसपास सिद्ध करते हैं। डा० सम्पूर्णानन्द एवं डा० अविनाशचन्द्र का कहना है कि आर्यों का मूल-निवास-स्थान *सप्तसिन्धु*-(वर्तमान पञ्जाब प्रदेश) है। डा० राजबली-पाण्डेय का मत है कि आर्यों का मूल-निवास स्थान *मध्यदेश*

निवासी बहुत ही सभ्य एवं शिक्षित हैं और अतिथि सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यहाँ के लोग उदारचित्त एवं सरल स्वभाव के हैं और विद्वानों का विशेष सम्मान करते हैं। इनमें परस्पर में धार्मिक-विषयों पर वाद-विवाद भी हुआ करते हैं। वह यह भी लिखते हैं कि सारनाथ में १५०० धर्मात्मा-लोग रहते हैं तथा ३० बौद्ध-विहार हैं। साथ ही सुन्दर तीन स्तूप भी यहाँ हैं। *पहला* वहाँ पर है—जहाँ भगवान्-बुद्ध के मुख से धर्म-चक्र-प्रवर्तन-सूत्र का कथन हुआ था। यहीं पर उन्होंने *यश* नाम के साहूकार एवं उसके पिता आदि को भी धर्मोपदेश देकर बौद्ध बनाया था। *दूसरा* वहाँ पर है जहाँ भगवान्-बुद्ध के शिष्यों ने उनसे धर्म की शिक्षा ली थी और *तीसरा* वहाँ पर है जहाँ बुद्ध ने अपने दाँत एक व्याध को दिये थे।

एक मठ का उल्लेख करते हुये ह्वेनसाँग लिखता है कि इसमें १५०० भिक्षु रहते हैं। मठ के चारों ओर पक्की दीवार है, बीच में आठ कोठरियाँ हैं। दीवारों में अनेक आले बने हैं, जिनमे भगवान्-बुद्ध की स्वर्णमयी मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं। मठ की ऊँचाई २०० फूट है। ऊपर जाने के लिये पत्थर की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। अन्तिम खुदाई के समय यह मठ टूटी-फूटी अवस्था मे मिला है।

सन् १८१५ ई० में *कर्नेल-मेकनजी* ने सबसे पहले सारनाथ में खुदवाई की थी, इनके बाद सन् १८३५ में सरकारी पुरातत्व-विभाग के डाइरेक्टर-जनरल *सर-ऐलेक्जेण्डर-कनिंघम* साहब ने इस स्थान को खुदवाया। इस खुदाई में यहाँ से कई मूर्त्तियाँ निकलीं, जो कि बंगीय-एशियाटिक-सोसाइटी में रखी गईं और बाद में कलकत्ते के सग्रहालय में भेज दी गईं।

मि० शेरिंग लिखते हैं कि सन् १७९३ में राजा *चेतसिंह* के दीवान *जगतसिंह* ने एक स्तूप को तुड़वाकर उसका सामान जगतगञ्ज बनवाने के लिये उठवाया था। कुछ समय के बाद इसी स्तूप के नीचे का टीला भ्रम से जगतसिंह का स्तूप कहलाया। सन् १८५१ में *मेजर-किटो* और

से परे द्युलोक दैवी शक्तियों का निवास-स्थान था। द्यौषपिता, सविता, पृथ्वी, उषा आदि देवताओं की संख्या परिमित थी। ये वीर लोग जहाँ कहीं भी गए वहीं इन्होंने अपनी शक्ति की स्थापना कर अपनी वाणी का प्रभुत्त्व स्थापित किया।

(१४)—"सारनाथ"—

बनारस-शहर से लगभग ६ मील की दूरी पर एक लम्बे चौड़े मैदान के छोटे टीले पर सारनाथ-शिव का छोटा मन्दिर है। इसके सामने एक तालाब है यहां श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को मेला लगता है।

काशी में सारनाथ ऐताह्रिक-दृष्टि से एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यह पुरातत्त्व-वेत्ताओं के अनुसन्धान की जगह है, जहां प्राचीन काल के शिल्पियों की संगतरासी देखने योग्य है। संस्कृत में *सारनाथ* को *"सारङ्ग-नाथ, मृगयावन"* और पालि-भाषा में *"इसी-पतन-मिगदाय"* कहते हैं। बाहरसे आने वाले यात्रियो के लिये यह स्थान देखने योग्य है। प्राचीन-काल में बनारस-शहर के उत्तर सारनाथ नाम की एक सुन्दर बस्ती थी। वहाँ पर कितने ही मकान, मन्दिर एवं मठ थे जिनमें अधिकतर बौद्ध-मतावलम्बी-लोग या भिक्षु रहते थे। वहीं पर बौद्ध-मत के प्रवर्तक भगवान्-बुद्ध ने गया से लौटकर सर्व-प्रथम अपने पवित्र और श्रेष्ठ धर्म का प्रचार-कार्य आरम्भ किया एवं लोगों को उपदेश दिया। इस स्थान के प्राचीन इतिहास के विषय में हम चीनी-यात्री फहियान तथा ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से जानकारी प्राप्त होती है।

सारनाथ प्राचीन-काल में शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। फहियान ने सारनाथ को मृगया-भूमि लिखा है और इसे बुद्धदेव की तपोभूमि बताया है, किन्तु ह्वेनसांग काशी का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि सार-नाथ तीन मील तक फैला हुआ है। यहाँ की बस्ती बहुत घनी है। नगर-

लिये कुछ छिद्र बने हुए हैं, किन्तु इनमें मूर्त्तियाँ नहीं हैं, सम्भवतः प्रत्येक आले में बुद्ध-भगवान् की मूर्त्तियाँ रही होंगी। आलों का आकार देखने से यह अनुमान किया जाता है कि ये मूर्त्तियाँ मनुष्य के बराबर ऊँची रही होंगी। इन आलों के घेरे के नीचे ९ फूट चौड़ा स्तम्भ का घेरा है, जिसमे सुन्दर काम किया गया है। इस घेरे में तीन-तीन फूट की कई पट्टियाँ हैं। सबसे नीचे की पट्टी में फूलों की लतायें, जीव-जन्तुओं के चित्र एवं कुछ छोटे-छोटे मनुष्यों के चित्र भी अङ्कित हैं। यह *मनुष्य-मूर्त्तियाँ* पद्म-पुष्प पर बैठी हुई हैं तथा उनके हाथों में एक-एक कमल के फूल हैं। स्तूप की यह सुन्दर कारीगरी सिद्ध करती है कि प्राचीन-काल में शिल्प-विज्ञान किस पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। *धमेक-स्तूप* के अलावा सारनाथ में अशोक द्वारा निर्मित *धर्मराजिक-स्तूप* का निम्न-भाग अब भी विद्यमान है।

चौखण्डी—

धमेक-स्तूप—से कुछ दूर दक्षिण-पश्चिम के मैदान में *चौखण्डी* नाम का एक *टावर* जमीन से ७४ फूट ऊँचे ईंटों के वेडौल टीले पर स्थित है। यह टावर ईंटों से बना हुआ २३ फूट ऊँचा एवं अठपहल है। जिसका घेरा ५० फूट है। इसके चारों ओर दरवाजे हैं। इस टावर के एक-द्वार पर *अरबी-लेख* है, जिससे ज्ञात होता है कि *हुमायूँ* बादशाह यहाँ सिंहासन पर बैठे थे। इसे सन् १५८८ में *अकबर* ने बनवाया था।

संग्रहालय—

सारनाथ में कई बार खुदाइयाँ हुईं। इन खुदाइयों में जो चीजें उपलब्ध हुईं, वे सब एक सुन्दर पक्की इमारत-(संग्रहालय) बनवा कर उसमे रखी गई हैं। इस *संग्रहालय* में बड़ी चीजें दीवार के सहारे एवं छोटी चीजें शीशे की *अलमारियों* एवं शोकेसों में सुरक्षित रखी गई हैं। पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने अनुसन्धान से जो खोजें की हैं, वे सब मूर्त्तियाँ

मि० टामस ने इस स्तूप का आविष्कार किया। स्तूप के भीतर पत्थर की एक सन्दूक में सङ्गमरमर के पात्र में बहुत-सी ऐतिहासिक चीजें मिली जो कलकत्ते के संग्रहालय में भेज दी गई।

बाद में मेजर-किटो ने पुनः सारनाथ की खुदवाई की और वहाँ से बहुत-से पत्थर क्वीन्स-कालेज के लिये उठवा लाये। मेजर-किटो में एक विशेषता यह थी कि वहाँ से पत्थर उठवाते समय वे उसका अनु-सन्धान अवश्य कर लेते थे। सारनाथ के कुछ पत्थर और मूर्त्तियाँ लखनऊ के संग्रहालय में भी भेजे गये थे।

धमेक-स्तूप—

जनरल-*कनिंघम* ने इस स्तूप के विषय में विशेष रूप से छान-बीन कर अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि—इस स्तूप के बीच का *स्तूपदण्ड* भीतर को धँस गया था। इस स्तूप के अन्दर के भाग की जानकारी करने के हेतु अन्दर आने-जाने के लिये कई मार्ग खोदे गये। यह स्तूप ११० फूट ऊँचा है। इसके चारों ओर सुरक्षा के लिये मजबूत घेरा बँधा है। यह स्तूप आस-पास की भूमि से १८ फूट की ऊँचाई पर है। अतः कुल मिलाकर इस स्तूप की ऊँचाई १२८ फूट होती है। इसका नीचे का घेरा १६३ फूट है और फिर क्रमशः ऊपर की ओर छोटा होता गया है। जमीन से ४३ फूट ऊपर तक यह पत्थर का बना हुआ है। इससे ऊपर ईंट, पत्थर एवं चूने की जुड़ाई है। इस स्तूप के पत्थरों में एक *शिला* ऐसी पाई गई थी, जिसमें बौद्धधर्म का *प्रतिज्ञा-वाक्य* खुदा हुआ था।

इस स्तूप का जितना अंश पत्थर का है उस पर सुन्दर खुदाई की गई है। *कनिंघम* महोदय का कहना है कि इस स्तूप के नीचे आठ चौपहल विभाग हैं। प्रत्येक विभाग की चौड़ाई २१½ फूट है। हर एक विभाग में एक-एक अर्ध-गोलाकार आले हैं। प्रत्येक आले में मूर्त्तियों के बैठाने के

चिकना एवं चमकीला है। इस स्तम्भ में शीशे की तरह छाया दीख पड़ती है। इसी स्थान पर भगवान्-बुद्ध ने पूर्णज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सर्वप्रथम धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था।"

खुदाई में इस स्तम्भ का जितना अंश मिला है वह करीब २७ फूट का है। सम्राट्-अशोक ने बुद्धके जीवन से सम्बद्ध प्रसिद्ध स्थानों में स्तम्भों की स्थापना करवाकर उन पर अनुशासन-वाक्य खुदवाये थे। अतः कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि स्थानों की तरह सारनाथ में भी उन्होंने उक्त स्तम्भ की स्थापना करवाई थी। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग में एक ही पत्थर पर चार सिंह-मूर्त्तियाँ हैं, जो चारों-दिशाओं की ओर मुँह किये हैं। इन पर कीगई संगतरासी का काम बहुत सुन्दर है। ये सिंह-मूर्त्तियाँ और स्तम्भ की पालिश दर्शनीय हैं। मालूम पड़ता है कि यह स्तम्भ हाल का ही बना हो।

उपसंहार—

सम्राट्-अशोक के बाद महाराज कनिष्क ने भी इस स्थान की उन्नति की। इसमें सन्देह नहीं कि यह स्थान पुरातत्त्व-वेत्ताओं के लिए बड़े महत्त्व का है। देशी एवं विदेशी यात्री भी इस स्थान को देखने के लिये आया करते हैं। केवल ऐतिहासिक-दृष्टि से ही नहीं, अपितु धार्मिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह स्थान महत्त्वपूर्ण है। सौभाग्य का विषय है कि हमारे स्वतन्त्र-भारत की सरकार भी इस ओर विशेष रूप से जागरूक है। यहाँ का बौद्ध-पुस्तकालय भी देखने योग्य है। आशा है कि उत्तरोत्तर इस स्थान का महत्त्व बढ़ता ही रहेगा।

(१५)—"अशोक के स्तम्भ"—(लाट)—

मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक एक बहुत बड़ा सम्राट् ही नहीं, अपितु संसार के महापुरुषों में भी अग्रगण्य था। कलिङ्ग की विजय के

आदि सुन्दर छोटी-छोटी काली तख्तियों पर नाम एवं सन् लिखकर संग्रहालय में रखी गई हैं। इस संग्रहालय में रखी हुई वस्तुओं में—

सिंहस्तम्भ, महाराज-अशोक के शिलालेख वाला स्तम्भ, कुषाण-नृपति कनिष्क के समय की एक बोधिसत्त्व की मूर्त्ति, पत्थर का छत्र, अश्वघोष का शिलालेख, एक बड़े संघाराम की भित्ति, खड़ी और बैठी बुद्ध-मूर्त्तियाँ, पुराने मृन्मय-पात्र, हिन्दू-मूर्त्तियाँ, मिट्टी की मुहरें, विश्वपाल एवं कुमारदेव की लिपियाँ, स्तम्भ एवं मूर्त्तियों के टूटे हुए टुकड़े, चार सिंह-मूर्त्तियाँ, राजा-कनिष्क के समय की लाल-पत्थर की बनी हुई मूर्त्तियाँ, शिव की दश-भुजा वाली मूर्त्ति आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पद्मासन में बैठी हुई धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा वाली भगवान्-बुद्ध की मूर्त्ति विशेष रूप से दर्शनीय है। इसके स्वभाव से ही प्रफुल्ल-मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, प्रभा, कोमलता एवं गम्भीरता स्पष्ट लक्षित होती हैं। इस संग्रहालय में स्थित लोकेश्वर शिव का एक मस्तक भी उल्लेखनीय है, जिसके जटाजूट का बन्ध बिलकुल वैसाही है, जैसा चीन तथा जापान की भारत से प्रभावित मूर्त्तियों में पाया जाता है।

बुद्ध-मन्दिर—

सारनाथ में भगवान्-बुद्ध का एक विशाल मन्दिर भी है। इसकी दीवारों पर भगवान्-बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को उट्टङ्कित किया गया है। मन्दिर के अन्दर प्रवेश करने पर जिस शान्ति एवं सन्तोष का अनुभव होता है वह अनिर्वचनीय हैं। इसके पास में ही एक बोधिवृक्ष की शाखा भी है जो लङ्का से लाई गई है। यह अब काफी फैल चुकी है।

अशोकस्तम्भ—(सारनाथ वाला)

ह्वेनसाँग के यात्रा-विवरण में लिखा है कि "सारनाथ के *प्रधान-मठ* के द्वार पर एक *पत्थर-का-स्तम्भ* है जो ७० फूट ऊँचा है। इसका पत्थर

(६)-मुजफ्फरपुर के बखीरा-ग्राम में।

(७)-चम्पारन के लौरिया-नन्दनगढ़-ग्राम में।

(८)-चम्पारन के रढ़िया गाँव में।

(९-१०)-चम्पारन के रमपुरवा ग्राम में।

(११)--नैपाल-तराई के रुम्मिनदेई-(लुम्बिनी) ग्राम में, जहाँ भगवान्-बुद्ध का जन्म हुआ था।

(१२)--नैपाल-तराई के निगलीवा ग्राम में।

(१३)—साँची में (भूपाल राज्य में) जहाँ इनका प्रसिद्ध स्तूप भी है।

इन तेरह स्तम्भों के अलावा चार और स्तम्भों का भी पता चलता है—

(१)-संकीसा—(फर्रुखाबाद में) में एक स्तम्भ के ऊपर का परगहा (स्तम्भ-शीर्ष) है, जिस पर हाथी की कोरी हुई मूर्त्ति है। संकीसा को प्राचीन काल में संकाश्या कहते थे।

(२)—काशी में ऐसे एक स्तंभ का अग्र-भाग है, जिसे लाट-भैरों कहते हैं। यह १८०५ ई० तक समूचा था।

(३)—पटने की पुरानी-बस्ती में एक आहते में एक स्तम्भ पड़ा है।

(४)—बुद्ध-गया के बोधिवृक्ष की जो प्रतिकृतियाँ भरहुत की वेदिका पर अङ्कित हैं, उनमें एक अशोकीय-स्तम्भ भी दिखाया गया है।

इस प्रकार यद्यपि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कुल १७ स्तम्भ हुये, तथापि मालूम होता है कि ऐसे स्तम्भ अशोक के ३० से कम न रहे होंगे, क्योंकि एक स्तम्भ के टुकड़े जयपुर प्रत्न विभाग को भी मिले हैं।

ये सब स्तम्भ चुनार के लाल-पत्थर के हैं और केवल दो भागों में बने हैं-१—समूचा-लाट एवं २—परगहा-(स्तम्भशीर्ष)। समूचा-लाट या

बाद, उस युद्ध में हुए नरसंहार ने अशोक के विचारों में परिवर्तन किया और उसने तब से सर्वदा के लिये अपने *भेरी घोष* को *धर्म घोष* के रूप में परिवर्तित कर दिया और स्वयं भगवान-बुद्ध के दिखाये हुये मार्ग का पथिक हो गया। इसके अनन्तर अशोक ने पर्वतों, शिलापट्टों एवं लाटों (स्तम्भों) पर अपनी इस परिवर्तित मनोवृत्ति के प्रज्ञापन खुदवाये, जिन्हें धर्मलिपि कहा जाता है। इन धर्मलिपियों के प्रत्येक शब्द से उसकी महत्ता टपकती है।

ऐसे लोकोत्तर-चेता की मूर्त्ति एवं वास्तु की कृतियाँ भी लोकोत्तर ही हैं। आगे कहा जा चुका है कि अशोक ने स्तम्भों पर भी धर्मलिपियाँ खुदवाई थीं। इन स्तम्भो की कला भी उतनी ही महत्त्व-पूर्ण है, जितने कि उन पर के लेख। ये स्तम्भ अशोक-कालीन मूर्त्ति-कला के सार हैं। इतना ही नहीं संसार की उत्कृष्टतम कलाकृति मे इन स्तम्भों एवं इन पर उल्लिखित मूर्त्तियों का श्रेष्ठ स्थान है। इस समय इस प्रकार के तेरह स्तम्भ अधोलिखित स्थानों में उपलब्ध होते हैं। ये स्तम्भ मौर्यकालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति के परिज्ञान के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अब यहाँ संक्षेप में उन स्थानों का उल्लेख किया जाता है जहाँ ये स्तम्भ मिलते हैं—

(१)-*दिल्ली में*—दिल्ली-दरवाजे के बाहर *फीरोजशाह* के कोटले पर, जिसे फीरोजशाह बड़े प्रयास से अम्बाले के *तोपरा-गाँव* से उठवा लाये थे।

(२)—*दिल्ली के उत्तर-पश्चिम ढाँग पर*—इसे भी *फीरोजशाह* मेरठ से उठवा लाये थे।

(३)-*कौशाम्बी में*—जैन-मन्दिर के निकट।

(४)-*इलाहाबाद* के किले में।

(५)-*सारनाथ* के बौद्ध-भग्नावशेषों में।

कारीगरी की असली छटा चौकी और उसके सिरे के जानवरों में दीखती है। लौरियानन्दगढ़ की चौकी पर थोड़े उभारदार उड़ते हंस बने हुए हैं और इलाहाबाद, संकीसा तथा रामपुरवा के बैल वाले स्तम्भ पर कमलादि बने हैं। जो भी अलङ्करण चुने गये हैं वे ऐसी सफाई से और सजीवता के साथ बने हैं कि संसार भर में कहीं भी प्रस्तर-कला इनसे आगे नहीं बढ़ी है। परगहे के सिरे पर सिंह, हाथी, बैल या घोड़े की मूर्त्तियाँ बनी हैं। सारनाथ के परगहे की चौकी पर यही चारों जीव चार पहियों के बीच में उभार कर बनाये गए हैं, जिनमें बड़ी सफाई और परिमित नाप जोख है। इन परगहों में उक्त *सारनाथ* वाला सर्व-श्रेष्ठ है। यह स्तम्भ अशोक के शासन-काल के पिछले दिनों में ई० पू० २४२ से २३२ के बीच, धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान जताने के लिये खड़ा किया गया था। चौकी पर के चार पहिये धर्मचक्र के चिन्ह हैं।

इस स्तम्भ के सिरे पर ४ सजीव सिंह पीठ से पीठ मिलाये हुए चारो दिशाओं की ओर मुँह किये दृढ़ता से बैठे हुए हैं। उनकी आकृति भव्य एवं गौरवपूर्ण है जिसमें कल्पना और वास्तविकता का सम्मिश्रण है। उनके गठीले अङ्ग-प्रत्यङ्ग समविभक्त हैं और बड़ी सफाई से गढ़े गए हैं। उनमें कहीं भी भद्दापन नहीं है। ओप के कारण उन पर एक अद्भुत तेज जान पड़ता है। उनके फहराते हुये लहरदार केशर का एक-एक बाल बड़ी बारीकी और चारुता से दिखाया गया है। इनमें ताजगी भी इतनी है कि आज के बने जान पड़ते हैं। इन्हीं विशेषताओं से भारतीय-कला के अनुदार आलोचक *स्मिथ* आदि को भी यह कहना पड़ा कि संसार के किसी भी देश की प्राचीन-पशु-मूर्त्तियों में इस सुन्दर कृति से बढ़कर क्या, इसकी समता करने वाली भी कृति पाना कठिन है।

साँची के परगहे पर भी इसी तरह के चौमुखे सिंह बने हुए हैं। यद्यपि सारनाथ वाले स्तम्भ के सिंहों की तुलना में ये बोदे एवं भद्दे हैं, फिर भी परगहों में सारनाथ के स्तम्भ के परगहे के बाद इसी का नम्बर

स्तम्भ एक पत्थर का है और उसी भाँति उसपर का समूचा परगहा भी एक ही पत्थर का है। इन दोनों भागों पर ऐसी *ओप*-(पालिश) की गई है कि आँख फिसलती है। इतनाही नहीं ऐसा मालूम होता है कि मानों ये आजकल के ही बने हो। यह ओप की प्रक्रिया अशोक के पौत्र संप्रति के बाद से सर्वदा के लिये भारतीय-प्रस्तर-कला से बिदा हो गई। कुछ लोगों के मत से यह वज्रलेप नामक एक मसाले का प्रभाव है जो सिर्फ आप ही पैदा नहीं करता, अपितु पत्थर की रक्षा भी करता है और कुछ लोगों का कहना है कि पत्थर की घुटाई से यह चमक पैदा हुई है। यह *ओप* भारतीय *प्रस्तर-कला* की अप्रतिम विशेषता है।

इन स्तम्भों के लाट-(नीचे के भाग) गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारदार हैं। इनकी ऊँचाई करीब ३०-३०, ४०-४० फूट है और वजन में हजार-हजार बारह-बारह सौ मन के बैठते हैं। *लौरिया-नन्दगढ़* के लाट का चढ़ाव-उतार सबसे सुन्दर है। इस पौने-तैंतीस फूट ऊँचे लाट का व्यास नीचे *साढ़े-पैंतीस-इंच* है और ऊपर *साढ़े-बाईस*, अर्थात् ऊपर के छोर से नीचे का छोर ड्योढ़े से कुछ अधिक है। ये लाट-(स्तम्भ) खान से अपने ठिकाने तक कैसे पहुँचाये गये एवं किस प्रकार यथा-स्थान पर खड़े किये गये, ये चीजें उस समय के कारीगरो और इञ्जिनियरो की कुशलता का परिचय देती हैं। वे किसी भी देश के कारीगरों से किसी भी बात में कम न थे।

इन लाटों पर के परगहे (स्तम्भ-शीर्ष), जो लाटों की ही भाँति एक पत्थर के हैं, अशोक और उसके पूर्व की मूर्त्तिकला के बड़े सुन्दर नमूने हैं। प्रत्येक परगहे के पाँच अंश हैं—(१)-एकहरी या दोहरी पतली मेखला जो लाट के ठीक ऊपर आती है, (२)-उसके ऊपर लौटी हुई कमल-पंखुड़ियो की आलङ्कारिक-आकृति वाली बैठकी, जिसे अनेक विद्वान् घण्टाकृति मानते हैं, (३)-उस पर का कण्ठा, (४) सबसे ऊपर गोल या चौखूंटी चौकी तथा (५)-उसके भी सिरे पर एक या एक से अधिक आसीन पशु-मूर्त्तियाँ।

(१७)–"अजन्ता"—

गुप्तकाल की कला केवल धार्मिक-भावों की अभिव्यञ्जना तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि *अजन्ता* की *चित्रकला* से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि भारतीय-कलाकारों ने मानव-जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा। यद्यपि गुप्त-कालीन *चित्रकला* के *उदाहरण-हैदराबाद*, अजन्ता की गुफाओं, एलोरा की गुफाओं, भाजा एवं काले की गुफाओं, तथा ग्वालियर राज्य में बाघ की गुफाओं आदि में दृष्टि-गोचर होते हैं, तथापि *चित्रकला* की दृष्टि से इन सबसे श्रेष्ठ *अजन्ता* की गुफायें हैं, जो हैदरावाद में सुरक्षित हैं तथा अपनी सुन्दरता एवं कला के वैशिष्ट्य के कारण भारतीय-चित्रकला के क्षेत्र मे सर्व-प्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट स्थान रखती हैं। *चित्रकला* के दर्शन सर्वप्रथम यहीं होते हैं।

यद्यपि इनका विषय धार्मिक है तथा अधिकांश चित्रों में विश्व-करुणा के भाव स्पष्ट-रूप से लक्षित होते हैं, तथापि सामाजिक-जीवन एवं चराचर-जगत् के सभी पहलुओं की चर्चा भी यहाँ की गई है। अजन्ता के चित्रों में प्रेम, करुणा, क्रोध, मैत्री, हर्ष उत्साह, लज्जा एवं चिन्ता आदि सभी प्रकार के भाव, पद्मपाणि-अवलोकितेश्वर, प्रशान्त-तपस्वी एवं देवतुल्य राज-परिवार से लेकर क्रूर-व्याध, निर्दय-बधिक, साधुवेश-धारी-धूर्त, वार-वनिता आदि सभी प्रकार के मानवीय-भेद, समाधि-मग्न भगवान्-बुद्ध से प्रणय-क्रीड़ा में रत दम्पति आदि के मानव-व्यापार अङ्कित हैं। अजन्ता के चित्रों की यह बहुविधता आश्चर्य-जनक है।

अजन्ता में तीन प्रकार के चित्र मिलते हैं–(१)–*अलङ्करणात्मक*, (२–*ध्वनिचित्र* तथा (३)–*घटनात्मकचित्र*। अजन्ता की चित्र-कला *भित्ति-चित्र-कला* है। एक ही पत्थर को काटकर उसके अन्दर कमरे एवं मूर्त्तियाँ निर्मित हैं। यहाँ की चित्रकला मे स्वाभाविकता, सरलता, सजीवता एवं साम्य है। इन चित्रों में अनेक प्रकार के अङ्ग-विन्यास, मुख-

है। भारत के प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अशोक के उक्त स्तम्भों को एव उनके परगहों को देखकर अपने देश की मूर्त्तिकला एवं स्थापत्य-कला की उत्कृष्टता का साक्षात्कार करे।

(१६)—"गुप्तकालीन-लाट"—(स्तम्भ)—

यद्यपि मौर्य काल के बाद विशालकाय-लाटों की परम्परा समाप्त हो चुकी थी, फिर भी गुप्त-काल में भी इस प्रकार की लाटोंका गुप्त-सम्राटों ने निर्माण करवाया था। *स्कन्दगुप्त* ने अपनी विजय के बाद इस प्रकार का एक विशालकाय-लाट खड़ा करवाया था, जो काशी के पास सैदपुर-कस्बे के निकट *भीतरी-गाँव* में है। रोमन-लिपि की कृपा से इस गाँव का नाम आज-कल स्कूल-कालेजों में *"भिटारी"* कहा जाता है। *यशोधर्मा* ने भी हूणों को परास्त करने के बाद इस प्रकार के दो स्तम्भ बनवाये थे, जो इस समय *मन्दसोर*-(ग्वालियर-राज्य) में धराशायी हैं।

किन्तु गुप्त-कालीन लाटों-(स्तम्भों) में *चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य* का ढलवाया हुआ *लोहे-का-लाट* सबसे आश्चर्यजनक है, जिसे आज *"दिल्ली-की-किल्ली"* कहते हैं। यह इस समय दिल्ली से कुछ मील की दूरी पर *कुतुबमीनार* के सन्निकट *मेहरौली* ग्राम में खड़ा है। इसके ऊपर उसी लोहे का परगहा (स्तम्भशीर्ष) है। अशोक-स्तम्भों के परगहों की अपेक्षा इसमें कई साज अधिक हैं। सबसे ऊपर चौकीपर सम्भवतः पहले गरुड़ की मूर्त्ति थी। सम्पूर्ण-लाट की ऊँचाई २३'८" है। इस लाट की ढलाई बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सैकड़ों वर्षों की धूप तथा वर्षा को सहन करने पर भी इसका लोहा अभी तक बिना मुरचे का है। इस प्रकार के लोहे का इतना विशाल एवं इतना कला-पूर्ण ढलाव अब तक नहीं हुआ। करीब सोलह-सत्रह सौ वर्षों से यह दिन-रात खुले मैदान में खड़ा है, फिर भी इस पर कहीं भी जङ्ग की परछाईं तक नहीं पड़ी है।

राज-सभा में इरानी दूत का आना, खम्भे से पैर सटाकर खड़ी हुई नर्तकी, बोधिसत्व की विशाल-मूर्त्ति आदि कितने ही दृश्य इतने मनोरम हैं कि जिन पर केवल भारत के ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के चित्रकला-मर्मज्ञ अपना गौरव प्रकट करते हैं। *चित्रकला* की दृष्टि से अजन्ता की कला वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट है।

अजन्ता की सभी गुफायें एक ही समय एवं एक ही राज-वंश द्वारा नहीं बनवाई गई हैं। इनमें से कुछ तो शुङ्गकालीन हैं—जैसे नं० ९ एवं १० की गुफायें और कुछ गुप्तकालीन। इनमें गुप्तकालीन गुफाओं के चित्र और भी उत्कृष्ट हैं। इन गुफाओं के अन्दर बने हुए रङ्गीन चित्र भारतीय-चित्रकला की श्रेष्ठता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ के कुछ अच्छे चित्रों का एक सुन्दर संस्करण हाल ही में चीन की सरकार ने प्रकाशित करवाया है।

(१८)–"एलोरा"–(वेरूक)—

निजाम-राज्य में औरङ्गाबाद से सोलह मील की दूरी पर एक सम्पूर्ण पहाड़ी को काटकर मन्दिर बनवाये गए हैं। इस पहाड़ी में लगभग २५-३० हिन्दू,जैन एवं बौद्ध मन्दिर हैं। इनमें राष्ट्रकूट-*राजा-कृष्ण* द्वारा बनवाया गया *कैलाश-मन्दिर* सबसे सुन्दर एवं विशाल है। १९० फूट ऊँचे, १४२ फूट लम्बे, ६२ फूट चौड़े—द्वारों, झरोखों, सीढ़ियों एवं सुन्दर स्तम्भ-पंक्तियों से युक्त यह विशाल मन्दिर एक ही पत्थर का बना हुआ है। इसमें कहीं भी जोड़, चूना, मसाला या कील-कांटा नहीं है।

इस भव्य मन्दिर का निर्माण कर शिल्पियों ने जो कृति प्रस्तुत की है, वह मनुष्य के अध्यवसाय, धैर्य एवं कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। बिना किसी लगाव या जोड़ के दो-तीन मञ्जिल वाली इमारत का

मुद्रा, भाव-भङ्गियाँ एवं अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुन्दरता, विविध प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण, रङ्गरूप आदि सुन्दर ढंग से चित्रित हैं। इन चित्रों की प्रशंसा करते हुए "*बर्नियन*" ने लिखा है कि "*अजन्ता* की चित्रकला एक बची हुई महान् विभूति है।" *ओरलस्टाइन* का कहना है कि "*अजन्ता* के चित्रों की महानता सम्भवतः अतिक्रमण नहीं की जा सकती।"

सजावट के लिये अजन्ता में झालर, बदन पर पत्रावली, पुष्पों, पेड़ों एवं पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। इनके अनन्त भेद हैं और एक डिजाइन फिर से नहीं दोहराई गई है। खाली स्थानों को भरने के लिये अप्सराओं, यक्षों एवं गन्धर्वों की सुन्दर मूर्त्तियाँ बनी हैं। *ध्वनिचित्रों* में पद्मपाणि-अवलोकितेश्वर का चित्र न केवल भारतीय, अपितु एशियायी-चित्रकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। *घटनात्मक* चित्रों में जातकों के दृश्य देखने योग्य हैं। इनकी भावव्यञ्जना में अजन्ता के चित्रकारों ने अद्भुत कला-कौशल प्रदर्शित किया है।

अजन्ता की १६ वीं गुफा की म्रियमाण-राजकन्या के दृश्य की *मिफिथ* आदि पाश्चात्य-विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। विकलता एवं करुणा के भावों की दृष्टि से कला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट कृति नहीं है। *फ्लोरेंस* का *चित्रकार* इसका चित्रण अधिक अच्छा कर सकता था, *वेनिस* का *कलाकार* इसमें अधिक अच्छा रङ्ग ला-सकता था, किन्तु इनमें से कोई भी इस चित्र में इससे अधिक भाव नहीं भर सकता था।

यहाँ के बुद्ध-महाभिनिष्क्रिमण, मारविजय, यशोधरा एवं राहुल के भिक्षारूप में देने के दृश्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं। सर्वनाश का सन्देश देनेवाले वृद्ध के चित्र में चित्रकार ने कुछ रेखाओं द्वारा उसके हार्दिक-भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसके आर्त-नेत्र, उदास-चेहरा एव हाथ की मुद्रा ही भयानक दुर्घटना के सूचक हैं।

पहले कला के इस अङ्ग की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया था। विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करके कला के इस अङ्ग को शास्त्रीय-रूप देने का श्रेय डा० *आनन्दकुमार-स्वामी* को है। इनके बाद *कर्नल-गस्टन* एवं डा० *अग्रवाल* ने भी इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। तक्षशिला, मथुरा, पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, मसौन, भिठा, राजघाट-काशी, भीतरगाँव आदि में इस कला की विभिन्न कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। प्रागैतिहासिक-काल से लेकर मध्यकाल तक सभी समयों की मृन्मय-मूर्त्तियाँ उत्खननों से प्राप्त हुई हैं।

(२०)—"ब्राह्मी-लिपि"—

भारत-वर्ष में प्राचीन-काल से लिखने की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं—(१)-*खरोष्ठी-लिपि* तथा (२)-*ब्राह्मी-लिपि*। इनमें खरोष्टी-लिपि कुछ ही काल तक उत्तर-पश्चिमी-भारत के आस-पास प्रचलित रही। इसे उर्दू की तरह दाहिने से बायें लिखा जाता था। किन्तु ब्राह्मी-लिपि शेष भारत के सभी भागों में प्रचलित रही। वर्तमान देवनागरी-लिपि ब्राह्मी-लिपि का ही परिष्कृत रूप है। भारत के अधिकतर प्राचीन शिला-लेखों में तथा ताम्रपत्रों पर ब्राह्मी-लिपि का ही प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न किये जाने के कारण इसे "ब्राह्मी" यह संज्ञा प्राप्त हुई।

बहुत दिनों तक ब्राह्मी-लिपि शिरोरेखा से विरहित थी। काल-क्रमानुसार इस लिपि में परिवर्तन होते गये और उसी के अनुसार इसके विशेष नाम भी दिए गये। जैसे मौर्य-कालीन-ब्राह्मी, कुषाण-कालीन-ब्राह्मी, गुप्त-कालीन-ब्राह्मी आदि।

(२१)—"मानसार-वास्तु-शास्त्र"—

वास्तुशास्त्र पर प्राचीन-काल के बहुत ही कम ग्रन्थ प्राप्त हैं। "मय-मत" "कश्यपशिल्प" "समराङ्गणसूत्रधार" आदि छोटे-मोटे ग्रन्थों को

निर्माण करना बहुत ही आश्चर्यजनक कार्य है। उसे देखकर दर्शक-गण आश्चर्य-चकित होकर उसके निर्माता अज्ञात कारीगरों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

कैलाश-मन्दिर को काटते हुए कारीगरों ने इस पर ४२ पौराणिक-दृश्य भी अङ्कित किए हैं। इनमें नृसिंहावतार का दृश्य, शिव-पार्वती के विवाह का दृश्य, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्त्तियाँ, रावण द्वारा कैलाश-पर्वतोत्तोलन का दृश्य आदि विशाल, सुन्दर, भावपूर्ण एवं ओजस्वी कृतियाँ हैं। इनमें भी कैलाश-उत्तोलन वाला दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। *रावण* कैलाश-पर्वत को उठा रहा है, उधर भय से त्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदण्ड का आश्रय ले रही है, उसकी सखियाँ डर के मारे इधर-उधर भाग रही हैं, किन्तु भगवान्-चन्द्रमौलि अचल हैं और अपने चरणों से कैलाश-पर्वत को दबाकर रावण का परिश्रम विफल करने का प्रयास कर रहे हैं।

(१९)–"तेराकोटाज"– (Terracottas)

प्राचीन-काल की मृन्मय-वस्तुओं के लिये *तेराकोटाज* शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार प्राग्-ऐतिहासिक-काल से ही हमें पत्थर तथा अन्य धातुओं की कला-कृतियाँ अविच्छिन्न रूप से मिलती हैं, उसी प्रकार मृन्मय-वस्तुयें भी हमें प्राचीन काल से ही मिलती हैं। इनमें प्रथम प्रकार की-(पत्थर तथा अन्य धातुओं की) कला-कृतियाँ राज्याश्रय के कारण उद्भूत एवं पल्लवित हुईं, किन्तु *तेराकोटाज* तो दरिद्र-नारायण की देन है। इनका निर्माता राज-तक्षक न होकर गाँव का गरीब कुम्हार था। इन मृन्मय-मूर्त्तियों को कई भागों में बाँटा जा सकता है-(१)—छोटे-छोटे पशुपक्षियों की मूर्त्तियाँ, (२)—देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ, (३)—गाड़ी-रथ-खिलौने आदि तथा (४)—छोटे छोटे बर्तन-हाँड़े इत्यादि।

थे। इस युग में कई जनपदों का वर्णन मिलता है। इनमें सोलह (षोडश-महाजनपद) प्रधान थे। इन्हीं के अन्तर्गत कुरु एवं पाञ्चाल की भी गणना है।

कुरु—

यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के आस-पास के प्रदेश में कुरु-जनपद था। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ-(दिल्ली के निकट) थी। इस समय इसका प्राचीन राजनैतिक-गौरव अस्त हो चुका था, परन्तु यह अपने आचार और शील के लिये प्रसिद्ध था।

पाञ्चाल—

गङ्गा तथा यमुना के दोआवे के पूर्वी-भाग में यह जनपद स्थित था। इसके दो भाग थे—(१)—उत्तर-पाञ्चाल, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी और (२)—दक्षिण-पाञ्चाल, जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी।

दोनों का एकीकरण—

टिड्डियों के आक्रमण से कुरुराज्य ऊजड़ हो गया और गंगा की बाढ़ हस्तिनापुर को बहा ले गई। इससे कौरव लोग पाञ्चाल तथा वत्स में आ बसे। इस प्रकार कुरु-पाञ्चाल दोनों एक में मिल गये। यह संयुक्त कुरु-पाञ्चाल-राज्य इस काल का प्रसिद्ध राज्य हो गया और इस काल की विद्या एवं सभ्यता का केन्द्र बन गया।

शम्।

छोड़ा जाय तो *मानसार* की समता रखने वाला दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इसका सबसे सुन्दर और परिष्कृत संस्करण *प्रयाग-विश्वविद्यालय के "डा० प्रसन्न-कुमार-आचार्य"* ने प्रस्तुत किया है। उनका यह विशालकाय-ग्रन्थ कई खण्डों में विभक्त है। "मानसार" के प्रकाश में आजाने के कारण कितने ही पारिभाषिक-शब्द, जो साहित्य में व्यवहृत होते रहे पर आधुनिक विद्वानों द्वारा ठीक-ठीक न समझे जा सके थे, आज स्पष्ट हो चुके हैं। वास्तुशास्त्र के विषय में यह ग्रन्थ अपनी सानी नहीं रखता।

(२२)–"अहिच्छत्रा"—

प्राचीन पाञ्चालदेश दो भागों में विभक्त था, *उत्तर-पाञ्चाल* और *दक्षिण-पाञ्चाल*। इसमें एक की राजधानी *अहिच्छत्रा* थी और दूसरे की *काम्पिल्य*। इस प्रकार *अहिच्छत्रा* का उल्लेख प्राचीन-काल से ही मिलता है, जिसकी पुष्टि वहाँ के *उत्खननों* से होती है। *शुंगकाल* से *गुप्तकाल* तक के खिलौने-(मिट्टी के) यहाँ मिलते हैं, जो विविध प्रकार के हैं। इनमें *शिव* और *पार्वती* के *मृन्मय-मस्तक* गुप्तकाल की अनोखी कृतियों में गिने जाते हैं। यहीं से एक *कुषाण-कालीन* यक्ष की प्रतिमा भी मिली है। और भविष्य में भी अनेक वस्तुएँ प्राप्त होने की आशा है। यह स्थान वर्तमान बरेली जिले में अवस्थित है।

(२३)–"कुरु-पाञ्चाल"—

पाण्डव-साम्राज्य के टूट जाने पर देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। उत्तर-वैदिक-काल के बाद राज्य की कल्पना जातीय के बदले भौगोलिक हो गई थी। अब लोग *जनपद* के नाम से पुकारे जाते

"शुद्धि-पत्र"

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
४	१२	ह्वेनस्वांग	ह्वेनस्वांग।
५	११	हाने	होने।
५	१२	सबले	सबसे।
५	१६	हमारा	हमारी।
८	१६	Mattar	Matter।
९	४	आखिल	अखिल।
९	१८	आश्विन्	अश्विन्।
९	२१	आपस	अपस।
९	२४	Abstrect	Abstract
९	२५	उपरोक्त	उपर्युक्त। ※
१२	१६	भीतरा	भीतरी।
१२	१८	वंशमराल	वंशमण्डल।
१३	२७	का	को।
१५	१	आयुर्वेदाय	आयुर्वेदीय।
१५	१०	रक्तश्राव	रक्तस्राव।
१५	२७	अश्वघोस	अश्वघोष।
१५	२७	भित्तु	भिक्षु।
१६	३	स्वण	स्वर्ण।
१६	१०	श्रोत	स्रोत।
१६	२१	पातञ्जलि	पतञ्जलि।*
१८	१९	सस्था	संस्था।
२०	१८	विकीस	विकास।
२१	३	थौर	और।

"प्रमुख-सहायक-ग्रन्थ-सूची"—

१—प्राचीन-भारत का इतिहास—श्री रमाशङ्कर त्रिपाठी।

२—भारतीय-इतिहास की भूमिका—श्री राजबली पाण्डेय।

३—भारत का सांस्कृतिक-इतिहास—श्री हरिदत्त वेदालङ्कार।

४—संस्कृत-साहित्य का इतिहास—श्री द्वारिका प्रसाद।

५—वैदिक-साहित्य एवं संस्कृति—श्री बलदेव उपाध्याय।

६—कला और संस्कृति—श्री वासुदेव-शरण अग्रवाल।

७—वैदिक-साहित्य—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी।

८—भारतीय-संस्कृति—श्री शिवदत्त ज्ञानी।

९—भारत की प्राचीन-संस्कृति—श्री रामजी उपाध्याय।

१०-११—भारतीय-चित्रकला एवं मूर्त्तिकला—श्री रायकृष्ण-दास।

१२—History of Sanskrit Literature—श्री मैग्डनल।

१३—Introduction of the Vaidic Reader—„ „ ।

१४—Indian Literature.—श्री विण्टरनिज।

१५—Ancient-India—श्री मजूमदार।

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी इस पुस्तक के निर्माण में सहायता ली गई है।

नारायणप्रसाद बलूनी साहित्याचार्य, एम० ए०।

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
६८	१६	दशनों	दर्शनों।
६६	५	हाती	होती।
६६	१२	एव	एवं।
६६	१४	सवज्ञ	सर्वज्ञ।
६६	१५	हा	ही।
६६	१७	न	ने।
६६	१८	समथन	समर्थन।
६६	२०	दशनों	दर्शनों।
७०	१०	वदों	वेदों।
७१	४	सवज्ञ	सर्वज्ञ।
७१	२२	समथन	समर्थन।
७६	६	धामिक	धार्मिक।
७६	२१	इस	इन।
७६	१४	षड्वींश	षड्विंश।
८०	१	बर्णाग	वर्णन।
८६	३	का	का (१)–।
६०	१६	सम्बाद	संवाद।
६५	१	याज्ञावल्क्य	याज्ञवल्क्य।
६६	१३	प्रातिशख्य	प्रातिशाख्य।
१००	१२	(५)	(६)—।
१०१	१	यजुवद	यजुर्वेद।
१०३	२४	लियेगये	लिखेगये।
१११	१८		है।
११५	२	वाह्यप्रमाण	बाह्यप्रमाण।*
११६	२२	ह	है।
११७	३	म	में।

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
२१	२४	सहस्रवत्मी	सहस्रवर्त्मा।
२१	२५	अथर्वाणो	अथर्वणो।
२३	२४	उद्दश्य	उद्देश्य।
२५	२२	संहितायें	संहिताओं।०
२६	२३	तुलु	तुले।
२७	११	होने लगा है	हो चुका था।
२७	१२	समादर करने लगे हैं	समादर करने लगे थे।
३५	४	अन्त्येष्ठी	अन्त्येष्टी।
३७	११	सयोग	संयोग।
३७	२१	अथ	अर्थ।
३८	६	महाती	महती।
३८	१४	पूववर्तियों	पूर्ववर्तियों।
४१	१८	तैतरीय	तैत्तरीय।*
४१	२२	पातञ्जलि	पतञ्जलि।
४४	१८-१९	छान्दोयोग्य	छान्दोग्य।*
४४	२३	जैमिनाय	जैमिनीय।
४५	२३	उनम	उनमे।
४७	२१	निमित	निर्मित।
४९	१९	मैत्रायिणी	मैत्रायणी।
५५	१८	पढ़ियों	पीढ़ियों।
५६	१२	ओकारन्त	ओकारान्त।
५९	१६	हाती	होती।
६१	३	प्रमियों	प्रेमियों।
६३	२४	प्रतीत	प्रतीक।
६८	१	श्रोत	स्रोत।*

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
२४३	२५	पूण	पूर्ण।
२५०	३	खरोष्ठी	खरोष्ठी।
२५१	१७	धम-लेखों	धर्म-लेखों।
२५२	१०	निमित	निर्मित।
२५५	१०	सोचनीय	शोचनीय।
२५७	१२	रूपलावण्यता	रूपलावण्य।
२५८	६	एकक्षत्र	एकच्छत्र।
२५८	२०	उपरोक्त	उपर्युक्त। *
२६१	१६	शिक्कों	सिक्कों।
२६३	१३	छन्दशास्त्र	छन्दःशास्त्र।
२६५	२३	स्थाई	स्थायी। *
२६६	११	भारताय	भारतीय।
२६८	२०	माङ्गोलिया	मंगोलिया।
२७०	५	ब्रह्मणों	ब्राह्मणों।
२७१	२१	भारत न	भारत ने।
२७३	८	गावों	गांवों।
२७६	१५	सुश्रुषा	सुश्रूषा।
२७८	४	शताब्दी	शताब्दी।
२७८	२५	वाङ्गमय	वाङ्मय।
२८०	३	प्रतिष्ठत	प्रतिष्ठित।
२८३	१३	अस्मारोहण	अश्मारोहण।
२८६	११	बौन	बौने।
२६०	१४	इनका	इसका।
२६३	१३	कुषण	कुषाण।
२६६	१६	बाँटत	बाँटते।

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
११७	२४	अन्तगत	अन्तर्गत ।
१३०	४	द्युलोकबाद	द्युलोकवाद ।*
१३५	१९	भाणं	भाणः ।
१३६	४	करता है	करते हैं ।
१३७	२५	वात्सायन	वात्स्यायन ।
१४६	२२	काव्यलङ्कार	काव्यालङ्कार ।
१५५	१६	उपाचार	उपचार ।
१६५	१	अविर्भाव	आविर्भाव ।
१६७	१८	साढ्वल	सोढ्वल ।
१७१	८	शुकसप्तशति	शुकसप्तति ।
१७१	१८	कथओं	कथाओं ।
१८२	१५	अन्तेष्टी	अन्त्येष्टी ।
१८९	१५	राजनैनिक-स्थिति	राजनैतिक-स्थिति ।
१९०	१९	सामाज	समाज ।
१९०	२१	स्थाई	स्थायी ।*
१९५	२३	ग्रम	ग्राम ।
१९६	१८	पृथक	पृथक् ।
२०२	२४	का स्वाकार	को स्वीकार ।
२०८	२४	प्राथर्मिक	प्राथमिक ।
२१२	२४	अनार्यों को	अनार्यों की ।
२१९	१८	तीथङ्कर	तीर्थङ्कर ।
२२०	२१	पर्ण	पूर्ण ।
२३१	१६	पतन कारण	पतन का कारण ।
२३६	७	सामाज	समाज ।
२४३	६	बाराहमिहिर	वराहमिहिर ।*

मुद्रक—

सूरज प्रसाद गुप्त,

ज्वाला प्रिंटिंग वर्क्स, त्रिलोचनघाट, वाराणसी।

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
३०३	९	ऐताहिक	ऐतिहासिक।
३०३	२०	हम	हमें।
३०९	११	मूत्तिकला	मूर्त्तिकला।
३११	४	अशाक	अशोक।
३११	८	कुल	कुछ।
३११	२१	मूत्तिकला	मूर्त्तिकला।
३११	२२	दाहरी	दोहरी।
३११	२३	आता है	आती है।
३११	२४	बठका	बैठकी।
३११	२४	अनक	अनेक।
३११	२५	सबक	सबके।
३१२	६	बढ़ा है	बढ़ी है।
३१२	६	घाड़े	घोड़े।
३१४	६	काल	काले।

नोट— स्मरण रहे कि मुद्रण की असावधानी से कई जगह—उपरोक्त, तैतरीय, छान्दोयोग्य, बाद—(जैसे-द्युलोकबाद आदि) स्थाई तथा वाराहमिहिर आदि अशुद्ध शब्द छप गए हैं। अतः उनके स्थानों पर सर्वत्र क्रमशः—उपर्युक्त, तैत्तरीय, छान्दोग्य, वाद, स्थायी तथा वराहमिहिर आदि तारकाङ्कित शब्द समझने चाहिए। द्वितीय संस्करण में सभी अशुद्धियों को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया जायगा।